भूमिका

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम–03 'उपन्यास एवं कहानी' से संबंधित पाठय सामग्री के अध्ययन में छात्रों की आलोचनात्मक दृष्टि के विकास में सहायक हो इसलिए यह पुस्तक तैयार की गई है। इस पुस्तक में, पाठ्यक्रम में शामिल कहानियों और उपन्यासों पर विभिन्न आलोचकों द्वारा लिखित लेख संग्रहित है। अब तक आपने 'हिंदी विविधा' पुस्तक में संग्रहित पंद्रह कहानियाँ और छः खंडों में प्रस्तुत सत्ताईस इकाइयों का अध्ययन कर लिया होगा। 'उपन्यास एवं कहानी' संबंधी पाठ्यक्रम में हम आप को काफी सामग्री उपलब्ध करा चुके हैं। अध्ययन सामग्री के प्रत्येक खंड में कहानी एवं उपन्यासों से संबंधित कुछ पुस्तकों के नाम दिए गए हैं। जिनका आप अतिरिक्त अध्ययन सामग्री के रूप में उपयोग कर सकते हैं। विभिन्न पुस्तकों और पत्रपत्रिकाओं में पाठ्यक्रम संबंधित छपे लेख आपको संभवतः उपलब्ध न हो सकें। इसे ध्यान में रखते हुए हमने यह संग्रह तैयार किया है। इसमें शामिल सभी लेख पूर्व प्रकाशित हैं और विभिन्न प्रस्तकों और पत्रिकाओं से लिए गए हैं। इस पुस्तक में दिए गए लेखों के अतिरिक्त और अधिक सामग्री हम आपको नहीं दे पाए। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री आपको उपन्यास और कहानी को समझने में सहायक होगी ऐसी आशा है।

प्रस्तुत पुस्तक का पहला लेख "प्रेमचंद" मधुरेश द्वारा लिखित 'अस्मिता की तलाश' पुस्तक से लिया गया है। प्रेमचंद के बारे में मधुरेश ने लिखा है कि, हिंदी कहानी विकास के इतिहास में प्रेमचन्द का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना है। इनकी कहानियों में पहली बार समाज का पूरा परिवेश अपनी कुरूपता, असमानता, अस्पृश्यता के भीषण स्वरूप, शोषण की विभिषिका, कमज़ोर वर्ग और स्त्रियों का दमन आदि को लेकर प्रकट हुआ है। उन्होंने सामान्य आदमी का जीवन अत्यन्त निकट से देखा था। अछूतों की कठिनाइयों और कथित उच्च जातियों द्वारा उन पर किए जाने वाले अत्याचारों को तथा हिंदुओं के धार्मिक ढोंग और पुरोहितवादी आतंक को करीब से देखा था। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों पर भी उन्होंने तीव्र व्यंग्य किया।

प्रेमचन्द की कहानियों के बारे में राजेन्द्र यादव ने लिखा है, 'वेश्या, अछूत, किसान, मजदूर, जमींदार, सरकारी अफसर अध्यापक, नेता, क्लर्क समाज के प्रायः हर वर्ग पर प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखी हैं और राष्ट्रीय चेतना के अन्तर्गत विशेष उत्साह

और आदर्शवादी आवेश से लिखी है। मगर मूलतः उनकी समस्या तत्कालीन दृष्टि से वांछनीय–अवांछनीय, शुभ–अशुभ के चुनाव की है। परिणति वांछनीय और शुभ की ओर उन्मुख होने की है। वह समस्या और उसका हल साथ ही देते हैं'। मधुरेश ने प्रेमचंद किस विचारधारा और व्यक्तियों से प्रभावित थे इस पर भी प्रकाश डाला है। राष्ट्रीय चेतना में प्रेमचन्द गांधी से प्रभावित थे तो आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए साम्यवाद का सहारा लेते हैं। प्रेचन्द की कहानियों में आँदर्शवाद के बदलते रूप दिखाई देते हैं जो समसामयिक युगबोध को स्पष्ट करते हैं। प्रारम्भिक कहानियों में प्रेचन्द पूर्णतः आदर्शवादी दिखाई देते हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'उपदेश','परीक्षा', 'अमावस्या की रात', 'पछतावा' आदि कहानियों में कर्तव्य, त्याग, प्रेम, न्याय, मित्रता, देश सेवा आदि की प्रतिष्ठा हुई है। बाद की कहानियों में आदर्शवाद यथार्थ में बदलता जाता है। 'पूस की रात', 'बूढ़ी काकी', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'वज्रपात' कहानियों में जीवन का नग्नतम यथार्थ दिखाई देता है।

लेखक ने आगे यह भी लिखा है कि, प्रेमचन्द की कहानियों पर तथा उनके युग के कहानी साहित्य पर तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। हिंदी कहानी के विकास में प्रेमचन्द का महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रेमचंद की कुछ कहानियों के बारे में मधुरेश की राय कुछ इस प्रकार है। प्रेमचंद 'देवी' शीर्षक कहानी में परंपरागत रूढ़िवादी हिंदू सोच का समर्थन करते है तो 'अंधेरे' कहानी में हिंदू धर्म परंपराओं का और अंधविश्वासों का विरोध करते दिखते है। 'रानी सारंधा', 'राजा हरदौल', 'मर्यादा की बेदी', 'पाप का अग्निकुंड' और आल्हा जैसी ऐतिहासिक कहानियों के द्वारा तत्कालीन समय के वीर नायक नायिकाओं के शौर्य, साहस और त्याग के वर्णन द्वारा जानमानस में स्वतंत्रता आंदोलन में सम्मिलित होने की चेतना का विकास करते हैं तो दूसरी ओर सामंती मूल्यों के झूठ ढकोसले, आपसी कलह और फूट जैसी स्वार्थि प्रवृत्तियों के कारण देश को गुलाम बनाने की साजिशों का परदाफाश भी करते हैं।

प्रस्तुत लेख में जहां आलोचक एक ओर कुछ कहानियों का उल्लेख करके प्रेमचंद के प्रगतिशील चिंतन पर प्रश्नचिह्न लग जाने का आरोप लगाते हैं, तो दूसरी ओर स्त्रियों और दलितों की सामाजिक आर्थिक दुर्दशा पर लिखी कहानियों में प्रेमचंद सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों पर और हिंदू धर्म की परंपरागत मान्यताओं पर कठोर

आघात करके, एक प्रगतिशील चिंतक की भूमिका का निर्वाह करते हुए दिखाते हैं। प्रेमचंद की परवर्ती दौर की कहानियाँ जैसे 'ठाकुर का कुआ', 'सद्गति', 'पूस की रात', 'सवा सेर गेहूँ' इस बात की साक्ष्य है। प्रेमचंद की 'कफन' के बारे में अभिव्यक्त मधुरेश की राय उनकी दलित समुदाय के प्रति असंवेदनशीलता को तथा आधी–अधुरी समझ को दर्शाती है। पूंजीवादी व्यवस्था के कारण नष्ट होते मानवीय मूल्यों और इंसान को निहायत स्वार्थांध बनाने की प्रक्रिया को दिखाने के लिए प्रेमचंद ने दो दलित पिता–पुत्र पात्रों को चुना है। श्रम की सार्थकता के प्रति पैदा हुई अनास्था ने दोनों को अकर्मण्य बना दिया और अब वे दोनों कोई काम किए बिना केवल चापलूस बनकर जीना चाह रहे है।

'गोदान की संरचना' लेख परमानंद श्रीवास्तव का लिखा है। इस लेख को पढ़ने के बाद आप 'गोदान' की संरचना या उसकी बनावट में अंतर्भूत अंतराल को बखूबी समझ सकेंगें। गोदान की कहानी बार–बार गांव से शहर और शहर से गांव लौटती है। परमानंदजी ने इस ओर भी संकेत किया है कि 'उपन्यास के आरम्भ और अंत में मृत्यु का आभास या फिर प्रत्यक्ष त्रासद उपस्थिति'' रहती है। किसान जीवन की त्रासदी और जटिल समस्याओं से घिरे जीवन को अभिव्यक्त करने में यह उपन्यास सफलता प्राप्त कर चुका है इसे आप स्वीकार करेंगे। लेखक ने गोदान की आलोचना करते हुए इस तथ्य को भी उजागर किया है कि किसान का संघर्ष गोदान में वर्णित होरी संघर्ष तक ही सीमित नही है, किसान जीवन संघर्ष के कई अन्य आयाम भी होते हैं। जिसे एक ही उपन्यास में वर्णित करना संभव नहीं है। इसी तरह लेख में इस ओर भी संकेत किया है कि सभी के बारे में प्रेमचंद की मान्यताओं पर गांव की संस्कृति का प्रभाव जान पड़ता है।

आप इस लेख को पढ़ने के बाद गोदान में गांव में व्याप्त तमाम अन्तर्विरोधों, छल और सच्ची मानवता के गुणों को भी रेखांकित कर सकेंगे। गोदान की एक और विशेषता को भी समझ सकेंगे कि जहां एक ओर ग्राम्य जीवन के अंतर्विरोध स्पष्ट होते हैं तो दूसरी ओर शिक्षित समाज के, शहरी समाज संस्कारगत द्वंदरूपों को भी देख सकते हैं। होरी और गोबर के बीच का पीढ़ीगत भेद और उनकी स्थितियों से संघर्ष करने की भिन्न मानसिकता को भी समझ सकेंगे।

पूंजीवाद और सामन्तवाद के गठजोड़ के चलते किसान को मजदूर बनने पर विवश करने वाली सामाजिक आर्थिक स्थिति पर करारी चोट करते हुए 'गोदान' का कथानक नई संभावनाओं की ओर संकेत करता है।

'धरती धन न अपना' तन और मन भी पराया' डॉ. चमनलाल द्वारा लिखा है। जिसे प्रतिनिधि हिंदी उपन्यास (दूसरा भाग) से लिया है। डॉ. चमनलाल ने इस लेख के माध्यम से जगदीशचन्द्र के संपूर्ण लेखनकर्म पर प्रकाश डाला है। इस लेख को पढ़कर आप जान पायेंगे कि जगदीशचन्द्र के कई उपन्यासों का अन्य भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है और टेलीविजन सीरियल और नाटक भी बने हैं। आगे वे निर्देशित करते हैं कि 'धरती धन न अपना' उपन्यास से कथित चमार जाति के शोषण की त्रासदी को प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है। 'काली' चमार इस उन्यास का प्रमुख चरित्र नायक भूख से हारकर शहर की ओर भागता है। लेकिन अपनों का मोह और गांव का आकर्षण उसे छह वर्षो के बाद फिर से खींच लाता है। लेकिन शहर में रहते हुए कुछ सीमा तक समानता और स्वतंत्रता के अनुभव के कारण विस्तरित उसकी चेतना को गांव वापिस आने पर धक्का लगता है। गांव का माहौल पहले जैसा ही जातिवादी और सामंतवादी प्रवृतियों को ढ़ो रहा है। काली का अपनी स्थिति से ऊपर उठने का हर प्रयास कथित सवर्णो को उनके खिलाफ एक चुनौति लगने लगती है। काली का विकास और प्रगति की ओर उठा हर कदम जातिवादी, सामंतवादी शोषकों द्वारा रोक दिया जाता है। हारकर काली अपनी प्रियतमा की मृत्यु का दुख झेलकर शहर की ओर फिर पलायन करता है। प्रस्तुत लेख को पढ़कर आप गांव की उन तंग धर्माध परिस्थितियों से उत्पन्न जातिवादी उत्पीड़न और शोषण की निरंतर चलती प्रवत्तियों से परिचित होंगे।

'मैला आंचल और भारतीय उपन्यास' लेख मधुरेश के 'उपन्यास का पुनर्जन्म' इस पुस्तक से लिया है। इस लेख में 'मैला आंचल' इस आंचलिक उपन्यास में रेणु द्वारा आंचलिक सौदर्य, सजीवता और मानवीय संवेदनाओं को चित्रित करने के लिए प्रयोग की गई तकनीक की प्रशंसा की है। क्योंकि लेखक की दृष्टि में एक अंचल विशेष के भौगोलिक स्थिति से लेकर उसके सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थिति को समझने में 'मैला आंचल' एक नई सोच बनाता है। इस लेख में यह भी बताया है कि शिक्षा और चिकित्सा सुविधाओं के अभाव तथा स्त्री उत्पीड़न, यौन शोषण के प्रति ग्रामीण परिवेश में दृश्यमान असंवेदनशीलता को भी यह उपन्यास उसके यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करता है। स्त्री शोषण की अमानवीय परंपरा के विरोध में उठी आवाज़ गांव के दबंग लोगों द्वारा किस प्रकार दबा दी जाती है और स्त्री शोषण को आध्यात्मिकता के परदे में ढक देने की कोशिश की जाती है, को उजागर किया है। इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी शासन व्यवस्था के औपानिवेशिक स्वरूप के बने रहने और समान्य जनता

के प्रति उसके शोषक रवैये को 'मैला आंचल' बखूबी प्रस्तुत करता है। ग्रामीण समाज में आज भी जातिवादी उत्पीड़न, पिछड़ापन और अंधविश्वासों के कारण दलितों और स्त्रियों के हो रहे शोषण को समझने में यह लेख मद्दगार होगा। लेखक मैला आंचल को किसान चेतना और स्त्री–चेतना का महाकाव्य मानते हैं।

'भीष्म साहनी' लेख मधुरेश की 'नई कहानी : पुनर्विचार' पुस्तक से लिया है। इस लेख में मधुरेश ने भीष्म साहनी की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। भीष्मजी कहानीकार से ज्यादा उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं और इन दोनों विधाओं में उन्होंने समान महत्व का लेखन किया है। भीष्मजी की कहानियों ने पुरानी और नयी कहानी के बीच एक विभाजक रेखा खींचने का कार्य किया है। इस लेख में मधुरेश ने भीष्मजी की कहानियों में अभिव्यक्त एक प्रगतिशील विचारक की चिंताओं पर प्रकाश डाला है। समाज के सत्ताधारी व धनवानों द्वारा गरीब श्रमिक वर्ग का शोषण और उनका तिरस्कार करने की अमानवीय प्रवृत्ति को समझने की दृष्टि को विस्तारित करने का, महत्वपूर्ण प्रयास इस लेख में दृष्टिगत होता है। जिससे मानवीय श्रम और निष्ठा के प्रति गहरा विश्वास पैदा हो सकेगा। धार्मिक और सांप्रदायिक दृष्टि की संकीर्णताओं और उसके जीवन–विरोधी स्वरूप को समझने मे यह लेख आपकी सहायता करेगा। इस वस्तुपरक विवेचन से भीष्मजी की कहानियों में अभिव्यक्त मध्यवर्गीय प्रदर्शनप्रियता, आधुनिकता और सुसंस्कति के पाखंड, तथा परिवारिक जीवन मूल्यों के विघटन जैसी मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों की पड़ताल आप कर सकेंगे। नई कहानी को सामाजिक यथार्थ की धारा से जोड़ने का कार्य भीष्मजी की कहानियों ने किया है, इसे आप प्रस्तुत लेख के माध्यम से जान सकेंगे।

इस पुस्तक में शामिल छठा लेख 'फणीश्वर नाथ रेणु' भी मधुरेश का ही लिखा है। यह उनकी पुस्तक 'नयी कहानी पुनर्विचार' में संग्रहित है। मधुरेश ने स्पष्ट रूप से कहा है कि रेणु की कहानियों में राजनीतिक तेवर उतना तीव्रता से उभरा नहीं है, जब कि वे पूरी तरह से राजनीतिक व्यक्ति थे। इसके कारणों की चर्चा करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि 'राजनीति की दुनिया में मूल्यों का जबरदस्त विघटन उपस्थित हुआ, अवसरवादी तत्व तेज़ी से उस दिशा में सक्रिय होते चले गये।' राजनीति का अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति को लेकर रेणु बहुत चिंतित थे। प्रस्तुत लेख में बताया गया है कि रेणु की यह चिंता उनकी कई कहानियों और उपन्यासों में अभिव्यक्त हुई है। वर्षों बाद मिली आजादी ने जमींदारी प्रथा को केवल कागजों पर ही खत्म किया। इसके चलते हुए मोहभंग का रेणु की

कहानियों में चित्रण मिलता है। इस लेख के माध्यम से रेणु की कहानियों में अभिव्यक्त सामाजिक विसंगतियाँ और उसकी गहरी पहचान करने की विवेचक दृष्टि का विकास हो सकेगा। रेणु की रचनाओं में राजनीति और नेताओं के प्रति जबरदस्त विरोध और विद्रोह फूट पडता है। लेखक के अनुसार यह विरोध कई बार इतना आवेशपूर्ण, विवेकहीन हो जाता है कि तर्कहीनता की स्थिति तक पहुंच जाता है। मोहभंग और बेरोजगारी के कारण शहरों की ओर पलायन करती युवा पीढ़ी के प्रति रेणु बहुत हद तक कठोर भूमिका का निर्वाह करते हैं। जिसे मधुरेश रेणु का ग्राम संस्कृति के प्रति मोह मानते हैं। और जिसे नॉस्टेल्जिया की हद तक पहुंचा हुआ पाते हैं। वामपंथी शक्तियों के बिखराव और विघटन को रेणु कहानी में सामान्य ईमानदार कार्यकर्त्ता के हुए मोहभंग के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। मधुरेश ने माना है कि रेणु की प्रेमसंबंधी कहानियों ने भी सामाजिक संदर्भ को उजागर करने में सफलता हासिल की है, जिसमें 'तीसरी कसम' 'रसप्रिया' 'और एक आदिमरात्रि की महक' आदी कहानियां प्रमुख हैं। रेणु की रचनात्मक विशिष्टता को आलेखकार ने सराहा है। इस आलेख को पढ़ने के बाद आप आंचलिक तत्व को प्रथमतः कहानी में प्रस्तुत करने की रेणु की विशेषता से परिचित हो सकेंगे। रेणु ने आंचलिक सीमाओं के अतिक्रमण के द्वारा बिहार के एक अंचल की ही नहीं बल्कि समूचे उत्तरी भारत के किसानों की दयनीय स्थिति को उजागर किया है। इस लेख में मधुरेश ने रेणु की भाषा शैली, लोक–तत्व की पहचान और रीति–रिवाजों की जानकारी को रचना में प्रयोग करने की अद्‌भुत योग्यता पर भी प्रकाश डाला है। रेणु और मैला आंचल पर दिए गए दूसरे लेखों के आधार पर 'मैला आंचल' उपन्यास को समझना आपके लिए आसान होगा।

इसके बाद का 'यशपाल' पर लिखा लेख मधुरेश का ही है, जिसे उनकी 'अस्मिता की तलाश' पुस्तक से लिया है। यशपाल की कहानी लेखन संबंधी दृष्टि को इस लेख में विस्तार से बताया है। जहां उपन्यासों में यशपाल ने राजनीतिक संदर्भों को उठाया है वही कहानियों में राजनीतिक सरोकारों को एकदम नहीं छुआ है। यशपाल ने सभी कहानियाँ उनके लंबे जेल जीवन के दौरान लिखी है। मधुरेश के अनुसार यशपाल स्वयं भी इससे अनभिज्ञ थे कि रचनात्मक लेखन द्वारा वे अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे। यशपाल की कहानियों में भावुकता और रोमानियत नहीं बल्कि जीवन के प्रति वस्तुपरक और यथार्थ दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है। समाज में बदलाव लाकर एक नया समाज बनाने की क्रांतिकारी सोच इनमें आग्रहपूर्ण तरीके से उभरती है। मधुरेश ने अपने लेख में यशपाल के

सामाजिक विसंगतियों के प्रति आक्रामक होकर लिखने की प्रकृत्ति पर भी प्रकाश डाला है। यशपाल रचना की सुंदरता और प्रसांगिकता रचना में रेखांकित तर्क और विवेक पर निर्भर मानते थे। समय के साथ–साथ नैतिकता के बद्लते मानंदडों को यशपाल कहानियों में अपनाते हुए चलते है, पुरातन मन्यताओं और परंपराओं का निषेध भी वे करते है। मधुरेश के अनुसार प्रेमचंद के बाद दूसरे लेखक यशपाल ही हैं जिनकी कहानियों में 'आसपास के विभिन्न वर्गो, श्रेणियों और संस्कारों के पात्रों के एक जीवंत और विश्वसनीय संसार की रचना' मिलती है। आगे वे कहते हैं कि यशपाल ने सर्वप्रथम स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता पर विशेष बल देकर स्त्री स्वतंत्रता का महत्व प्रदान किया।

'सांप्रदायिकता और हिंदी कहानी' मधुरेश द्वारा लिखित लेख हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश में संग्रहित है। इनकी मान्यता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए राजनीतिक कूटनीति के तहत भारत में हिंदू और मुसलमान इन दो संप्रदायों को एक दूसरे के विरोधी संप्रदाय बनाने की साजिश रची। इसे समझने में यह लेख आपका मद्दगार हो सकेगा। अंग्रेजों द्वारा निर्मित और पोषित सांप्रदायिकता के ही परिणामस्वरूप देश विभाजन के द्वारा भारत और पाकिस्तान दो देशों का निर्माण हुआ मधुरेश इस लेख में यह दर्शाते है कि उस समय सांप्रदायिक द्वेष को सांप्रदायिक सद्भावना में बदलने के प्रयास रचनाकारों द्वारा लेखन के माध्यम से होते रहे। जिनमें प्रमुख है देवकीनंदन खत्री, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, चतुरसेन शास्त्री, सुमित्रानंदनपंत, अमृतलाल नागर, यशपाल, अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर।

इस लेख में मधुरेश ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में जातीय सद्भाव निर्मिति के लिए प्रेमचंद ने जोखिम उठाकर भी लेखन के द्वारा समाज में चेतना जागृत करने का प्रयास किया। उनकी अनेक कहानियाँ मुस्लिम जनजीवन का चित्रण ही नहीं मुस्लिमों की स्वाधीनता आंदोलन में सक्रीय सांझेदारी को भी रेखांकित करती है। हिंदू और मुस्लिम रचनाकारों ने मिलकर जातीय सद्भाव राष्ट्रीय स्वाधीनता के संयुक्त संघर्ष का अंकन किया और विभाजन की त्रासदी की यातना और हताशा को प्रकट किया। जिनमें प्रमुख योगदान कृश्न चंदर, ख्वाजा अहमद अब्बास, अमृतराय जैसे लेखकों का रहा है। भीष्म साहनी की कहानियों में सांप्रदायिक उन्माद के कारण उदभूत विस्फोटक स्थिति का अंकन मिलता है। इस लेख में मधुरेश ने सांप्रदायिकता के कारण धर्मनिरपेशता के

सर्वधर्म सदभाव की घोषित नीतियाँ किस प्रकार एक किनारे कर दी जाती है, पर भी टिप्पणी की है। स्वाधीनतापूर्व और स्वाधीनता के बाद सांप्रदायिकता किस प्रकार भयानक स्वरूप में हमारे समक्ष रूप बदल–बदल कर आती है, को समझने में यह लेख मददगार रहेगा। यह लेख सांप्रदायिक स्थितियों के उद्‌भव होने की स्थिति को समझने में आपकी मदद करेगा।

'मन्नू भंडारी' की रचनात्मकता पर लिखा लेख मधुरेश का है। मन्नू भंडारी नयी कहानी आंदोलन से किस प्रकार जुड़ी और नयी कहानी आंदोलन में उनकी सर्जनात्मक सक्रियता के महत्व को इस लेख में रेखांकित किया है। भारतीय समाज का स्त्री के प्रति भोगवादी स्वेच्छाचारी सामंती रवैया और दोहरे मानदंडों पर मन्नू भंडारी किस प्रकार प्रहार करती है इस पर प्रकाश डाला गया है। मन्नू के लेखन में मुख्यतः सामाजिक बदलाव की अपेक्षा और स्त्री के लिए सम्मानजनक वातावरण की आकांक्षा का आग्रह दिखाई देता है। सहज जीवन जीने की मानवीय ईच्छाओं को कुंठा में बदलने वाली पारंपारिक रूढ़ि रीतियों के अवरोधों और धार्मिक बधनों की मन्नू अपनी कहानियों में तीखी आलोचना करती है। एक जीवंत और आत्मसजग स्त्री की छवी को प्रयासपूर्वक चित्रित किया है। अर्थहीन विधि निषेधों के लिए जीवन बरबाद करने की अपेक्षा जो अपना जीवन अपने ढंग से जीना चाहती है मन्नू की कोशिश यही रही है कि उनकी कहानियों की नायिकाएं अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति न केवल सजग दिखती है वे संघर्ष भी करती है।

'हरिशंकर परसाई' इस पुस्तक के लेखों के क्रम में दसवाँ लेख है। इस लेख के लेखक मधुरेश हैं तथा हिंदी–कहानी : अस्मिता की तलाश पुस्तक में यह संग्रहित है। लेखक के अनुसार हरिशंकर परसाई ने कहानियों में राजनीतिक भ्रष्टाचार और सामाजिक विसंगतियों को स्पष्ट और प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया है। परसाई जी सामाजिक सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों और चिंताओं को व्यंग्य के कौशल पूर्ण उपयोग द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। मधुरेश ने इस लेख में परसाई जी की कुछ प्रमुख कहानियों के विवेचन द्वारा यह दर्शाया है कि परसाई जी ने देश में फैले भ्रष्टाचार, सामजिक विसंगतियाँ, राजनीति और शासनतंत्र की विकृतियों की आलोचना की है तथा आम आदमी की यातनाओं और जीवन की विडंबनाओं को रेखांकित करने में सफलता हासिल की है।

इस लेख को पढ़कर आप यह समझ सकेंगे कि हरिशंकर परसाई मूलरूप से एक व्यंग्यकार है और व्यंग्य के द्वारा व स्थितियों, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों पर व्यंग्य करके सामाजिक विसंगतियों के प्रति अपना रोष प्रकट कर रहे थे।

'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' लेख नामवर सिंह द्वारा लिखा है। शास्त्रीय और मूल्यवादी आलोचकों के अनुसार मानव जीवन की व्यापक समस्याओं को कहानी अपने लघु कलेवर में समाविष्ट नहीं कर पाती। इस आलेख के द्वारा नामवरजी ने यह बताने की कोशिश की है कि 'कहानी की सार्थकता उसमें अभिव्यक्त जीवन मूल्यों की कसौटी पर परखी जानी चाहिए। इस आलेख को पढ़कर आप समझ सकेंगे कि कहानी की आलोचना पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में नहीं, बल्कि कहानी में अभिव्यक्त जीवन–सत्य और भाव–बोध के आधार पर की जानी चाहिए। जिन महान कहानीकारों ने कहानी के परंपरागत ढ़ाँचे को बार–बार तोड़ने का काम किया है उनमें प्रेमचंद और चेखव जैसे कहानीकार है। कहानी के शिल्प में नयापन लाने की कोशिश प्रसिद्ध कहानीकार कमलेश्वर, भीष्म साहनी, रांगेयराघव, अमरकांत जैसे कहानीकारों द्वारा की गई। कहानी आलोचना पर प्रकाश डालते हुए नामवरजी यह भी कहते हैं कि कहानी की अर्थवत्ता या सार्थकता भी कहानी के कहानीपन पर ही निर्भर होती है। कहानी की सार्थकता को बहुत अहमियत देते हुए वे कहते है कि कहानी हमारे जीवन की छोटी–सी–छोटी घटना में भी अर्थ खोज लेती है उसे अर्थ प्रदान कर देती है। नामवरजी ने उदाहरण के तौर पर भीष्म सहानी की 'चीफ की दावत' कहानी को लिया है। कहानी में जीवन की छोटी से छोटी घटना के माध्यम से जीवन की सच्चाई को सफलतापूर्वक उजागर किया गया है। निहित स्वार्थ के कारण इन्सानी रिश्तों के बदलते स्वरूप को प्रस्तुत लेख को पढ़कर आप समझ सकेंगे। कहानीकार के रूप में मोहन राकेश की विशिष्टता को बयान करते हुए नामवर जी राजेन्द्र यादव की कहानियों में शिल्प और भाषा को अतिरिक्त रूप से कठिन तथा उलझा हुआ बताते हैं। इस लेख को पढ़ने के बाद आप यह समझ सकेंगे कि सामाजिक अन्तर्विरोधी शक्तियों के उभरने तथा लुप्त होने के कारण सामाजिक परिवर्तन को कहानी के द्वारा अभिव्यक्त करना भी कहानी की सार्थकता हो सकती है।

जयशंकर प्रसाद लेख मधुरेश का लिखा है। प्रस्तुत लेख में मधुरेश ने जयशंकर प्रसाद की कहानी लेखन संबंधी अभिरूचि और रचनात्मक सक्रियता पर प्रकाश डाला है। इस लेख में यह भी बताया गया है कि प्रसाद के व्यक्तित्व के कई पहलू हैं जिनसे हिंदी पाठक परिचित है, कवि, नाटककार ही नहीं कहानीकार के रूप में भी प्रसाद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अपने युग में हो रहे सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन के प्रति बहुत नहीं, लेकिन कुछ तो चिंता उनके लेखन में अभिव्यक्त हुई है। भारतीय इतिहास, दर्शन एवं संस्कृति के प्रगाढ़ अध्ययन ने उनके सर्जनात्मक

सरोकारों को भिन्न दिशा दी है। भारत की पराधीनता की चिंता, और हताशा के कारण वे अतितोन्मुखी, गौरवशाली इतिहास में बार–बार झांककर तत्कालीन स्थिति की तुलना करते हुए दिखते हैं। इनके नाटकों में अतीत गौरव गरिमा और महिमा मंडन आस्मिताबोध के द्वारा स्वाधीनता आंदोलन को बल प्रदान करने की कोशिश दिखाई देती है।

गौतम बुद्ध से लेकर हर्षवर्धन के काल की समानतावादी न्यायपूर्ण व्यवस्था के लंबे कालखंड को प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए चुना है। कहानियों के लिए प्रसाद ऐतिहासिक घटनाओं पर अधिक निर्भर रहे। 'छाया' कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचित कहानियाँ हैं। जिनमें इतिहास का वर्तमान के लिए उपयोग का आग्रह स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है। मधुरेश ने इस आलेख में प्रसाद की अन्य कहानियों की भी प्रशंसा की है जो 'छाया' में ही छपी है जिनमें 'ग्राम' और 'शरणागत' महत्वपूर्ण है। इन कहानियों के माध्यम से प्रसाद ने तत्कालीन नव धनाढय वर्ग का पाश्चात्य संस्कृति की ओर झुकाव तथा अंग्रेजों की चापलूसी करके अपने लिए सुविधा जुटाने की स्वार्थी प्रवृति और देश की स्वाधीनता के प्रति उदासिनता को उजागर किया है।

प्रसाद की रचनात्मकता और प्रतिबद्धता के प्रति मधुरेश अधिक स्पष्टता से कहते हैं कि "प्रसाद के यहां देशव्यापी आंदोलन की ऐसी कोई चेतना नहीं है। निश्चय ही इस देशव्यापी आंदोलन में उनकी हिस्सेदारी और प्रतिबद्धताएं भिन्न प्रकार की हैं।

इस संकलन का प्रस्तुत लेख 'सूखा बरगद' : साम्प्रदायिकता के खिलाफ संघर्ष जानकी प्रसाद शर्मा का लिखा हुआ है। जो अप्रैल–जून 1986 की 'समकालीन भारतीय साहित्य' पत्रिका में छपा था। 'सूखा बरगद' उपन्यास में अभिव्यक्त उपन्यासकार मंजूर एहतेशाम के चिंतन और दृष्टि पर प्रस्तुत लेख में बड़ी गहराई से विचार किया गया है। एक मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार किस प्रकार सांप्रदायिक वातावरण में अपने आप को असुरक्षित महसूस करता है। उनके कार्यकलापों को एक भारतीय होने पर भी क्योंकर संदेह के रूप में देखा जाता है। यह भी दर्शाया है कि चाहे व्यक्ति हिंदू हो या मुसलमान समाज में उसकी पहचान उसकी आर्थिक स्थिति से ही निर्धारित होती है। प्रत्येक परिवार का रूतबा उसके अपने संप्रदाय में और अनन्य संप्रदायों की दृष्टि में एक सा ही होता है। लेखक की पैनी नजर उपन्यास के एक महत्वपूर्ण संदर्भ पर जरूर पड़ी है और वह है हिंदू तथा मुस्लिम संप्रदाय के कट्टरपंथियों द्वारा आपस में तनाव बनाए रखने की कोशिश राजनीतिक

उद्देश्य से प्रेरित होती है। इस लेख में उपन्यासकार द्वारा अभिव्यक्त मध्यवर्ग की उदार धर्मनिरपेक्ष मानसिकता और कंपोजिट कल्चर के समर्थन को गहराई से विश्लेषित किया है तथा इस वर्ग का अपनी देश की मिट्टी से लगाव और प्रेम को बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत करने पर सराहा गया है। उदार मुस्लिम वर्ग की प्रगतिशील सोच को भी रेखांकित किया है। इसका प्रतिबिंब मुस्लिम नारी रशिदा की सोच में आए क्रांतिकारी परिवर्तन के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आलेख में मुस्लिम मध्यवर्गीय समाज की साम्प्रदायिकता से उद्भूत समस्याओं से जूझने और अपनी सुरक्षा के लिए जुटाए जाने वाले समर्थन की पराकाष्ठा को अति संवदेनशील रूप से उजागर किया है। युद्ध जैसी स्थितियों में बहुसंख्यकों द्वारा शक से देखे जाने के कारण भारतीय मुसलमानों में पैदा होती बेचारगी और प्रकट होते गुस्से की मनोवैज्ञानिकता को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने की जरूरत पर यह आलेख प्रकाश डालता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' बच्चनसिंह के इस लेख में बाणभट्ट की आत्मकथा एक क्लासिकल रोमैण्टिक उपन्यास के रूपमें किस प्रकार परिपूर्ण रचना है, इस पर प्रकाश डाला है। क्लासिक होने के दोनों तत्व औदात्य और जड़ता दोनों का सम्मिलन इसमें है। जिससे क्लासिकल और रोमैण्टिकता को समझने में यह लेख मददगार साबित होता है। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए भी इसमें प्रकट अभिव्यक्त चेतना आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिक है। यह लेख 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रस्तुत इतिहास बोध, प्रेमदर्शन और कल्पित कथा, तथा कल्पना के योग से निर्मित प्रसंगों से भरी कथा को समझने की दृष्टि प्रदान करता है। इतिहास की प्रामाणिकता के महत्वपूर्ण संदर्भ जैसे धर्म, दर्शन, उपासना, राजतन्त्र, मूर्तिचित्रों के सूक्ष्म चित्रण द्वारा समूचे पिरवेश, पात्रों की क्रियात्मकता, और आपसी संबंधों को समझाने का प्रयास लेख में गंभीरतापूर्वक किया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि पौराणिक और ऐतिहासिक कथानक के बावजूद यह उपन्यास अपने समय के सच को, सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। उपन्यास में अभिव्यक्त स्त्री–मुक्ति चेतना, राजनीतिक अस्थिरता, जांतिगत भेदभाव पर आधारित विषमता जैसे मुद्दों को उदाहरण देकर समझाया है। भट्ट के प्रति भट्टिनी और निपुणिका का प्रेम दैहिक मात्र नहीं था। प्रेम के उच्चादर्श को जानने की एक दृष्टि देने का आलेखकार का प्रयास प्रशंसनीय है। इस को लेख पढ़ने के बाद आपके लिए बाणभट्ट की आत्मकथा को समझना आसान हो सकेगा।

'सातवें दशक की कहानी' लेख ज्ञानरंजन का लिखा है। इस लेख में सातवें दशक की कहानी की विशिष्टता को दर्शाते हुए ज्ञानरंजन कहते है कि पूर्व दशक की कहानी से सातवें दशक की कहानी न केवल अपनी मूल प्रवृत्ति में भिन्न है बल्कि बड़े पूराने पराम्परागत ढांचे को तोड़ती नजर आती है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और सजनीतिक स्थितियों ने पूरातन मूल्यों को उखाड़ कर फेंक दिया था। क्योंकि समय और समाज में हो रहे परिवर्तन की सच्चाई का सामना करने की आवश्यकता को पूरी शिद्द से महसूस किया गया। जिसके लिए परंपरागत कला मूल्यों की पडताल कर उसे छोड़ना जरूरी था।

मानवीय सम्बंधों में व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता को अभिव्यक्त करना सातवें दशक के कहानीकारों की विशिष्टता रही है। इस दौरान की कहानी में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से रेखांकित हुई। सामाजिक आर्थिक संघर्ष और व्यक्ति का अस्तित्व के लिए संघर्ष यही वह दो प्रमुख बिंदु थे। इस लेख को पढ़ने के बाद आप सभी प्रमुख कहानीकारों के नामों से परिचित हो सकेंगे तथा कहानीकारों की कहानियों में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक जीवन के प्रश्नों को गंभीरता से रचनात्मक धरातल पर उतारे जाने के प्रयास को रेखांकित कर सकेंगे।

"दलित साहित्य : प्रामाणिक चेतना की प्रतीति" लेख शरच्चंद्र मुक्तिबोध का लिखा है। शरच्चंद्र मुक्तिबोध ने इस लेख में भारतीय साहित्य पटल पर दलित साहित्य आंदोलन का उभरना एक सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आवश्यकता और अनिवार्यता मानी है। स्वांतत्र्योत्तर काल में शुरू हए दलित साहित्य आंदोलन को वे स्वयंप्रेरणा से चलाया हुआ आंदोलन मानते हैं, तथा इसकी चेतना को मूल्यगर्भ चेतना का आविष्कार कहते हैं। मार्क्सवादी नैतृत्व की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध ने कहा कि जिस समाज में क्रांति लानी है उसके संपूर्ण स्वरूप को बिना जाने क्रांति का विचार व्यर्थ हो जाता है। असल में मार्क्सवादियों ने भारत के चातुर्वर्ण्य विशिष्ट स्वरूप की ओर ध्यान ही नहीं दिया। मुक्तिबोध यह भी कहते हैं कि 'मार्क्सवादियों ने लेखकों को एक विषय देकर मानो आर्थिक संघर्षों पर ही उनका सारा ध्यान केन्द्रीभूत किया; जिससे भारतीय निम्नवर्ग के जीवन का यथार्थ एवं स्वयंस्फूर्त उद्‌गार शब्दरूप नहीं ले सका। इस लेख को पढ़कर आप समझ सकेंगे कि सामाजिक विषमतापूर्ण व्यवस्था जातिवादी विद्वेष और अपमान के विरोध में उठे विद्रोही स्वर ने ही दलित साहित्य चेतना का स्वरूप ग्रहण किया हे। अपने आस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत मानवसमूह की अंतर्वेदना को यह

साहित्य अभिव्यक्त करता है। अतः परंपरावादियों द्वारा इस साहित्य को खारिज करने की कोशिश ब्राहमणवादी कट्टरवाद की ओर संकेत करती है। क्योंकि यह सर्जनशीलों की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। दबे–कुचले अछूत वर्ग में उभरे अस्तित्व के प्रति चेतना की भी यह सर्जनशील अभिव्यक्ति है। आप इस लेख को पढ़कर दलित चेतना साहित्य आंदोलन के इस सृजनात्मक प्रयास की जानकारी हासिल कर सकेंगे।

इस विवेचना पुस्तक का अंतिम लेख 'मराठी दलित कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना' डॉ. विमल थोरात का लिखा है। यह लेख 'मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिंदी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना' नामक पुस्तक से लिया है। इस लेख में संपूर्ण दलित साहित्य आंदोलन के उद्‌भव और विकास को विस्तार से रेखांकित किया है। दलित मुक्ति के सामाजिक–सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आंदोलन की साहित्यिक सृजनात्मक अभिव्यक्ति में परिवर्तीत होने के ऐतिहासिक कारणों को आप समझ सकेंगे। इस संपूर्ण आंदोलन के निर्मिति के स्रोत को आप जान सकेंगे। डॉ. आंबेडकर और महात्मा बुद्ध का दर्शन इस साहित्य का प्रेरणा स्रोत है। सदियों से होते आ रहे जातिगत शोषण, उत्पीड़न और पीड़ा की तीव्र अभिव्यक्ति दलित मराठी कविता में हुई है। इसी प्रकार आप इस लेख को पढ़ने के बाद समझ सकेंगे कि दलित कविता में पुरातन परंपराओं और रूढ़िगत सोच के विरुद्ध विद्रोहात्मक स्वर उभरता है। सदियों से जन्म सिद्धान्त और कर्मसिद्धान्त के झूठे अंधविश्वास पर आधारित यहां की जातिवादी व्यवस्था के कारण मानव अधिकारों से वंचित अछूतों द्वारा किए जा रहे सामाजिक संघर्ष को आप रेखांकित कर सकेंगें। दलित मुक्ति आंदोलन और साहित्य आंदोलन के अन्योन्य संबंधों का अप समझ सकेंगे। दलित साहित्य की अवधारणा और स्वरूप से भी परिचित हो सकेंगे। यह लेख दलित कविता में अभिव्यक्त सामाजिक राजनीतिक चिंताओं को समझने का वैचारिक आधार प्रदान करेगा।

आप इन सभी लेखों को 'उपन्यास एवं कहानी' पाठ्यक्रम के विभिन्न खंडों में दी गई सामग्री के साथ जोड़कर पढ़ेंगे तो अधिक उपयोगी होगा।

विमल खांडेकर थोरात

1. प्रेमचंद

प्रेमचंद की कहानियों पर पुनर्विचार के संदर्भ में 'सोज़ेवतन ' से बात शुरू करने का अपना खास औचित्य है। वस्तुतः पांच कहानियों का यही वह संकलन था, सन् 1909 में जिसके प्रकाशन के बाद 'प्रेमचंद ' का प्रार्दुभाव संभव होता है। इन कहानियों के प्रकाशन के आज प्रायः सत्तर वर्ष बाद ऐसी कोई जिज्ञासा स्वाभाविक ही मानी जानी चाहिए कि आखिर किस कारण तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने इन्हें खतरनाक समझा था, इनके आधार पर प्रेमचंद पर 'सिडीशन ' का आरोप लगाया गया था और उनकी अदम मौजूदगी में उनके संग्रह की सारी प्रतियों को आग के सुपुर्द करते हुए संबद्ध अधिकारी ने उन्हें चेतावनी दी थी कि आगे वे ऐसा कुछ भी करने की जुर्रत न करें। उन्हें इस बात के लिए खैर मनाने की सलाह भी दी गई थी कि वह ब्रिटिश अमलदारी में हैं नहीं तो इस जुर्म के लिए उनके हाथ कलम कर लिए जा सकते थे।

'सोज़ेवतन ' की पांच में से चार कहानियां तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना के नये उभार को एक सीमा तक रेखांकित अवश्य करती हैं लेकिन अपने युग के ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय संदर्भों को लेकर उनका कोई आग्रह नहीं है। सन् 1908 में तिलक की गिरफ्तारी और उसके परिणामस्वरूप बंबई के मजदूरों की आम हड़ताल जैसी घटनाओं का कोई संकेत इन कहानियों में उपलब्ध नहीं है। ठोस राजनीतिक संदर्भों से अपने को बचाकर ये कहानियां एक भावना के स्तर पर देश और राष्ट्र प्रेम को प्रोत्साहित करने की कोशिश का परिणाम हैं। इन कहानियों को पढ़कर उनके देश और काल का या तो कोई बोध होता ही नहीं है या यदि होता भी है तो बड़ा अस्पष्ट और धुंधला-सा। इन्हें पढ़कर इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि न तो इनका 'देश ' वह भारत है और न ही इनका 'काल ' वह काल है, जिसमें वे लिखी गई हैं। यदि इनमें लेखक के अपने देश और काल कहीं उपस्थित हैं तो बहुत धीमे रूप में। एक भावना के स्तर पर देशभक्ति की एक ऐसी प्रबल भावना जो उठकर और धीरे-धीरे बढ़कर पूरे देश को अपनी जद में लेती जा रही थी।

'सोज़ेवतन ' की पांच कहानियों में से चार 'दुनिया का सबसे अनमोन रतन ', 'शेख मख्मूर ', 'यही मेरा वतन है ', 'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम ' भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित हैं और दूसरी सारी सांसारिक चीजों की अपेक्षा देशभक्ति के जज्बे को असाधारण गौरव एवं गरिमा देने की दिशा में संतरण करती

दिखाई देती हैं। 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन ' में शिशु के प्रति वत्सलता और पति के प्रति सारे समर्पण एवं निष्ठा के मुकाबले अपने देश पर कुर्बान हो जाने की भावना को ही सर्वोपरि ठहराया गया है। दिलफिगार की प्रेमिका मलका दिलफरेब जंगलों बियाबानों में भटकने के बाद लाए गये वत्सलता के आंसू और अपने पति के साथ सती हुई स्त्री की भस्म को महत्त्व देती अवश्य है लेकिन वह इनसे भी ज्यादा अनमोल रत्न लाने के लिए दिलफिगार को उत्तेजित करती है और इस तरह तीसरी बार वह जो चीज लेकर लौटता है वह एक भारतीय वीर सिपाही के सीने से निकलते हुए खून की बूंद है जिसने अपने देश--भारत--- की स्वतंत्रता की वेदी पर अपने को न्योछावर कर दिया है। जब दिलफिगार उस सिपाही के जख्म पर कपड़े का फाहा रखने की कोशिश करता है तो अपने सीने के घाव से उस चीथड़े को निकालते हुए वह कहता है....., क्या तूने यह मरहम रख दिया? खून निकलने दे, इसे रोकने से क्या फायदा? क्या मैं अपने ही देश में गुलामी करने के लिए ज़िंदा रहूं? नहीं, ऐसी ज़िंदगी से मर जाना अच्छा। इससे अच्छी मौत मुमकिन नहीं। 'इसी वीर के खून की बूंद को मलका दिलफरेब दुनिया का सबसे अनमोल रतन मानकर हमेशा के लिए दिलफिगार की लौंडी बन जाती। उसकी रत्नजड़ित मंजूषा से जो तख्ती निकलती है उस पर सुनहरे अक्षरों में लिखा हुआ था 'खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे--दुनिया की सबसे अनमोल चीज है....। '[2]

'शेख मख़मूर ' का मसऊद देशभक्ति, त्याग और जातीय एकता का प्रतीक है। कई मौके आते हैं जब उस जैसा दिलेर आदमी कुछ भी कर सकता है लेकिन वह एक गैरमामूली जब्त से काम लेता है ताकि आपसी फसाद और खून-खराबे से बचा जा सके। सरदार नमकखोर के आगे वह अपनी तलवार तक रख देता है जो उसे उसके पिता से विरसे में मिली थी...जब कि स्वयं उसके साथी ही उसके इस जब्त से नाखुश होने लगते हैं। इसी तरह सल्तनत के अपने दावे बचाकर वह शेर अफगन को अपनी मलिका मान लेता है ताकि सद्यः प्राप्त स्वतंत्रता फिर खतरे में न पड़ जाए। अंततः अपने धैर्य, दिलेरी और त्याग के कारण ही वह अपना खोया हुआ राज्य वापस पाने में सफल होता है।....'यही मेरा वतन है ' का नायक लंबे अरसे के बाद अमरिका से अपने देश-हिंदुस्तान-को लौटता है अपने वर्षों से जमे हुए रोजगार और परिवार को वहीं छोड़कर यहाँ लेखक आसानी से अपने नायक को गदर पार्टी से संबद्ध या उससे प्रभावित उन क्रांतिकारियों से जोड़ सकता था जो देश की स्वतंत्रता के प्रयत्नों के सिलसिले में अमरीका में प्रवासी बने हुए थे। लेकिन इन संभावनाओं के उपयोग का

कोई आग्रह लेखक नहीं दिखाता है। अपने देश की मिट्टी का आकर्षण बड़े भावुकतापूर्ण ढंग से उसे अपनी ओर खींचता है और अपने रोजगार एवं परिवार की चिंता किए बिना ही वह अपने देश में रुक जाता है ताकि अब अंतिम समय अपने देश की मिट्टी में मिल सके। यहां लेखक देशभक्ति को धार्मिक समझी जाने वाली कुछ चीजों से जोड़कर अपनी सोच को धुंधला जाने के लिए छोड़ देता है। राम-नाम और गंगा का सामीप्य ही उसके लिए जैसे देश का पर्याय बनकर रह जाता है। अपने निजी परिवेश और परिवार से कटने का कोई दुःख ही जैसे उसे नहीं है। इन सारी चीजों को लेकर कहीं कोई दर्द उसके मन में कभी नहीं उभरता और अपने बेहद सपाट, सरलीकृत और तनावहीन निर्णय की घोषणा वह इन शब्दों में करता है....'मेरे लड़के और मेरी बीवी मुझे बार-बार बुलाते हैं मगर अब मैं यह गंगा किनारा और यह प्यारा देश छोड़कर वहां नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगाजी को सौंपूंगा। अब दुनिया की कोई इच्छा, आकांक्षा मुझे यहां से हटा नहीं सकती क्योंकि यह मेरा प्यारा देश, मेरी प्यारी मातृभूमि है और मेरी लालसा है कि मैं अपने देश में मरूं....'[3] 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम ' अपने शीर्षक के अनुरूप सांसारिक प्रेम पर देश प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करती है।यह इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मेजिनी के जीवन और संघर्षों को केंद्र बनाकर लिखी गई कहानी है जिसमें मेजिनी की देशभक्ति, संघर्षशीलता और त्याग भावना को बड़े भावविह्वल ढंग से उद्घाटित करने की कोशिश की गई है। इटली, इंग्लैंड और स्विटजरलैंड के सारे जरूरी ब्यौरे लेखक यूं ही अनायास जुटा लेता है क्योंकि लेखक का आग्रह कहानी के परिवेश को लेकर इतना नहीं है जितना कि चरित्र और उसमें भी एक केंद्रीयभाव---देशप्रेम---को लेकर है। संग्रह की दूसरी कहानियों की तरह यह कहानी भी देशप्रेम की काफी कुछ अमूर्त्त भावना को एक आकार देने की कोशिश का परिणाम है। अपने स्वरूप में ये कहानियां क्रांतिकारी भले ही न हों, वास्तविक अर्थों में इन्हें राजनैतिक कहानियां कहना भी मुश्किल है। एक भावुकतापूर्ण देशप्रेम की भावना इनके पोर-पोर में रसी-बसी है और संभवतः इसी कारण अपने प्रकाशित होते समय वे खतरनाक भी समझी गईं। इन कहानियों से और चाहे कुछ हुआ हो या न हुआ हो प्रेमचंद की भावी दिशा और भूमिका का संकेत अवश्य मिल सका था। धुंधली और किसी कदर आवेगपूर्ण होने पर भी यह कहानी को राष्ट्रीय और जातीय सवालों से जोड़ने की एक ऐतिहासिक शुरूआत अवश्य थी....।

प्रेमचंद की शुरू की कहानियां चरित्र पर जोर देते हुए भी मूल रूप से घटनाबहुल कहानियां हैं जिनमें कभी-कभी तो एक साथ इतनी घटनाओं का ढेर लगा दिया जाता

है जो आज ही नहीं उस समय भी एक अच्छे-खासे उपन्यास के लिए भी कुछ ज्यादा ही मानी जानी चाहिए। इन कहानियों में संयोग और असाधारण रूप से सरलीकृत ढंग से हृदय परिवर्तन को लेकर भी उनका आग्रह आसानी से देखा जा सकता है। प्रायः इन सभी कहानियों की बुनावट में कहीं ऐसा चरित्र केंद्र में है तो कहीं कोई ऐसी घटना जिसका उपयोग लेखक हृदय परिवर्तन या किसी आदर्श के लिए करता दिखाई देता है। 'मिलाप ' में नानकचंद, जो एक धनी पिता का पुत्र है, अपने पड़ोस की एक विधवा युवती ललिता को लेकर भाग जाता है। लांछन और समाज के भय के कारण बाद में उसके पिता स्वयं ही उसे वापस आने को मना लिख देते हैं और नियमित रूप से उसे खर्चा भेजते रहते हैं। फिर एक दिन अपने पिता की मृत्यु की खबर पाकर वह ललिता और अपनी पुत्री कमला को वैसे ही बेसहारा छोड़कर कलकत्ता से अपने घर बनारस भाग आता है। नदी के किनारे अपने खून से भीगे कपड़े छोड़ आने के कारण पुलिस उसे मृत समझकर ललिता को वैसी ही सूचना दे देती है। बनारस आकर मित्रों की संगत में उसका नया जीवन शुरू होता है। एक के बाद एक तीन बार उसकी शादी होती है और पत्नियां मर जाती हैं। अंतिम पत्नी के एक बच्चा भी होता है लेकिन वे दोनों ही चल बसते हैं। मानसिक अकेलापन और निराशा की स्थिति में उसे फिर ललिता और कमला का ख्याल आता है। अपनी विशिष्ट हिंदू मानसिकता के कारण वह यह भी सोचता है कि यह जो कुछ हुआ है वह निर्दोष ललिता के प्रति किए गए उसके बुरे व्यवहार का परिणाम है। अतः वह कलकत्ता पहुंचकर ललिता का पता लगाता है और ललिता उसे वहीं मिल भी जाती है जहां वह उसे दस-बारह वर्ष पहले छोड़कर गया था। अपने किए पर पश्चाताप करता हुआ वह उसे अपने साथ लाकर सुख से रहने लगा है। 'नेकी ' में घटित घटनाएं बीस से भी अधिक वर्षों में फैली हुई हैं। जिस हीरामणि को बचपन में, एक देवदूत की तरह अचानक पहुंचकर तखतसिंह ने डूबने से बचाया था वही हीरामणि अनजाने में उसका जमींदार बनकर उसके कल्पित घमंड के कारण उस पर मनमाने जुल्म करता है। वास्तविकता का पता लग जाने पर भी तखतसिंह उसे कुछ बताकर करुण स्थितियों में वीरता से मर जाना पसंद करता है। बाद में जब हीरामणि को यह सब पता चलता है तो तखतसिंह की नेकी और आन के बदले वह उसकी स्मृति में एक शिवाला, पक्का कुआं और धर्मशाला बनवाकर अपने किए का प्रायश्चित करता है। 'पुत्र-प्रेम ', 'प्रतिशोध ' और 'सिर्फ एक आवाज ' जैसी कहानियां इसी प्रकार के संयोगों और प्रायश्चित तथा हृदय परिवर्तन को आधार बनाकर लिखी हुई कहानियां हैं। 'सिर्फ एक आवाज' में लेखक तथाकथित बुद्धिजीवियों के मुकाबले

अज्ञानी ठाकुर को कहीं अधिक विश्वसनीय समझता है जो अपने अंतःकरण के निर्देश को भावुकता समझकर टालने की कोशिश न करके कथनी की एकता पर बल देता है। 'देवी ' में एक स्त्री एक अंधे भिखारी को दस रुपए का नोट भीख में देने के कारण सहज ही कौतूहल और आदर पात्र बन जाती है। बाद में मालूम होता है कि वह एक विधवा है और वह नोट उसे पड़ा मिला था इसलिए वह उसे भिखारी को दे देती है उसके इस त्याग पर घटना का वर्णनकर्ता--लेखक--उसे 'देवी' कहकर उसके प्रति समादर प्रकट करता है। यह वस्तुतः इस रूढिवादी हिंदू सोच का समर्थन है, जो पड़े हुए धन के उपयोग को लेकर भांति-भांति के भय दिखाती है और उसे दान देकर त्याग का गौरव हासिल करने की खुशफहमी में मुब्तिला रहती है। इस वर्ग की कहानियों में 'अंधेरे ' किंचित् भिन्न प्रकार की कहानी है। इसमें लेखक की यह दिखाने की कोशिश है कि गांव में अशिक्षा और आपसी फूट का लाभ मुखिया और पुलिस के लोग उठाते हैं। नेता और पुलिस के वर्तमान समीकरण की पूर्व कल्पना की दृष्टि से इस कहानी का महत्त्व आज कुछ ज्यादा ही माना जाना चाहिए। धर्म की वास्तविकता का उद्घाटन भी लेखक इस कहानी में करता दिखाई देता है। अनपढ़ और अशिक्षित होते हुए भी गोपाल वास्तविकता को समझने लगा है। उसी पर आक्रमण होता है और उसे बचाने के लिए उसी की पत्नी को पुलिस को पुजापा चढ़ाना पड़ता है। दरोगा के लिए दिए गए पचास रुपयों में से आधे रास्ते में ही मुखिया अपनी अंटी में रख लेता है। जब वह गोपाल को विश्राम दिलाने की कोशिश करता है कि सत्यनारायण की कृपा से ही वह आज पुलिस के चंगुल से बचा है तो किंचित् आक्रोश में गोपाल कहता भी है, 'सत्यनारायण की महिमा नहीं, यह अंधेर है। '[4] हिंदू और मुसलमान दोनों ही धर्म का इस्तेमाल कैसे अपने-अपने ढंग से अपने स्वार्थ के लिए करते हैं, इसके संकेत कहानी की बनावट में जगह-जगह पर मिलते हैं। दरोगा तक्वे व तहारत के बडे पाबंद हैं और पांचों वक्त की नमाज पढते हैं, तीसों रोजे रखते हैं, ईदों में धूमधाम से कुर्बानियां देते हैं। लेकिन वह इतने बुद्धिमान भी हैं कि अपने धर्म को कहीं भी अपने पेशे पर हावी नहीं होने देते हैं...'दरोगाजी निहायत कारगुजार अफसर थे गालियों में मात करते थे। सुबह को चारपाई से उठते ही गालियों का वजीफा पढ़ते थे। मेहतर ने आकर फरियाद की...हजूर अंडे नहीं हैं, दरोगाजी हंटर लेकर दौड़े और उस गरीब का भरकुस निकाल दिया। सारे गांव में हलचल पड़ी हुई थी। '[5] वे रोजे-नमाज और किसानों की निर्मल लूट एवं अत्याचार की दो नावों पर एक साथ सवारी की कला में कमाल हासिल कर चुके हैं। इसी तरह गोपाल के पिटने और पुजापा चढ़ाने के बावजूद मुखिया और दूसरे लोग उसे सत्यनारायण की

कथा के लिए भी उकसाते हैं...यह अलग बात है कि वास्तविकता से परिचित हो जाने के कारण वह उनके षड्यंत्र का शिकार नहीं होता है। 'अमृत ' में लेखक प्रेम को अमृत का पदार्थ मानता है जो जीवन की पूर्णता के लिए अनिवार्य है। 'होली की छुट्टी ' में प्रेमचंद का अपना निजी रंग ही नहीं दिखाई देता है, उनके निजी जीवन के बहुत-से अनुभव इस कहानी में बड़े आकर्षक ढंग से चुने गए हैं। स्कूल का माहौल और अध्यापक का अभिशप्त जीवन, काम और अनुशासन के नाम पर हेडमास्टर द्वारा अध्यापक को परेशान करने की मनोवृत्ति और सबसे अधिक गुड़ के प्रति प्रेमचंद की अपनी असाधारण कमजोरी। इन सारी बातों का वर्णन इस कहानी में बड़े आकर्षक ढंग से हुआ है। वैसे चरित्र--विल जैक्सन--इस कहानी के केंद्र में भी है और उसी आदर्शवादी तर्ज पर उनका आदर्श भी यहां मौजूद है लेकिन वह आकस्मिक हृदय परिवर्तन से नितांत भिन्न प्रकार की चीज है। किसानों की सेवा का जो व्रत उन्होंने लिया है वह उनके फौजी जीवन के अनुभव और अंग्रेजी की जनविरोधी पक्षपातपूर्ण नीतियों की ही जैसे एक सक्रिय प्रतिक्रिया हो। सिर्फ प्रायश्चित ही नहीं, बल्कि उसके बाद एक सार्थक कर्म की भूमिका को कहानी के केंद्र में रखकर लेखक अपनी सोच में परिवर्तन और विकास का संकेत देने लगता है...।

अपनी सरकारी नौकरी के सिलसिले में, महोबा प्रवास के दौरान, प्रेमचंद ने उस क्षेत्र के इतिहास और लोककथात्मक तत्वों के आधार पर जिन कहानियों की रचना की, उससे कई बातें साफ होती हैं। प्रेमचंद इतिहास के विद्यार्थी थे और इस विषय में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। उस समय तक वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से भारतीय इतिहास की पुनरूत्थानवादी भूमिका की सीमाएं उनके आगे पर्याप्त स्पष्ट थीं। राजपूती आन-बान के उस युग को वह बड़े निःशंक भाव से 'अंधेरा युग ' कहते हैं, 'जबकि आपसी फूट और बैर की एक भयानक बाढ़ मुल्क में आ पहुंची थी।'[6] 'रानी सारंधा ', 'राजा हरदौल ', 'मर्यादा की बेदी', 'पाप का अग्निकुंड ' और आल्हा ' आदि कहानियों में जहां वह तत्कालीन इतिहास के इन वीर नायक-नायिकाओं के व्यक्तिगत शौर्य, साहस और त्याग की प्रशंसा करते हैं वहीं वह उनके जन-विरोधी सामंती मूल्यों, अदूरदर्शी नीतियों और झूठी आन-बान के नाम पर आपसी कलह और फूट की भर्त्सना भी करते हैं। एक लेखक के रूप में वह इस कोशिश में भी लगे दिखाई देते हैं कि अपने इन वीर नायक-नायिकाओं के व्यक्तिगत चारित्रिक गुणों का उपयोग वह अपने राष्ट्रीय संदर्भों में कर सकें। आल्हाऊदल जब एक षड्यंत्र के कारण रूठकर महोबा से कन्नौज चले जाते हैं और पृथ्वीराज के आक्रमण के अवसर पर रानी के

संदेश पर भी अपने व्यक्तिगत अपमान के कारण आने को मना कर देते हैं तो उनकी मां उन्हें मातृभूमि की रक्षा का उलाहना देती है- यही कि उनकी मातृभूमि कन्नौज नहीं महोबा है और वह इस समय संकट में है इस उलाहने का असर भी होता है। 'राजहठ ' में कुंवर इंदरमल नई रोशनी और शिक्षा के प्रभाव से अपने पिता देवमल की सामंती ऐंठ, विलासिता और रखरखाव का विरोध करता है और रियासत में निर्मम शोषण की शिकार जनता का पक्ष लेता है। अपनी इन कहानियों में प्रेमचंद इस ओर भी सचेत दिखाई देते हैं कि वह इतिहास के सबक पर साधारण ढंग से टिप्पणी कर सकें और गलतियों की पुनरावृत्ति से देश को बचा सकें। 'आल्हा ' का पृथ्वीराज एक वीर पुरुष है जो गाफिल हाल में शत्रु पर हमला करना अनैतिक समझता है। लेकिन शहाबुद्दीन गौरी के मामले में उसके यही निकम्मे आदर्श स्वयं उसके और पूरे देश के पतन का कारण भी बनते हैं। 'राजा हरदौल ' में बड़े भाई जुझारसिंह की अनुपस्थिति में शत्रुओं को परास्त करने में दिखाया गया उसका सारा शौर्य चंद सामंती सनकों के आगे व्यर्थ हो जाता है। हरदौल का विषयुक्त पान का बीड़ा खाकर आत्मदान करना व्यक्तिगत शौर्य और बलिदान का एक अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करता है। लेखक उन सामंती मूल्यों को लेकर पर्याप्त कटुता से काम लेता है जो हरदौल की मृत्यु के लिए जिम्मेदार हैं। इसी तरह 'रानी सारंधा ' में एक ओर यदि लेखक राजा सम्पतराय और रानी सारंधा के व्यक्तिगत शौर्य और बलिदान का अंकन सराहनापूर्ण ढंग से करता है तो दूसरी ओर उन कुरीतियों, अकारण जिद और छोटी-छोटी सनकों की भर्त्सना भी करता है जो उनका विनाश करके प्रकारांतर से पूरी जाति और देश को कमजोर करते रहने का कारण बनती हैं। भाषा की जिस सादगी और प्रभाव के लिए प्रेमचंद जन काव्य 'आल्हा ' की प्रशंसा करते हैं, अप्रत्यक्ष रूप से जैसे वह स्वयं अपने भाषिक और अभिव्यक्ति संबंधी आदर्शों की ओर संकेत कर देते हैं। 'बयान करने का तर्ज ऐसा सादा और दिलचस्प और जुबान आमफहम है कि उसके समझने में जरा भी दिक्कत नहीं होती। वर्णन और भावों की सादगी कला के सौंदर्य का प्राण है। "

प्रेमचंद मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों में गहरी आस्था रखने वाले लेखक हैं। दूसरे दौर की उनकी कहानियां, जो मोटे रूप में सन्' 20 तक चलता है, रह-रहकर उनके इसी विश्वास को प्रकट करती हैं कि आत्यंतिक रूप से मनुष्य कभी बुरा नहीं होता और न ही उसके सुधार और विकास की संभावनाएं कभी निःशेष होती हैं। ऐसा नहीं है कि वह आदमी की क्षुद्रताओं को नहीं देखते लेकिन उन पर अपने को केंद्रित न करके, उनकी एक झलक मात्र देकर आगे बढ़ जाते हैं। इसीलिए उनकी इन

कहानियों का रचना संसार अधिकांश में छल-छद्म से मुक्त, भोले, निश्चल और आस्थावान लोगों का संसार है। अगर किसी कारणवश उनमें से कुछ लोग कभी बहकते भी हैं तो फिर जल्दी ही वे अपनी गलती स्वीकार करके, एक गहरे पश्चाताप की भावना के साथ, ठीक रास्ते पर आ जाते हैं। इस सबके लिए लेखक की हैसियत से जहां मानवीय सद्प्रवृत्तियों में उनकी आस्था जिम्मेदार है वहीं गांधीवाद का हृदय परिवर्तन वाला सिद्धांत भी उन्हें इस दशा में गहराई से प्रभावित करता दिखाई देता है। वैसे हृदय परिवर्तन को आधार बनाकर लिखी गई कहानियां उनकी कहानियों के परवर्ती दौर में भी आसानी से मिल जाती हैं। लेकिन वहां उनकी संख्या के अनुपात में एक गुणात्मक अंतर भी अवश्य दिखाई देता है।

गांधीवादी सिद्धांतों और आचरण के प्रति अपने गहरे विश्वास के कारण ही प्रेमचंद कहानी में यथार्थ को अपर्याप्त मानकर टिप्पणी करते हैं....'उसमें कल्पना की मात्रा कम अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है.....'[8] इसके बाद थोड़ा आगे चलकर जो लिखते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थवाद को वह यथार्थता एवं प्रकृतिवाद से अलग करके नहीं देख पा रहें और इस मामले में अभी उनकी दृष्टि बहुत साफ नहीं है...'और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें तो उसमें कला कहां है। कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि यथार्थ मालूम हो। उसका मापदंड जीवन के मापदंड से अलग है।[9] यही कारण है कि इस काल की अधिकांश कहानियों में हमें पात्र और उनका परिवेश तो यथार्थ दिखाई देता है लेकिन इन पात्रों के आचरण और उसे प्रभावित करने वाली सोच अपने मूलरूप में यथार्थ विरोधी ही है कोई चाहे तो रिवाज के मुताबिक उसे 'आदर्शवादी ' भी कह सकता है।

इसी दौर की उनकी प्रतिनिधि कहानियों में 'बड़े घर की बेटी ', 'नमक का दरोगा', 'दुर्गा का मंदिर ', 'सज्जनता का दंड ', 'पंच परमेश्वर ' और 'मृत्यु के पीछे ' आदि को लिया जा सकता है। ' 'बड़े घर की बेटी ' में प्रेमचंद इस बात को महसूस करते दिखाई देते हैं कि संयुक्त परिवार प्रथा के प्रति उनके गहरे मोह के बावजूद उसको लंबे समय तक जिलाए रखना मुश्किल है। श्रीकंठ के पिता और ससुर दोनों ही जमींदार हैं लेकिन सामंती रखरखाव और आचार के कारण हालत खस्ता हो चुकी

है। श्रीकंठ के अपने यहां जिस दरवाजे पर कभी हाथी झूमता था वहां अब एक मरियल-सी भैंस बंधी है जिसको खिलाने-पिलाने की चिंता से मुक्त लोग उसके पंजर में से दूध काढ़ने को हर वक्त उतावले रहते हैं। उसके ससुर के सात बेटियां हैं और उनमें से तीन की ही शादी में उनका आर्थिक ढांचा बुरी तरह चरमरा गया और वह कर्ज में डूबे हुए हैं। श्रीकंठ बी.ए.करके भी संयुक्त परिवार प्रथा की वकालत और गांव में होने वाले धार्मिक उत्सवों-आयोजनों में गहरी रुचि रखता है। अपनी पत्नी आनंदी से अपने छोटे भाई लालबिहारी की उद्दंडता की बात सुनकर, दाल में डाले जाने वाले घी को लेकर कहा-सुनी और उसके मैके को लेकर ताने-तिश्ने के बाद खडाऊं उठाकर मार देता है, वह आगबबूला हो जाता है और संयुक्त परिवार को लेकर उसका सारा उत्साह इस एक ही चोट से ढहने लगता है। इस अनहोनी स्थिति का तमाशा देखने के लिए किसी न किसी बहाने, आस-पड़ोस के लोग जुड़ने लगते हैं। जगहसाई से बचने के लिए पिता होशियारी से काम लेते हैं। लेकिन अपनी जिद और क्रोध में श्रीकंठ विनम्रता के उनके बदले हुए पैंतरे को जरा समझना ही नहीं चाहता। इस सारे आघात को सह्य बनाने के लिए प्रेमचंद जिन स्थितियों की कल्पना करते हैं वे कैसी भी जटिलता से मुक्त हैं और मानवीय सद्प्रवृत्तियों में विश्वासवाले उनके आरोपित आदर्शवाद की देन हैं। लालबिहारी गुस्से में भले ही कुछ कह और कर बैठा हो लेकिन श्रीकंठ के लिए उसके मन में गहरा आदर है--पिता से भी ज्यादा उसके सामने न तो वह कभी बोलता है अगर न ही खाट पर बैठता है-- पान और हुक्के की तो बात ही अलग है। श्रीकंठ उसे बहुत चाहते हैं। जब भी इलाहाबाद से लौटते हैं उसके लिए कुछ न कुछ लेकर आते हैं। पिछली बार मुगदरों की जोड़ी लाए थे। एक बार नागपंचमी पर उसके कुश्ती जीतने पर पूरे पांच रुपए के पैसे लुटाए थे। और स्वयं आनंदी भी गुस्से में आकर पति से सब कुछ कहने के लिए पछता रही है-- अपनी जीभ को आग लगने की बात कहती हुई वह अपनी मूर्खता को कोसती है। लालबिहारी के रोने और क्षमा मांगने से उसका रहा-सहा क्रोध भी जाता रहता है और स्वयं ही श्रीकंठ से उसे अंदर बुला लेने को कहती है--अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूट कर रोए। '[10] दोनों भाइयों को इस तरह भरत मिलाप की मुद्रा में देखकर उनके पिता बेनीमाधव सिंह भी पुलकित हो उठते हैं और आनंदी की प्रशंसा करते हुए गद्गद् भाव से कहते हैं कि बड़े घर की बेटियां ऐसी ही होती हैं, बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं...। इस कहानी में एक कल्पित आदर्शवादी परिणति और निष्कर्ष के लिए

प्रेमचंद जो पद्धति अपनाते हैं वस्तुतः वह यथार्थवाद के विरोध में ठहरती है और इस कारण लालबिहारी एक मामूली-सी बात पर उन्हीं की पत्नी के साथ इस कदर उद्दंड भी हो सकता है यह बात कहानी में कल्पित स्थितियों के विरोध में बैठती है। दरअसल यह सारी आदर्शवादी टीप-टाप संयुक्त परिवर प्रथा की ढहती हुई दीवारों की रोकथाम के लिए ही की गई है जो एक तरह से पूंजीवादी समाज रचना के बढ़ते हुए प्रभाव को अनदेखा करके, इतिहास और समय के विरुद्ध अपने निजी मोह को वरीयता देने का परिणाम है।

मानवीय सद्प्रवृत्तियों को प्रेमचंद प्रायः ही एक ढाल की तरह इस्तेमाल करते दिखाई देते हैं और नेकी तथा ईमानदारी की हर लांछना-प्रताड़ना को उसी पर रोकते हैं। 'नमक का दारोगा ' में मुंशी वंशीधर पंडित अलोपीदीन से चालीस हजार रुपए की घूस का प्रस्ताव भी दृढ़तापूर्वक ठुकरा देते हैं। वह यह जानते हैं कि अलोपीदीन इस क्षेत्र के बहुत असरदार आदमी हैं और जल्दी उनके असर का प्रमाण भी उन्हें मिल जाता है। एक सप्ताह बीतते न बीतते वह मुअत्तिल कर दिए जाते हैं। लेकिन प्रेमचंद की कहानी इस मुअत्तिली पर ही खत्म नहीं हो जाती है। उसमें अलोपीदीन मुंशी वंशीधर से हारकर भी अपनी सद्प्रवृत्ति का परिचय देते हैं और एक दिन वंशीधर के यहां आकर ऊंचा वेतन और अन्य सुविधाएं देकर उन्हें अपनी जमींदारी का मैनेजर नियुक्त कर देते हैं। वह उनकी कर्तव्यनिष्ठा के आगे पानी-पानी हो गए हैं और वंशीधर द्वारा उनके इस प्रस्ताव को ठुकरा देने से उन्हें चोट पहुंचेगी।..."वंशीधर की आंखें डबडबा आईं। हृदय का संकुचित पात्र इतना अहसान न समा सका। एक बार फिर पंडितजी की ओर भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखा और कांपते हुए हाथ से मैनजरी के कागज पर हस्ताक्षर कर दिए।... लेकिन सवाल यह है कि सद्प्रवृत्तियों के प्रति यह आत्यंतिक आग्रह वर्ग चरित्र के प्रति क्या लेखक की दृष्टि को धुंधलाता नहीं है। अलोपीदीन, आज की भाषा में एक समाज विरोधी तत्व हैं, चोरी, भ्रष्टाचार और काला धन जिनके व्यवसाय के खास अंग हैं, जाहिरा तौर पर रिश्वत में चालीस हजार रुपए कोई ऐसा ही आदमी दे सकता है। लेकिन प्रेमचंद की सद्प्रवत्तियों वाला यह आग्रह उन्हें भी एक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति की भक्ति और श्रद्धा के दायरे में खींच लाता है। इसी तरह 'सज्जनता का दंड ' में डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सरदार शिवसिंह को ईमानदारी से काम करने का सिला उनकी बदली और तनज्जुली के रूप में मिलता है। लेकिन इस कहानी में आरोपित सद्प्रवृत्तियों वाला कोई सैद्धांतिक आग्रह नहीं है। इसके विपरीत व्यंग्य की एक प्रदत्त अंतर्धारा इसमें सदैव विद्यमान

रहती है जो स्थितियों को सही परिप्रेक्ष्य देती है। परवर्ती कहानी से, इसी शैली का चरम विकास हमें अमरकांतकी कहानियों में दिखाई देता है।

'पंच परमेश्वर ' इस भावुक और भोले विश्वास को प्रकट करती है कि पंच की जबान पर ईश्वर का वास होता है--पंच न किसी का दुश्मन होता है और न दोस्त। जब खाला जुम्मन को पंचायत की धमकी देती है तो जुम्मन खुश होता है...'जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ जाते देखकर मन ही मन हंसता है...'[12] इससे पंचायत में अपनी स्थिति का विश्वास जुम्मन में प्रकट होता है। अलगू चौधरी से जुम्मन की गहरी दोस्ती के बावजूद खाला उसे ही अपना पंच बनाती है। पहले जुम्मन के विरोध में अलगू का फैसला, और बाद में अलगू के पक्ष में जुम्मन का फैसला, जिसका संयोग उसे जल्दी ही मिल जाता है, वस्तुतः लेखक इस निष्कर्षात्मक टिप्पणी को ही उद्धृत करते हैं, 'अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ प्रदर्शक बन जाता है। '[13] लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के दबावों और जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य में स्थिति का ऐसा कोई सरलीकृत निष्कर्ष व्यर्थ ही नहीं गलत भी साबित होता है। संभवतः इसीलिए रांगेय राघव इसी शीर्षक से कहानी लिखकर भिन्न और विरोधी निष्कर्षों की ओर जाते दिखाई देते हैं। 'दुर्गा का मंदिर' और 'आत्माराम ' जैसी कहानियां भी अकारण संयोगों, निश्चल विश्वासों, भावुक, सद्प्रवृत्तियों और हृदय परिवर्तन के सिद्धांत पर आधारित कहानियां हैं जो वैचारिकता की दृष्टि से प्रेमचंद की कमजोर कहानियों की श्रेणी में ही आती हैं। इसी दौर की कहानियों में 'मृत्यु के पीछे ' कई कारणों से एक महत्त्वपूर्ण कहानी कही जा सकती है। लगता है जैसे 'मृत्यु के पीछे ' के ईश्वरचंद्र के रूप में प्रेमचंद अपनी ही व्यथा कथा लिख रहे हों। ईश्वरचंद्र एक राष्ट्रभक्त और कर्तव्यनिष्ठ पत्रकार हैं जो विपरीत और विरोधी स्थितियों में भी अपनी निष्ठा की ज्योति बुझने नहीं देते। कठिन आर्थिक संघर्ष के बावजूद वह अपने पत्र 'गौरव ' को उसके नाम के अनुरूप ही निकालते रहे हैं-- बहुत कुछ एक तरह की जिद और नशे की हालत में। वकालत को लात मारकर वह इस ओर आए हैं जिसका सबसे अधिक विरोध स्वयं उनकी पत्नी मानकी की ओर से होता है। वह उनसे पूछती भी है, 'बता दो कोई उच्च शिक्षा प्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया हो। जिसे कुछ नहीं सूझती, जिसके पास न कोई सनद है, न कोई डिग्री, वह पत्र निकाल बैठता है और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही संतोष करता है। '...किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्त्वकांक्षाओं को

खाक में मिलाकर त्याग और विराग में उम्र काटे। हां, जिनको सनक सवार हो गई हो, उनकी बात निराली है...। "[14]

यह छोटी-सी कहानी ईश्वरचंद्र के पत्रकारिता से संबंधित जीवन के प्रायः तीन दशकों को समेट कर चलती है जिससे फिर यह अहसास होता है कि प्रेमचंद अपने निजी जीवन की आस्था और निष्ठा को ही जैसे ईश्वरचंद्र के माध्यम से व्यक्त कर रहे हों। ईश्वरचंद्र के आगे भी पत्रकारिता का केवल एक ही उद्देश्य है कि उसके माध्यम से वह जातीय और राष्ट्रीय महत्त्व के संदर्भों से जुड़े रह सके। ईश्वरचंद्र अपने को मजदूर वर्ग का हामी मानते हैं और उनके हितों से जुड़कर चलने में ही अपनी पत्रकारिता की सार्थकता देखते हैं। बुढ़ापे की आमद उनके संघर्ष को धीमा कर देती है लेकिन मन में उनके अब भी वही हौसला कायम है। उनकी हार्दिक इच्छा है कि उनका बड़ा लड़का कृष्णचंद्र उनके साथ शामिल हो जाए और उनके काम को अपने नये खून से एक नया रंग देने में उनकी मदद करे। कृष्णचंद्र की रुचि भी इस ओर है। लेकिन अपनी पत्नी के कारण उसे इस ओर लाने की उनकी हिम्मत नहीं होती। वैसे 'मृत्यु के पीछे ' में भी मानकी का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है, पति की मृत्यु के बाद वह उनका राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान देखकर अपनी भूल स्वीकारती है। और कृष्णचंद्र को उनका अधूरा काम आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करती है, लेकिन उसमें घटित यह परिवर्तन लेखक के सैद्धांतिक आग्रह और इच्छा का परिणाम न होकर वास्तविक स्थितियों का ही स्वाभाविक प्रतिफल है। ईश्वरचंद्र के प्रति सम्मान प्रदर्शन की अतिरंजनाओं को बचाकर कहानी को कदाचित और भी प्रभावशाली बनाया जा सकता था।...

'हंस ' के आत्मकथा अंक में प्रकाशित अपनी संक्षिप्त आत्मकथा 'जीवनसार ' में प्रेमचंद ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि कहानियां लिखने की शुरूआत उन्होंने सन् 1907 से की जबकि उपन्यास वह पहले से लिखते रहे थे। प्रेमचंद की आरंभिक और हिंदी-उर्दू पत्रिकाओं में बिखरी हुई कहानियों को दो भागों में संकलित करते हुए अमृतराय ने पर्याप्त खोजबीन के बाद उनकी कहानियों की संख्या, 'गुप्तधन ' दोनों खंडों में संकलित 56 कहानियों सहित 266 निर्धारित की है। उन्होंने यह अनुमान भी प्रकट किया है कि अभी भी तीस-चालीस कहानियां और मिलनी चाहिएं जो पत्र-पत्रिकाओं में दबी पड़ी हैं और तत्कालीन पत्रों की संपूर्ण फाइलें उपलब्ध न होने के कारण वे प्रकाश में नहीं आ पा रही हैं। यदि अमृतराय के इस अनुमान को सत्य माना

जाए तो प्रेमचंद द्वारा लिखी गई कहानियों की संख्या सहज ही तीन सौ के आसपास पहुंच जाती है।

उपन्यासों और पत्रकारिता के साथ ही रोजमर्रा की साधारण जिंदगी की सारी जिम्मेदारियों के बीच तीन दशकों में इतनी बड़ी संख्या में कहानियों का लिखा जाना ही इस बात का प्रमाण है कि यह एक पूरी तरह से समर्पित लेखक की एकांत साधना का प्रतिफल है। अमृतराय ने इस वस्तुस्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, 'उनका लिखना अवकाश को भरने के लिए नहीं है, उन्हें लिखने के लिए अवकाश पैदा करना पड़ता था और वह इसी तरह पैदा होता था कि उन्होंने अपनी जिंदगी अमन से और सब बातें काटकर निकाल फेंकी थीं और एकांत भाव से साहित्य रचना में लग गए थे। यह एक गृहस्थ योगी की, साधक की, भक्त की निर्मम तुच्छ साधना थी। साहित्य को किसी महान व्यावहारिक लक्ष्य से जोड़ना उनके संपूर्ण जीवन की उपलब्धि और आंतरिक विवशता थी। '[15]

ऐसी स्थिति में इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि रचनात्मकता की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियां प्रायः ही दो विषम स्तरों की अनुभूति छोड़ती हैं और कमोबेश उनके लेखन के हर दौर में उनकी अच्छी और बुरी कहानियां एक साथ मिल जाती हैं। वैचारिकता की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियां यदि सामाजिक सोद्देश्यता, सांप्रदायिक सद्भाव जातीय एकता और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के लिए उदाहरण का काम देती हैं तो वहीं कुछ ऐसी कहानियां भी अवश्य मिल जाती हैं जो उनके सारे प्रगतिशील चिंतन पर प्रश्नचिह्न लगा देती हैं और उनके लेखन की मूलधारा से एकदम अलग-थलग पड़ जाती हैं। उनकी ऐसी कहानियों में 'झूठ', 'नाग पूजा', और 'भूत' आदि उनके उपन्यास 'कायाकल्प' की ही भांति पारलौकिकता में उनके विश्वास का संकेत छोड़ती दिखाई देती हैं। 'मंत्र' में वह सांप्रदायिक सद्भाव के मोर्चे पर जीवन-भर सन्नद्ध भाव से लड़ते रहने की बात भुलाकर, सनातन हिंदू धर्म की विजय पर प्रसन्न होकर सांप्रदायिक विद्वेष की सरहद में चले जाते दिखाई देते हैं। इसी तरह 'शांति' और 'दो सखियां' आदि कहानियों में वह बड़े यांत्रिक ढंग से ऐसे निष्कर्ष निकालते दिखाई देते हैं कि जो उन्हें स्त्रियों की आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में खड़ा कर देते हैं जब कि सच्चाई यह है कि अपने पूरे लेखन में वह सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों और अशिक्षा को ही स्त्रियों और दलित वर्ग की दुर्दशा का मूल कारण मानकर गहरी संचित घृणा और अदम्य उत्साह के साथ इनके खिलाफ मोर्चा बांधे रहे

हैं।...इसीलिए उचित यही है कि प्रेमचंद की परवर्ती दौर की कुछ पूर्वचर्चित और महत्त्वपूर्ण कहानियों को लेकर आज के परिवर्तित संदर्भों में उनकी उपलब्धियों और सार्थकता की खोज की जाए।...

प्रेमचंद ने 'सोज़ेवतन ' से कहानी को जातीय और राष्ट्रीय सवालों से जोड़ने की जिस परंपरा का सूत्रपात किया था उसका सुविकसित रूप ही उनकी 'आहुति', 'जुलूस ', 'समरयात्रा ' और सत्याग्रह ' आदि कहानियों में दिखाई देता है। उनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी ' को भी मैं इसी वर्ग में रखने की सिफारिश करूंगा। पहली बार कहानियां यदि राष्ट्रीय आंदोलन के प्लावनकारी वेग का संकेत देती हैं।

जहां देश की सामान्य जनता आजादी के लिए अपना सब कुछ होम कर देने को कृतसंकल्प थी वहीं इस देश में अमीरों, जमींदारों और रियासतों के राजा-महाराजाओं का एक ऐसा वर्ग भी था जो कभी सक्रिय होकर और निष्क्रिय रहकर इस राष्ट्रीय उभार को दबाने और कुचलने में ब्रिटिश साम्राज्य की मदद कर रहा था। 'शतरंज के खिलाड़ी ' के मिर्जा सज्जाद अली और मीर रोशन अली इसी वर्ग के वास्तविक प्रतिनिधि हैं जो देश के सवालों, समस्याओं और परिवर्तनों से किसी किस्म का कोई सरोकार न रखकर अपनी पुश्तैनी जायदाद के सहारे पलने और ऐश करने के लिए बच रहे हैं, 'संसार में क्या हो रहा इसकी किसी को खबर न थी...।'[16] इनकी विलासी प्रवृत्ति और राष्ट्रीय चिंता के प्रति असंलग्नता के भाव पर यह टिप्पणी बहुत कुछ नाटकों के कोरस का काम करती है...'जब हमारे रईसों का यह हाल है तो मुल्क का खुदा ही हाफिज है...।'[17] किन्हीं अज्ञात कारणों से मीर रोशन अली की बेगम नहीं चाहती कि वह चौबीसों घंटे शतरंज के नाम पर घर पर अड्डा जमाए रहें। अतः इस सिरदर्द से छुट्टी पाने के लिए वह बादशाही फौज का एक सिपाही भेजवाकर मीर की तरबी का षड्यंत्र रचती है। उस सिपाही को देखते ही मीर की आत्मा कांप उठती है और अगले दिन उससे बचने के लिए, मिर्जा के सुझाव पर, वह गोमती के पास कहीं वीराने में शतरंज का नक्शा जमाना शुरू कर देते हैं। ब्रिटिश सेना के लखनऊ में प्रवेश और वाजिदअली शाह की गिरफ्तारी से जिन लोगों को रत्तीभर फर्क नहीं पड़ता और इस सबसे एकदम बेपरवाह रहते हुए अपने एक बेहद मामूली स्वार्थ के लिए, शतरंज की एक बाजी की मामूली-सी हार-जीत को लेकर, तलवारें खींच लेते हैं और वीर योद्धाओं की तरह एक दूसरे को जख्मी करके मर जाते

हैं। जातीय और राष्ट्रीय महत्त्व के सवालों से बेखबर रहकर, अपने छोटे-छोटे हितों और स्वार्थों को ही सब कुछ समझ लेने वाली स्थिति और लोभ पर इससे सटीक व्यंग्य की कल्पना मुश्किल है।

'आहुति ' का आनंद भी प्रायः इसी जहनियत का आदमी है। फर्क बस इतना है कि वह कांग्रेस के नाम में इसलिए थोड़ी बहुत दिलचस्पी लेने लगता है क्योंकि रूपमणि, जो एक प्रबुद्ध और आधुनिक युवती होने के साथ ही उसकी सहपाठिनी भी है, इस आंदोलन में दिलचस्पी लेती रही है। इस आनंद के मुकाबले विशम्भर एक गरीब राष्ट्रभक्त छात्र है जो रानीगंज में एक सभा को संबोधित करते हुए पकड़ा जाता है और उसे दो वर्ष की सजा हो जाती है। रूपमणि आनंद की जोखिम से बचने वाली बुर्जुआ प्रवृत्ति के मुकाबले विशम्भर के त्याग और कर्मठता से आकृष्ट होती है और उससे प्रेरणा लेकर पूरी तरह से अपने को आंदोलन की धारा में छोड़ देती है। वास्तविक स्वराज्य की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुए कहती है, "अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थांध बना रहे, तो मैं कहूंगी ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनों की धन लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीछे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं? कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविंद बैठ जाएं। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूं, जहां कम-से-कम विषमता को आश्रय मिल सके।"[18]

'समरयात्रा ' और 'जुलूस ' में प्रेमचंद राष्ट्रीय आंदोलन में आम जनता के उत्साह को अंकित करते हैं। इन कहानियों का रचना संसार 'सोजेवतन ' की कहानियों की तरह अमूर्त न होकर एकदम ठोस और यथार्थ संसार है जो महात्मा गांधी के नेतृत्व में शताब्दी के तीसरे दशक में अपूर्व निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ इस राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ रहा था। प्रेमचंद अभी भी महात्मा गांधी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं लेकिन इन कहानियों में वह उस प्रभाव की विधायक भूमिका को भी अधिकांश में अंकित करते हैं। हृदय परिवर्तन और राजनीति में तथाकथित धार्मिक तालमेल के बदले वह एक अभूतपूर्व विशाल जनजागृति को ही इन कहानियों के केंद्र में रखकर चलते हैं।

'समरयात्रा ' की बूढ़ी नोहरी दोपहरी की धूप की तरह कांपकर दरोगा की ले-दे करती है। कोदई एक नेता के रूप में गर्व के साथ अपनी गिरफ्तारी देता है। आगे के लिए नोहरी के निर्देशानुसार बाकायदा जत्था बनता है और वालियंटरों की सूची तैयार की जाती है जिसमें हिंदू भी हैं और मुसलमान भी। इस व्यापक जनजागृति के फलस्वरूप परिवर्तन मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए लेखक लिखता है...'ज्यों ही, पराधीनता का आतंक दिल से निकल गया आपको स्वराज्य मिल गया। भय ही पराधीनता है, निर्भयता ही स्वराज्य है।'[19]

'जूलूस का नेतृत्व बूढ़े इब्रांहीम खां के हाथ में है। जुलूस पर हुए लाठीचार्ज के फलस्वरूप वह बुरी तरह जख्मी हो जाते हैं और वसीयत करते हैं कि उनकी लाश को गंगा में नहलाकर दफन किया जाए। राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में जातीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव प्रेमचंद की इन कहानियों की एक खास विशेषता है। कभी-कभी अपने विदेशी आकाओं को खुश करने के लिए हमारे ही भाई-बंधु, जो सरकारी यंत्रों का एक हिस्सा थे, इस आंदोलन को कुचलने में कुछ ज्यादा ही उत्साह से काम लेते थे। लेकिन प्रेमचंद इस तथ्य की ओर जब-तब संकेत करते हैं कि उनसे हमारी कोई शत्रुता नहीं है। कभी आंतरिक पश्चातापवश और कभी किसी ब्राह्य प्रेरणा से ये लोग 'जूलूस ' के दरोगा वीरबल सिंह की तरह अपना रास्ता बदल भी लेते हैं। 'सत्याग्रह ' में लेखक यह दिखाने की कोशिश करता है कि इस जन-आंदोलन के असाधारण उभार से भयभीत होकर ब्रिटिश सरकार किस प्रकार धार्मिक भावनाओं की आड़ में इस आंदोलन को असफल करने और दबाने का षड्यंत्र रचा करती थी।'

भारतीय ग्राम जीवन का अंकन प्रेमचंद के लिए मात्र एक आंदोलन या नारा नहीं था। प्रेमचंद इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि अपनी सारी सादगी, सहजता और सदिच्छा के बावजूद ध्वंस प्रायः सामंती व्यवस्था और नवागत पूंजीवाद के दोहरे दबाव के फलस्वरूप भारतीय किसान की नियति को बदल पाने के लिए एक गहरा और निर्णायक संघर्ष अपेक्षित है। तीसरे दशक का अंत होते-होते देश की राजनीति और अपनी समाज रचना की पहचान का वह एक बेहतर और वयस्क परिचय देने लगते हैं। 'गृहदाह ' और 'अलग्योझा ' जैसी कहानियों में संयुक्त परिवार प्रथा के प्रति उनका मोह अलबत्ता अभी भी किसी हद तक बना रहता दिखाई देता है। लेकिन इसके साथ ही पीड़ित दलित वर्ग के अभिशप्त जीवन, उन पर होने वाले अत्याचार, बेगार और उनके निर्मम शोषण के बड़े यथार्थ, आत्मीय और प्रामाणिक चित्र इस दौर की कहानियों में सहज ही देखे जा सकते हैं। कठोर मेहनत के बावजूद किसान

गरीब, अभिशप्त और फटेहाल हैं क्योंकि जमींदार, कारिंदे, पुलिस और धर्म के ठेकेदार सबके सब जोंक की तरह चिपटकर दृश्य-अदृश्य रूप में उनका खून चूस रहे हैं। अपने निबंध 'महाजनी सभ्यता ' में इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं, 'मनुष्य समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।'[20] स्थिति कितनी भीषण और विषम हो चुकी है इसका संकेत वह बड़े पुरदर्द ढंग से करते हैं...'यह हवा इतनी जहरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। शोषण को अपना अधिकार मानकर चलने वाली इस व्यवस्था से मुक्ति का उपाय केवल एक है--इस समूची व्यवस्था का विनाश और एक वैकल्पिक व्यवस्था का निर्माण। एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम में उदय हो रहा है जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फैला दी है।'[21]

शोषण और अत्याचार पर आधारित इस व्यवस्था का भयावह रूप 'सवा सेर गेहूं ', 'सद्गति ', 'ठाकुर का कुआं ', 'पूस की रात ' और 'कफ़न ' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। 'सवा सेर गेहूं ' में शंकर विप्र से लिए गए सवा सेर गेहूं के बदले, जो वह द्वार पर आए साधु के अतिथि सत्कार के लिए लेता है, जीवन-भर गुलामी का पट्टा अपने गले में डाल लेता है। खलिहानी में डेढ़ पसेरी गेहूं देकर अपने को उऋण समझ चुका था कि सात वर्ष बाद भी उसकी ओर 120 रुपए बाकी निकलते हैं। यह निर्मम शोषण उसके मन में, एक किसान से मजदूर बन गए आदमी के मन में, श्रम के प्रति निराशा और घृणा का भाव पैदा करती है...'जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन-भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मेहनत से घृणा हो गई। आशा उत्साह की जननी है। आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक है। शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें जिनको उसने साल-भर तक टाल रखा था, अब द्वार खड़ी रहने वाली भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होने वाली पिशाचनियां थीं जो अपनी भेंट के बिना जान नहीं छोड़ती।'[22] बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद जब शंकर मरता है तो सवा सेर गेहूं के कर्ज में 120 रुपए सिर पर सवार थे जिनके भुगतान के लिए उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी जाती है। कहानी के अंत में प्रेमचंद इस ओर भी अपने पाठकों को सचेत कर देते हैं कि यह कोई कपोलकल्पित कहानी नहीं

है...एक सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है। 'सद्गति' का दुखी चमार अपने नाम से भी दुखी ही है जो ईश्वर भक्त पंडित घासीराम से साइत पूछने जाता है तो उनकी गाय को घास डालने से लेकर भूसा ढोने और लकड़ी काटने तक सब कुछ भूखे ही करते रहकर सद्गति को प्राप्त होता है और चमार होने के नाते कोई उसकी लाश भी उठाने को तैयार नहीं होता है। सारी सेवा के बावजूद ये लोग नीच, कमीन और अस्पृश्य हैं जो मजबूरी में ठाकुर के कुएं का एक लोटा पानी भर लेने के हकदार नहीं हैं शेर से भी भयानक मुंह वाले ठाकुर को देखते ही गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है और घड़ा धड़ाम से हिलकोरे की आवाज़ छोड़ता हुआ पानी से सरक जाता है। बदहवासी में वह घर पहुंच कर देखती है कि जोखू लोटा मुंह से लगाए जगारे वाला ही मैला-गंदा हजार बदबूदार पानी पी रहा है।

'पूस की रात ' में जब तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते हैं हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बांस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े कांप रहा होता है। अपने कुत्ते जबरा को अपने शरीर से सटाकर वह उस सेंक को एक नियम की तरह भोगता है। सब कुछ करके भी कुछ न हो पाने की निरूपायता ही उसे अकर्मण्य बना देती है। वह नील गायों से खेत को बरबाद होते देखता रहता है और कुछ नहीं करता है। सुबह खेत की दशा देखकर हल्कू और उसकी पत्नी मुन्नी की प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है। मुन्नी इस बात को लेकर दुखी है कि अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी। लेकिन हल्कू स्थिति को लेकर प्रसन्न भी है...अब रात ठंड में यहां सोना तो न पड़ेगा।

प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न ' का आरंभ इस प्रकार है....'झोपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अंदर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुंह से ऐसी दिल हिला देने वाली आवाज़ निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गांव अंधकार में लय हो गया था....'[23] जब घीसू निःसंग भाव से कहता है कि वह बचेगी नहीं तो माधव चिढ़कर उत्तर देता है कि मरना है तो जल्दी क्यों नहीं मर जाती...देखकर भी वह क्या कर लेगा। लगता है जैसे कहानी के शुरू में ही बड़े सांकेतिक ढंग से प्रेमचंद बुझ चुके अलाव के द्वारा परिवारिक सद्भाव और ऊष्मा के चुक जाने की ओर इशारा कर रहे हैं और भाव का अंधकार में लय हो जाना मानो पूंजीवादी व्यवस्था का ही प्रगाढ़ होता हुआ अंधेरा है

जो सारे मानवीय मूल्यों--सद्भाव और आत्मीयता को रौंदता हुआ निर्मम भाव से बढ़ता जा रहा है। इस औरत ने घर को एक व्यवस्था दी थी, पिसाई करके या घास छीलकर वह इन दोनों बेगैरतों का दोजख भरती रही है और आज ये दोनों इस इंतजार में हैं कि वह मर जाए, तो आराम से सोएं। आकाशवृत्ति पर जिंदा रहने वाले बाप-बेटे के लिए भुने हुए आलुओं की कीमत उस मरती हुई औरत से ज्यादा है। उनमें कोई भी इस डर से उसे देखने नहीं जाना चाहता कि उसके जाने पर दूसरा आदमी सारे आलू खा जाएगा। हलक और तालू जल जाने की चिंता किए बिना जिस तेजी से वे गर्म आलू खा रहे हैं उससे उनकी मारक गरीबी का अनुमान सहज ही हो जाता है। घीसू को बीस साल पहले हुई ठाकुर की बारात याद आती है उसके बाद वैसा पेट-भर खाना नहीं मिला। 'कफ़न ' एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कहानी है जो श्रम के प्रति आदमी में हतोत्साह पैदा करती है क्योंकि इस श्रम की कोई सार्थकता उसे नहीं दिखाई देती है। बीस साल तक यह व्यवस्था आदमी को भर-पेट भोजन के बिना रखती है इसलिए आवश्यक नहीं कि अपने परिवार के ही एक सदस्य के मरने जीने से ज्यादा चिंता उन्हें अपने पेट भरने की होती है। औरत के मर जाने पर कफ़न का चंदा हाथ में आने पर उनकी नियत बदलने लगती है, हलके से कफ़न की बात पर दोनों एकमत हो जाते हैं..."लाश उठाते-उठाते रात हो जाएगी। रात को कफ़न कौन देखता है।"[24] और फिर उस हल्के कफ़न को लिए बिना ही ये लोग उस कफ़न के चंदे को.....शराब, पूड़ियों, चटनी, अचार और कलेजियों पर खर्च कर देते हैं। अपने भोजन की तृप्ति से ही वे दोनों मृतक की सद्गति की कल्पना कर लेते हैं। अपनी उम्र के अनुरूप घीसू ज्यादा समझदार है। उसे मालूम है कि लोग फिर कफ़न की व्यवस्था करेंगे...भले ही इस बार रुपया उनके हाथ में न आवे। नशे की हालत में माधव जब पत्नी के अथाह दुःख भोगने की सोचकर रोने लगता है तो घीसू उसे चुप कराता है-- हमारे परंपरागत ज्ञान के सहारे-- कि मर कर वह मुक्त हो गई है और इस जंजाल से छूट गई है। नशे में नाचते-गाते, उछलते-कूदते, सब ओर से बेख़बर और मदमस्त, वे वहीं गिर कर ढेर हो जाते हैं।...

संरचना की दृष्टि से उनके अंतिम दौर की कहानियां....'काश्मीरी सेव ' और 'मनोवृत्ति ' आदि..एक निश्चित परिवर्तन की सूचना देती हैं। उनकी असामयिक मृत्यु के बाद पूरे-अधूरे जो सूत्र प्रकाश के आए उनसे उनके आगे की संभावित दिशा का अनुमान लगा लेना मुश्किल नही रहा जाता। प्रेमचंद स्वयं जिस व्यवस्था का शिकार हुए वह आज मरणासन्न अवस्था में है। जिस नई वैकल्पिक व्यवस्था का नक्शा मरते

समय उनके दिमाग में था वह विकास की कितनी ही मंजिलों को पार कर चुकी है। यह अकारण नहीं है कि उस व्यवस्था के लिए संघर्ष करने वाली हर कथा-पीढ़ी प्रेमचंद से अपने को जोड़कर चलने में गहरा सुख और संतोष अनुभव करती रही है।...

संदर्भ

1. सोज़ेवतन (हिंदी संस्करण), पृ.17
2. वही, पृ.19
3. वही, पृ.51
4. गुप्तधन-1, पृ.50
5. वही, पृ.137
6. आल्हा, पृ.77
7. वही, पृ.74
8. मानसरोवर-1, भूमिका,पृ.6
9. वही,
10. मानसरोवर-7,पृ.121
11. मानसरोवर-8,पृ.280
12. मानसरोवर-7,पृ.123
13. वही,पृ.162
14. मानसरोवर-6,पृ.118
15. प्रेमचंद : कलम का सिपाही, पृ.170
16. मानसरोवर-3, पृ.263
17. वही, पृ.271
18. 'कफ़न ' और अन्य कहानियां, पृ.87-88
19. मानसरोवर-7, पृ.78
20. 'प्रेमचंद-स्मृति ' सं. अमृतराय, पृं.258
21. वही, पृ.261
22. मानसरोवर-4, पृ.194
23. 'कफ़न ' और अन्य कहानियां, पृ.1
24. वही, पृ.5

2. 'गोदान ' की संरचना

भारतीय उपन्यास मध्यवर्ग का महाकाव्य न होकर किसान चेतना की महागाथा है--इस स्थापना को जिन भारतीय उपन्यासों से विशेष बल मिला है, उनमें 'गोदान ' अन्यतम है। प्रेमचन्द की सबसे महत्त्वपूर्ण कालजयी कृति तो वह है ही, हिन्दी उपन्यास और व्यापक अर्थ में भारतीय उपन्यास के इतिहास में भी उसका अद्वितीय महत्त्व है। प्रसिद्ध कन्नड़ उपन्यासकार यू.आर. अनन्तमूर्ति ने पिछले दिनों भारतीय उपन्यास की भारतीयता जैसा सवाल उठाते हुए यह खास स्थापना की है कि उपन्यास इस विशेष अर्थ में सार्वभौमिकता पर एक तरह का आक्रमण है। इस खास मांग को महज आंचलिकता के तर्क से समझना कठिन होगा। हालाँकि अपनी बात स्पष्ट करने के लिए अनन्तमूर्ति ने जिन लेखकों का हवाला दिया है---- प्रेमचन्द, कारंत और रेणु--- वे क्षेत्र या अंचल-विशेष की संवेदना से गहरे स्तर पर सम्पन्न रहे हैं। 'गोदान ' उपयुक्त कृति है जिसकी संरचना के विश्लेषण के बहाने हम देख सकते हैं कि आचंलिकता को जीवन या परिप्रेक्ष्य के बोध से सम्पन्न करने वाली सार्थक विशिष्टता क्या है !

कहना न होगा कि 'गोदान ' किसान-जीवन के संघर्ष की ऐसी कहानी है जिसमें भारतीय समाज के दूसरे रूपों की भी झलक मौजूद है। 'गोदान ' की संरचना या बनावट में जो फाँक दिखायी देती है :शहर और गांव की कहानी के साहचर्य या समक्षीकरण के कारणः वही इस उपन्यास की चारित्रिक विशिष्टता भी है तथा उसका ऐतिहासिक सामाजिक आधार भी है। इस उपन्यास का फैलाव महत्त्वपूर्ण है--उससे प्रगीत के संगठन या अन्विति की मांग नहीं की जा सकती ! पर वह कवि-दृष्टि से वंचित नहीं है। उसकी तुलना अन्तर्मुखी मनोविज्ञान-केन्द्रित उपन्यासों से करना भी साहित्यिक न्याय के विरुद्ध होगा। 'गोदान ' की कहानी ढीली-ढाली शिथिल कथा है जिसे भारतीय समाज की मन्द-मन्थर गति या लय के अनुरूप कहा जा सकता है। इधर भारतीय उपन्यास को परिभाषित करने के लिए इसी 'मन्द-मन्थर गति ' या 'लय ' की ओर इशारा किया गया है। 'गोदान ' किसान-चेतना की महागाथा ही नहीं है, वह स्त्री-चेतना की महत्त्वपूर्ण गाथा भी है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इधर अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग ' के नये संस्करण में इस तथ्य पर बल दिया है कि 'गोदान ' की ट्रैजेडी केवल एक के चरित से नहीं, दोनों (होरी-

धनिया) के चरित से मिलकर बनी है। 'गोदान ' के पुनर्मूल्यांकन में इस पहलू पर भी विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

यह केवल संयोग नहीं है कि 'गोदान ' के आरम्भ और अन्त में स्वीकृति के अर्थ में मृत्यु का संकेत है। पहले मृत्यु का आभास और फिर प्रत्यक्ष त्रासद उपस्थिति ! एकदम आरम्भ में होरी धनिया के बीच कठिन संघर्ष के अहसास के साथ हास्य-विनोद के क्षण आते हैं। पर जैसा प्रेमचन्द ने संकेत किया है, इस क्षणिक मृदुता को यथार्थ की आँच में झुलसते देर नहीं लगती। होरी का कहना कि---'साथ तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया ! इसके पहले ही चल देंगे !'---आनेवाली कठोर मृत्यु का पूर्वाभास नहीं तो और क्या है ! और धनिया के लिए पहले ही कहा जा चुका है : 'छत्तीसवां ही साल तो था; पर सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। सारी देह ढल गयी थी, वह सुन्दर गेहुँआ रंग सँवला गया था और आँखों से भी कम सूझने लगा था !'' 'गोदान ' की ट्रेजेडी की व्याख्या करते हुए रामविलास जी ने ठीक ही कहा है कि कथा ट्रैजेडी है या नहीं, यह मृत्यु पर निर्भर नहीं है ! धनिया का चरित्र होरी से कम ट्रैजिक नहीं है। ('प्रेमचन्द और उनका युग ', पाँचवां परिवर्धित संस्करण, पृ.244) उपन्यास के अन्त में तो मृत्यु की उपस्थिति है ही ! धनिया ने मौत की सूरत देखी थी। उसे पहचानती थी। उसे दबे पाँव आते भी देखा था, आंधी की तरह भी देखा था। .. वह आधार जिस पर जीवन टिका था जैसे खिसका जा रहा था। ' .. 'होरी की चेतना लौटी। मृत्यु समीप आ गयी थी; आग दहकने वाली थी। धुआँ शान्त हो गया था।' विचारणीय है कि इस ढीली-ढाली कथा के शिथिल विस्तार को संगठित करने वाला सन्दर्भ मृत्यु है या कि जीवन में ही निहित संघर्ष की निरन्तरता ! आखिर मृत्यु के ठीक पहले होरी के मन में विजय की यह अनुभूति हुई ही थी—'कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है।' यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं? इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजयपताकाएँ हैं।

'गोदान ' पर विचार करते हुए अन्तर्वस्तु के साथ गठन या संरचना का प्रश्न अनिवार्य रूप से उठेगा। वह न केवल प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण अन्तिम कृति है (इस दृष्टि से कि 'मंगलसूत्र' उनका अधूरा उपन्यास है) बल्कि हिन्दी में यथार्थवादी कथा परम्परा के प्रवर्त्तन की दृष्टि से भी सबसे अधिक उल्लेखनीय रचना है। विधा की दृष्टि से 'गोदान' पर विचार करने वालों में कथाकार निर्मल वर्मा महत्वपूर्ण हैं जिनके अनुसार

प्रेमचन्द्र ने एक योरोपीय विधा को परीक्षित किये बगैर ही ज्यों का-त्यों अपना लिया। उसमें अपनी जरूरतों के अनुसार कुछ नया जोड़ा ही नहीं। उन्हीं के शब्द हैं : 'एक तरफ प्रेमचन्द की गहन अर्न्तदृष्टि है जो गोदान के पात्रों ने उन्हें दी है। दूसरी तरफ एक ऐसी बनी-बनायी विधा को अपनाने की मोहजनक सुविधा है जिसका इन पात्रों के संस्कारों, व्यक्तित्व, जातीय अनुभवों, उनकी जीवनधारा से कोई सम्बन्ध नहीं। ' ('शब्द और स्मृति ', पृ. 54) महत्त्वपूर्ण लगने वाला यह निरूपण दरअसल एक तरह का सरल निरूपण है-- सरल और Reductive -- जो रूप को ही वस्तु मान लेने या वस्तु को रूप मान लेने के परिचित पूर्वग्रह का परिणाम है। जिनकी दृष्टि 'गोदान' के समय के भारतीय समाज, 'गोदान ' की गहरी स्थानीयता पर है, वे देख सकेंगे कि प्रेमचन्द ने उपन्यास-रूप में क्या नया जोड़ा है। उनके लिए अनिवार्य होगा कि 'गोदान ' की संरचना पर विचार करते हुए वे वस्तु-रूप की द्वन्द्वात्मकता (Dialactic) को महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ मानकर चलें। उपन्यास को जिस अर्थ में सर्वाधिक मिश्रित (Impure) विधा या कला कहा गया है या जिस अर्थ में कहा गया है कि उसका ढाँचा पूरी तरह बना ही नहीं, निर्मित ही नहीं हुआ और जो हर नये दौर में नये सिरे से बनने के लिए बेचैन रहता है-- इस दृष्टि से भी यह देखना कठिन नहीं है कि प्रेमचन्द ने 'गोदान ' तक आते-आते उपन्यास-रूप में क्या नया जोड़ा है ! सम्भव है हमारी आलोचनात्मक शब्दावली में उस नयी विशिष्टता या अन्य सम्बन्धित विशेषताओं के लिए उपयुक्त शब्द मौजूद न हों।

चूक उनसे भी हुई है जो पूछते हैं कि 'गोदान ' में गांव की कथा तो है पर गाँव कहाँ है ! बेलारी उन्हें रूप-आकारहीन जान पड़ता है और इसीलिए अप्रामाणिक लगता है। यह उसी तरह की आपत्ति का दूसरा रूप है जो नन्ददुलारे वाजपेयी की 'गोदान '-सम्बन्धी आलोचना में इस रूप में दर्ज है। 'गोदान ' उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहनेवाले दो परिवारों के समान हैं जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है। 'गोदान ' का ढीला-ढीला रूपबन्ध, उसकी संरचनात्मक खामियाँ, कई प्रसंगों में फिल्मी लटकों का-सा उपयोग, मूलकथा पर पड़नेवाले अवान्तर प्रसंगों का दबाव, चरित्र-चित्रण की प्रणाली में प्रत्यक्ष और प्रातिनिधिक पर विशेष बल-- इन सारी स्थितियों को एक विशेष समय के सामाजिक संक्रमण से सम्बद्ध करके देखना जरूरी होगा अन्यथा हम 'गोदान ' की संरचना की व्याख्या अलग कर रहे होंगे और 'गोदान ' की सामाजिकता पर विचार अलग कर रहे होंगे। प्रेमचन्द की भी आखिर 'उपन्यास ' के बारे में अपनी एक

अवधारणा थी। उन्होंने लिखा था--- 'भावी उपन्यास जीवन चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा, जितना अब है।' क्या प्रेमचन्द ने यह कठिन काम करने की दिशा में कोई पहल की? 'गोदान ' की संरचना पर विचार करने के लिए यह भी एक जरूरी संकेत है।

पहले 'गोदान ' के रूपबन्ध के बारे में कुछ और बातें। विचारणीय है कि किसान-जीवन का महाकाव्य या किसान-जीवन की महागाथा होते हुए भी 'गोदान ' में होरी की कहानी को और अधिक विस्तार क्यों नहीं दिया गया ! होरी की कथा 'गोदान' में आधे से भी कम जगह घेरनेवाली कथा क्यों है! यह सवाल पहले भी पूछा गया है। क्या 'गोदान ' की रचना के समय प्रेमचन्द का ध्यान इस ओर नहीं गया या होरी का जीवन था ही घटनाशून्य या प्रेमचन्द के होरी-जैसे चरित्र के आकलन में ही कोई कमी थी! क्या यह अनुभव और पर्यवेक्षण की सीमाओं के कारण हुआ! ये सवाल उसी द्विधाविभक्त मनोविज्ञान से प्रेरित हैं जिसके अन्तर्गत संरचना का सन्दर्भ अलग है और सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ अलग! होरी की ट्रैजेडी अकेले जीवन की या एक व्यक्ति के पारिवारिक जीवन की कोई अलग-थलग नहीं है-- वह घटित हो रही है एक ऐसे व्यापक भारतीय समाज में जिसमें जीवन-पद्धति या जीवन-स्तर या जीने के साधनों की दृष्टि से बड़ी भिन्नताएँ हैं। हाशिये पर दिखनेवाला उच्चवर्ग परजीवी होकर भी केन्द्र की जीवनधारा को दूर तक प्रभावित करनेवाला है। जहाँ तक औपन्यासिक ढाँचे में उस वर्ग के चरित्र-निरूपण का सवाल है प्रेमचन्द उन्हें लगभग एक अलबम में रखे चरित्रों की तरह दिखाते हैं। अधिक-से-अधिक उनकी प्रातिनिधिक वर्गीय अभिलाक्षणिकता का संकेत है। कथाव्यापार में इससे अधिक संलग्नता का प्रमाण वे नहीं देते। उनके क्रियाकलापों को बहुत स्पष्ट मूर्त्तता भी प्राप्त नहीं है जो उनके व्यक्तित्व विधान में खास भूमिका निभाती हो। लुकाच की भाषा में कहा जाय कि वे हिस्सेदार (Participant) नहीं हैं, महज दर्शक (Observer) हैं। उनकी व्यवस्था भी बस इसलिए चल रही है कि अभी प्रतिरोधक शक्तियाँ आगे नहीं आयी हैं। पर उस व्यवस्था की अपनी क्रूरता किसी से छिपी नहीं है।

'गोदान ' में गौर करने की चीज यह है कि होरी का संघर्ष जितना वर्णित है, उतना ही नहीं है। उसका चरित्र इस हद तक प्रातिनिधिक भी नहीं है कि सपाट जान पड़े। विश्वनाथ नरवाणे ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : हिज लाइफ एण्ड वर्क ' में सीधे शब्दों

में प्रेमचन्द के चरित्रों को अविश्वसनीय बताया है क्योंकि वे अपनी स्वाधीनता का कोई प्रमाण नहीं देते। उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द के सभी चरित्र किसी-न-किसी साँचे में ढले हुए हैं-- चाहे वह 'गोदान' का होरी हो या 'रंगभूमि ' का सूरदास या 'प्रेमाश्रय ' का प्रेमशंकर। पूरनचन्द्र जोशी ने नरवाणे के इस पूर्वग्रह पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है--- 'प्रेमचन्द की जो शक्ति है या गुणात्मक विशेषता है उसी को नरवाणे ने उनकी कमजोरी समझा है। इसका मूल कारण है कि नरवाणे सौन्दर्यशास्त्र को सामाजिकता से अलग करके देखते हैं।' (परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम', पृ.132) नरवाणे को वह भी आपत्ति है कि 'गोदान ' में प्रेमचन्द कोई सुसंगत संश्लिष्ट जीवन-दर्शन नहीं दे सके। प्रेमचन्द के विचार क्या हैं-- बस असम्बद्ध प्रतिक्रियाएँ। वे कथा की एकाग्रता या अन्विति में भी बाधक हैं। आपत्ति यह है कि प्रेमचन्द कथा में स्वयं हस्तक्षेप करते हैं और किस्सागोई (Narration) से वर्णनात्मकता (Description) पर आ जाते हैं और यह भी उन्हें गहरी कलात्मकता या सर्जनात्मक सफलता से वंचित कर देता है। एक तरह से देखा जाय तो इन समस्त पूर्वग्रहों या आपत्तियों की प्रकृति एक है। ये आपत्तियाँ संरचना-सम्बन्धी प्रश्नों को अलग और 'गोदान ' की सामाजिकता के प्रश्न को अलग रखने की विडम्बना से पैदा हुई हैं।

महान कला का एक लक्ष्य यह भी बताया गया है कि वह उस सम्पूर्ण जटिल यथार्थ को प्रत्यक्ष करे जिसमें अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध (वैयक्तिकता-सामाजिकता, व्यापकता-गहनता, विशिष्ट-सामान्य, आभास-यथार्थ, तात्कालिक-सुदूर) गहरे अन्तर्गठन में घुले-मिले हों। क्या यह कलात्मक पूर्णता प्रेमचन्द का आदर्श है! शायद एक हद तक ही। कथा सूत्रों का दुहरापन और चरित्रों का समीकरण (Juxtaposition) प्रेमचन्द की बुनावट की परिचित विशेषताएँ हैं। होरी की कहानी रायसाहब की कहानी से भी जुड़ी है और मेहता-मालती की कहानी से भी। गोबर की कहानी तो उसमें अन्तर्भुक्त है ही-- चाहे तनाव के स्तर पर ही! उसकी कहानी मेहता-मालती कथासूत्र से भी जा मिलती है। गोबर को शहर में शरण मेहता के यहाँ मिली ही है। मीनाक्षी मुखर्जी ने कथा का ग्राफ बनाते हुए दिखाया है कि बस दो कथासूत्र परस्पर नहीं मिलते--गोबर की कहानी रायसाहब की कहानी को नहीं छूती-- हालांकि यह बात सर्वथा प्रकट है कि होरी पर गोबर का सारा गुस्सा रायसाहब-- जैसों के साथ उसके जुड़ाव को लेकर ही है। उपन्यास में कहीं होरी-गोबर आमने-सामने हैं, कहीं होरी-धनिया का समक्षीकरण (राग, द्वन्द्व दोनों स्तरों पर) महत्त्वपूर्ण है, कभी होरी के

दुर्भाग्य और रायसाहब के दुर्भाग्य की तुलना की गयी है, कभी मालती की ईर्ष्या का विषय बननेवाली जंगली ग्रामीण लड़की उसके साथ अनोखा तनावभरा रिश्ता बनाती है। (शायद वही तनाव मालती के दमित स्त्रीत्व को अंकुरित करता है) मेहता-मालती, मालती-गोविन्दी, मिर्जा-तन्खा, रायसाहब-राजासाहब का समक्षीकरण कथा को एकरस होने से बचाता है। प्रेमचन्द की यह एक परिचित युक्ति है : जैसे, 'बाहर से वह विलासिनी है, भीतर से वही मनोवृत्ति शक्ति का केन्द्र है; मगर परिस्थिति बदल गयी है। तब मालती प्यासी थी, अब मेहता प्यास से विकल हैं।' कहने की जरूरत नहीं कि प्रेमचन्द के बयान में अनुकृतिमूलकता और दृष्टान्तमूलकता के लिए खासी जगह है। गोबर का बेलारी से लखनऊ जाना भारतीय समाज के जिस संक्रमण का सूचक है, उसे दिखाने के लिए भी समक्षीकरण की युक्ति अपनाई गयी है। सेमरी और बेलारी का आमना-सामना तो रायसाहब और होरी के रूप में होता ही रहता है। प्रेमचन्द सेमरी के रायसाहब के जरिए दिखाते हैं कि अब शोषण के रूप सूक्ष्मतर होते जा रहे हैं। जमींदार और पूँजीपति वर्ग के हितों की एकता शोषण और दमन को तेज करने का प्रबल तर्क है। प्रेमचन्द गांधी की सुधार-सम्बन्धी विचारधारा की सीमाएँ समझ रहे थे पर उनके विचारों में हो रहे परिवर्तन से अप्रभावित न थे। 1922 में गाँधी ने लिखा था: ''शहरों में निवास करनेवाले लोगों को यह नहीं पता कि किस तरह भारत की जनता आधा पेट खाकर निर्जीव होती जा रही है। उन्हें यह नहीं पता कि उनकी दुर्भाग्यपूर्ण सुविधाएँ उन्हें विदेशी शोषकों के लिए किए गए कार्य की दलाली के रूप में प्राप्त हैं और यह समस्त लाभ और दलाली जनता का रक्त चूसकर प्राप्त की जाती है।' गाँव और शहर की कथा की सम्बद्धता महज औपन्यासिक सुविधा नहीं है--वह भारतीय समाज और राजनीति के अन्तर्विरोधों को समझने में, औपनिवेशिक व्यवस्था के 'परजीवी चरित्र को समझने में और भारतीय समाज के अपने उद्वेलन और रूपान्तरण को समझने में (बेशक, जिसकी गति धीमी है) सहायक है।

प्रेमचन्द की विचारधारा में असंगतियाँ हो सकती हैं, अन्तर्विरोध हो सकते हैं, स्त्री के बारे में उनकी मान्यताओं को लेकर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं पर कहीं-न-कहीं उनका पक्ष गांव की संस्कृति के मूल आधार से जुड़ा है और उनके लिए प्रामाणिकता की कसौटी गाँव के मूल संस्कार हैं। निश्चय ही वह गाँव मैथिलीशरण गुप्त का गाँव नहीं जो सब प्रकार से सुन्दर है और मोहक आदर्श मूल्यों की निर्मिति है। यहाँ गाँव अपने सारे अन्तर्विरोधों के साथ, छल और सच्ची मनुष्यता के साथ, तमाम गुणों और क्षुद्रताओं में प्रेमचन्द के लिए महत्त्वपूर्ण है। होरी-धनिया- जो सबसे प्रमुख चरित्र हैं-

गँवई जिन्दगी के सार तत्त्वों से बने हैं। रही बात प्रेमचन्द के अन्तर्विरोधों की--वे एक खास समय के शिक्षित भारतीय समाज के संस्कारगत द्वन्दों का ही एक रूप है। आधुनिकता का एक ही रूप या अर्थ आधुनिक भारतीय इतिहास के हर दौर में मान्य नहीं रहा। समय और स्थान के अनुभव, निजी और सामूहिक प्रतिक्रियाओं का द्वन्द्व, सम्भावनाएँ और निषेध--इन्हें मिलाकर ही आधुनिकता नहीं आधुनिकताएँ (Modernities) होती हैं। महत्त्वपूर्ण है समय और समाज--जिसमें आधुनिकता विशेष रूप या आकार ग्रहण करती है। होरी के व्यक्तित्व विधान में क्या प्रेमचन्द की कोई विशेष आधुनिक दृष्टि या समझ काम कर रही है। आखिर क्यों प्रेमचन्द 'गोदान ' में आकर एक ऐसे कथानक का निर्माण करते हैं जो दुर्बलताओं--हताशाओं से घिरा है! क्या घटित हुआ। प्रेमचन्द की औपन्यासिक संकल्पना में, कि छद्मविजय से सच्ची पराजय या निराशा मूल्यवान लगने लगी, झूठे समझौतों से सीधा प्रकृत टकराव सार्थक लगने लगा। इसे समझने के लिए ' 30 के बाद की ऐतिहासिक सामाजिक वास्तविकता को ध्यान में रखना जरूरी है।

होरी के संघर्ष के अनुभवों में प्रकृति से लगाव, हास-परिहास, सच और झूठ का मिश्रण भी अर्थ रखता है। अनेक अवसरों पर जिस धनिया से उसका सीधा संघर्ष है वही अपने नारीत्व की सम्पूर्णता से उसे अभयदान दे रही है। धन के वर्चस्व ने आधुनिक समाज में सम्बन्धों का अलगाव पैदा किया है, उससे अलग यहाँ विपन्नता ही 'सोहाग ' को दृढ़ करनेवाला सन्दर्भ है। मार्क्स ने जिस तर्क से मनुष्यता के मूल में मनुष्य के होने पर ही बल दिया था, उसी तर्क से 'गोदान ' में शिक्षितों की बहस और जीवन-पद्धति के समानान्तर इस ग्रामीण स्वभाव के प्रकृत मर्म को समझने की जरूरत है। उपन्यास के शुरू में ही भोला की कमजोरी होरी एक ही बार में पहचान लेता है जब वह उसकी आँखों में स्त्री की लालसा सजग होते देखता है। प्रेमचन्द की दृष्टि में होरी की कमजोरियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। वे भी उसका चरित्र बनाती हैं। होरी भोला के साथ छल कर रहा था। इसे वह बुरा नहीं मान रहा था। उसकी विनोदवृत्ति भी इस मामले में सजग थी। प्रेमचन्द छल और विनोदवृत्ति को एक अभिन्न तत्व बताते हुए होरी के जीवन-स्वभाव की मीमांसा इस रूप में करते हैं--'इस तरह का छल तो वह दिन-रात करता रहता था।....सन को कुछ गीला कर देना और रुई में कुछ बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज था। और यहाँ तो केवल स्वार्थ न था, थोड़ा-सा मनोरंजन भी था। बुड्ढों का बुढ़भस हास्यास्पद वस्तु है और ऐसे बुड्ढों से अगर कुछ ऐंठ लिया जाये तो कोई दोष-पाप नहीं।' निराला के उपन्यास में बिल्लेसुर

आखिर तक यह भ्रम बनाये रहते हैं कि उनके पास सोने की ईंटें हैं। यों वे कठिन भयानक संघर्ष में पूरी जिन्दगी बिता देते हैं। बिरादरी और भैयाचार के नाम पर भारतीय किसान का जो शोषण होता है, उसकी झलक प्रेमचन्द और निराला ने एक ही तरह अपने उपन्यासों में दी है। होरी में औसत किसान की सारी कमजोरियाँ हैं पर साथ ही यह अनिवार्य गुण भी---कि 'होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।'

रायसाहब के आत्मविश्लेषण में या आत्मपक्ष से किए गये वर्गचरित्र के विश्लेषण में प्रेमचन्द का इच्छापूर्ण सोच मौजूद है। 'बड़े आदमियों की ईर्ष्या और बैर केवल आनन्द के लिए है। हम इतने बड़े आदमी हो गये हैं कि हमें नीचता और कुटिलता में ही निःस्वार्थ और परम आनन्द मिलता है! हम देवतापन के उस दर्जे पर पहुँच गये हैं जब हमें दूसरे के रोने पर हँसी आती है।' .. 'लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्दी हमारे वर्ग की हस्ती मिट जानेवाली है।' प्रेमचन्द छिपाते नहीं कि रायसाहब का यह बयान निरा वाग्जाल है---होरी के मन में सहानुभूति और श्रद्धा उपजाने का हेतु---उपचार मात्र! क्योंकि दूसरे ही पल यह जानकर---कि कहीं विद्रोह और अवज्ञा के लक्षण हैं, तुरन्त दमन के लिए उनकी त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं।

होरी से गोबर का पीढ़ीगत भेद या भिन्न मनःस्थिति बताने के लिए प्रेमचन्द इन्तजार नहीं करते! पहली झलक में उसे प्रकट कर देते हैं। गोबर की विद्रोह सम्बन्धी विचारधारा शुरू में ही इतनी सटीक, तर्कसंगत और परिपक्व जान पड़ी है कि आश्चर्य होता है। होरी को वह शुरू से ही लताड़ता रहता है--- 'तुम्हारा यही धर्मात्मापन तो तुम्हारी दुर्गत कर रहा है।' गोबर-झुनिया-प्रसंग भी उपन्यास के शुरू में ही आकार ग्रहण करता है। झुनिया विधवा है। गोबर अपनी सहज दुर्बलता से झुनिया के प्रति आकृष्ट है पर उसे साथ लेकर घर में प्रवेश करने का साहस उसमें नहीं है। यहाँ प्रेमचन्द कोई हड़बड़ी नहीं दिखाते। आकर्षण का प्रभाव बढ़ता है और उसी अनुपात में साथ रहने की बेचैनी भी। मिलने-जुलने के अवसर भी खोज लिए जाते हैं। प्रेमचन्द मनोविकारों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इस प्रगाढ़तर सम्बन्ध को मूर्त करते हैं। जिन्हें 'गोदान ' की दुनिया स्त्रीविहीन नजर आती है उन्हें धनिया के विद्रोह के साथ धनिया के स्निग्ध प्रेम और गोबर-झुनिया सम्बन्ध की क्रमिक स्थितियों पर विचार करना चाहिए। प्रेमचन्द प्रेमचन्द ही हो सकते हैं शरत या जैनेन्द्र नहीं, पर क्या ऐसे स्थल उनकी संवेदनात्मक समझ और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रमाण नहीं! 'झुनिया का

वंचित मन, जिसे भाभियों के व्यंग और हास-विलास ने और भी लोलुप बना दिया था उसके कौमार्य पर ललचा उठा। और उस कुमार में भी पत्ता खड़कते ही किसी सोये हुए शिकारी जानवर की तरह यौवन जाग उठा।' ऐसे स्थल 'गोदान ' में और भी हैं जहाँ प्रेमचन्द स्त्री की कोमल संवेदना को सहज मूर्त कर सके हैं। मातादीन-सिलिया प्रसंग में, जहाँ मातादीन में तो सिलिया के साथ रहने की हिम्मत नहीं है और बच्चे की मौत हो जाती है--- ठीक उसके बाद की स्थिति है: 'एक महिना बीत गया। सिलिया फिर मजूरी करने लगी थी। सन्ध्या हो गयी थी। पूर्णमासी का चाँद विहँसता-सा निकल आया था। सिलिया ने कटे हुए खेत में से गिरे हुए जौ के बाल चुनकर टोकरी में रख लिए थे और घर जाना चाहती थी कि चाँद पर निगाह पड़ गयी और दर्दभरी स्मृतियों का मानो स्रोत खुल गया। अंचल दूध से भीग गया और मुख आँसुओं से।' स्त्रीसुलभ संवेदना के बहाने संकेत है कि प्रकृति भी मनुष्य को सहने की शक्ति देती है। अनुभव-पकी झुनिया और गोबर की अबोधता का समक्षीकरण भी परिस्थिति को समझने में सहायक है। झुनिया ने गोबर में इतनी संवेदना तो जगा ली कि वह पंचायत और बिरादरी से न डरे पर झुनिया को घर में लाने के लिए बहुत समय लगा-- यद्यपि तब भी झुनिया के साथ घर में प्रवेश करने का साहस गोबर में न था। 'गोदान ' की कथा में इस बीच साठ पृष्ठों के भीतर क्या-कुछ घटित हो गया है। बहुत लालसा से जो गाय लाई गयी थी जो गोबर-झुनिया के मिलने का बहाना भी बनी, उसे अपने भाई हीरा ने जहर दे दिया था। यह साधारण मौत न थी-- होरी की आधी मृत्यु थी : 'दस कदम पर मृतक गाय पड़ी हुई थी और होरी घोर पश्चाताप में करवटें बदल रहा था। अन्धकार में प्रकाश की रेखा कहीं नजर न आती थी।' हीरा के घर की तलाशी हो यह होरी के अस्तित्व को माना मिटा देने के लिए काफी था, 'होरी के मुख का रंग ऐसा उड़ गया था जैसे देह का सारा रक्त सूख गया हो।'

प्रेमचन्द उपर्युक्त प्रसंग को छोड़कर दूसरी दुनिया में लौटते हैं--यही 'गोदान ' के ढीले-ढाले रूपबन्ध की विवशता है। कथा-रस की दृष्टि से भी इस अवकाश और अन्तराल के मनोविज्ञान की जाँच की जानी चाहिए। रायसाहब के उत्सव का-सा दृश्य है। होरी जनक का माली बना हुआ है। शगुन के पाँच रुपये देकर। धनुषयज्ञ और प्रहसन। जहाँ बौद्धिकों की भद्रवर्गीय विचारधारा के अनेक अन्तर्विरोध हैं, मेहता सीधे यह सवाल उठा सकते हैं--हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। यहाँ नकली जीवन का ही तो सारा खेल है और मेहता को इसी जीवन से एतराज है। बहस चल रही है ऊँच-नीच पर, आदर्शवाद और सिद्धान्तवाद पर, धन की प्रमुखता पर, मुक्त

भोग और विवाह पर। क्या भाषा और क्या व्यवहार--सर्वत्र स्वाँग-ही-स्वाँग! फिल्मी वातावरण है। अफगान वेश में मेहता मालती का अपहरण किए जा रहे हैं और सबको साँप सूँघ गया है। मालती के मन में स्वाँग किए हुए अफगान वेश वाले मेहता के लिए नया ही आकर्षण पैदा हुआ है। प्रेमचन्द मेहता के प्रति मालती के आकर्षण को स्वाँग से अधिक महत्त्व नहीं देते पर मालती के प्रति आकर्षण कहाँ ठोस भूमि पर स्थित है इसे तमाम फालतू अनावश्यक (Superfluous) दिखनेवाले ब्यौरों में भी अलक्ष्य नहीं रहने दिया गया है। जंगली ग्रामीण युवती के प्रति मेहता का खिंचाव देखकर मालती में जो डाह पैदा हुआ है वह भी मालती के व्यक्तित्व पर आरोपित आधुनिकता की हँसी उड़ाता है। यहाँ वह शिक्षित आधुनिका नहीं, साधारण-कमजोर-औसत-घरेलू-गँवार नजर आती है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति सभी पात्रों के प्रति एक-सी नहीं है। वे सभी पात्रों के मर्म में शायद प्रवेश भी नहीं कर सके हैं। इसके लिए उनके अपने संस्कार, अपना समय और समाज जिम्मेदार है--अधूरी आधुनिकता के प्रति चकाचौंध और अनेक स्तरों पर पिछड़ेपन से आक्रान्त। प्रेमचन्द की इस खास दुर्बलता को छिपाने की जरूरत नहीं। यह दुर्बलता न होती तो 'गोदान 'का सम्पूर्ण संगठन भिन्न प्रकार का होता और इसी अर्थ में उसका संरचनात्मक प्रभाव भी। यहाँ बहुत से प्रसंगों को कथा का फैलाव समेट तो लेता है लेकिन मूलवस्तु की आन्तरिक सघनता को कहीं अवरुद्ध भी करता है। मानव व्यवहार तथा ऐतिहासिक सामाजिक वास्तविकता के अध्ययन-सूत्र पूरे उपन्यास में बिखरे हैं--जरूरी नहीं कि उन सबका उपयोग मूल कथा-संवेदना को प्रगाढ और तीव्रतर बनाता हो। इन्हीं संकेतों में कहीं मनोवैज्ञानिक चमक है, कहीं बौद्धिक तीक्ष्णता और कहीं संकेत नहीं, महज ब्यौरे हैं--निष्क्रिय, तटस्थ। ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियों की विफलताएँ भी विचारणीय होती हैं। पर उनका अध्ययन अधिक सावधानी की मांग करता है।

'गोदान ' के अन्त जैसे प्रसंग में अर्थात् मृत्यु के निरूपण में ही प्रेमचन्द का कविहृदय सजग नहीं है। उपन्यास के कई साधारण प्रतीत होते प्रसंगों में प्रेमचन्द एक बड़े कथाकार की कवि-दृष्टि का आभास देते हैं। जिस क्षण झुनिया घर में प्रवेश करना चाहती है, धनिया और होरी उसके एकदम विरुद्ध हैं। पर भीतर-भीतर द्रवित। जहाँ धनिया कहती है--'मैं तुमसे कहे देती हूँ, मैं अपने घर में न रखूँगी। गोबर को रखना हो, अपने सिर पर रखे। घर में ऐसी छत्तीसियों के लिये जगह नहीं है और अगर तुम

बीच में बोले तो फिर या तो तुम्हीं रहोगे या मैं ही रहूँगी।' कहना कठिन है यह कितना प्रकृत क्रोध है और कितना छद्म क्रोध है। प्रेमचन्द एक बड़े लेखक की तरह पहचान रहे हैं कि ऊपर से कठोर दिखने वाले इन शब्दों के पीछे धनिया के हृदय की तरलता है कैसी! होरी भी तैयार है कि घसीटकर उसे बाहर कर देगा। पर जब उपयुक्त क्षण आता है धनिया का स्वर बदल जाता है--'तुम उसका हाथ पकड़ोगे तो वह चिल्लायेगी--इतनी रात गये अँधरे सन्नाटे में जाएगी कहाँ....किसी ने डुबोई, अब तो डूब ही गयी।' यहीं प्रेमचन्द की होरी धनिया जैसे चरित्रों के मर्म में प्रवेश करने की क्षमता प्रकट होती है जैसी हम टॉलसटॉय या अन्य बड़े लेखकों के यहाँ देखते हैं। 'दोनों द्वार के सामने पहुँच गये। सहसा धनिया ने होरी के गले में हाथ डालकर कहा--देखो तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आप ही रो रही है। भाग की खोटी न होती तो यह दिन ही क्यों आता।' आगे का दृश्य यह है --'होरी की आँखें आर्द्र हो गयीं। धनिया का यह मातृ-स्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिंन्ता जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा। दोनों ही के हृदय में जैसे अतीत यौवन सचेत हो गया। होरी को इस वीतयौवना में भी वही कोमल-हृदय बालिका नजर आई जिसने पच्चीस साल पहले उसके जीवन में प्रवेश किया था।'

लूकाच ने अपने एक निबन्ध में कहा है कि जीवन की आंतरिक कविता मनुष्य के संघर्ष में ही रूप ग्रहण करती है। जीवन की सार्थकता को सुरक्षित रखने में और गहनतर बनाने में यही कविता काम आती है। संघर्ष में ही होरी-धनिया इस आंतरिक कविता को अपने जीवन की सार-वस्तु के रूप में सुरक्षित रख पाये हैं। प्रेमचन्द अन्यत्र भी याद दिलाते हैं कि जहाँ सम्पत्ति की दीवार ऊँची होती गयी है वहीं दम्पति एक दूसरे से दूर होते गये हैं। उपर्युक्त प्रसंग 'गोदान ' के अविस्मरणीय प्रसंगों में है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कहा जाय, यही वे मर्मिक स्थल हैं जहाँ लेखक की सहज वृत्ति रमी है और जो कथा के फैलाव को अन्तर्गठित करते हैं । शहरी कथा के भावहीन प्रसंगों से तुलना करके देखें तो यह फर्क और अधिक स्पष्ट दिखाई देगा। वहाँ सब कुछ सामान्य है, ऊपरी, सतही--यहाँ सब कुछ या बहुत कुछ विशेष--अन्तरंग और गहन! झुनिया भी सामान्य से विशेष हो गयी है। अनुभव-पकी झुनिया के जीवन में भी यह एक नया अनुभव घटित हुआ था। प्रेमचन्द यहाँ उसके इर्द-गिर्द जो वातावरण बनाते हैं वह परिस्थिति के मर्म में उनकी पैठ का उदाहरण है। 'दीवट पर तेल की कुप्पी जल रही और उसके मद्धिम प्रकाश में झुनिया घुटने पर सिर रखे, द्वार की ओर मुँह किये ; अंधकार में उस आनन्द को खोज रही थी जो एक क्षण पहले

अपनी मोहिनी छवि दिखाकर विलीन हो गया था।' झुनिया को संरक्षण देने के लिये होरी-धनिया को पूरे समाज से लड़ना पड़ा। वे जाति-बाहर कर दिये गये। जाति प्रधान समाज-व्यवस्था की निष्ठुर अमानवीयता को प्रेमचन्द-निराला ने एक ही तरह से पहचाना है। धनिया पंचायत के फैसले को चुनौती देती है--होरी अपने को बिरादरी का चाकर समझता है। फिर वही समक्षीकरण, तुलना, वि-सादृश्य! यह घटना ही गोबर का व्यक्तित्वान्तरण करनेवाली थी--उसे परिवार और समाज का ज्ञान कराने वाली। आगे फिर उसमें फर्क आया--शहरी रंग-ढंग और तरह-तरह के दबाव। परिवार से विच्छिन्नता। अलगाव। आकस्मिकता (Chance) प्रेमचन्द के कथा-विधान की परिचित युक्ति है। लूकाच ने ही अपने एक विश्लेषण में यह भी कहा है कि संयोग या आकस्मिकता न हो तो सारी कथा निष्क्रिय अमूर्तन लगने लगे। हाँ, संयोग होकर भी वह अपरिहार्य लगे--लगे कि और कुछ हो ही नहीं सकता--यहीं उसके उपयोग में सार्थक रचनादृष्टि का पता चलता है।

कठिन-से-कठिन दुःख में प्रकृति मनुष्य को किस तरह बल देती है--इसके प्रमाण भी प्रेमचन्द और निराला के यहाँ बहुत समानता लिये हुए हैं। गोबर-झुनिया के चले जाने से घर सूना हो गया है। गोबर जो कह-सुन गया उसकी तिक्तता जाते-जाते जायेगी। वह बच्चा भी छिन गया जो धनिया के लिए जीवनाधार बना था। होरी-धनिया में नोंक-झोंक हुई, फिर जैसे उन्होंने यथार्थ को सहने की आन्तरिक शक्ति अर्जित की। प्रेमचन्द लिखते हैं--'विनोद में दुःख उड़ गया। वही उसकी दवा है।' पर मुख्य प्रसंग तो आगे है। होरी खलिहान पहुँचा जहाँ दृश्य यह था--'रसिक बसन्त सुगन्ध और प्रमोद और जीवन की विभूति लुटा रहा था, दोनों हाथों से दिल खोलकर। कोयल आम की डालियों में छिपी अपनी रसीली मधुर आत्मस्पर्शी कूक से आशाओं को जगाती फिरती थी।.....नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा-सा घोल देते थे। होरी आमों के बाग में पहँचा तो वृक्षों के नीचे तारे-से खिले थे। उसका व्यथित निराश मन भी इस व्यापक शोभा और स्फूर्ति में आकर गाने लगा--'हिया जरत रहत दिन रैन! ' होरी की जीवनीशक्ति का यही रहस्य है। उसकी ट्रैजिक कथा में जीवन-संघर्ष के कितने ही मधुर मर्मस्पर्शी प्रसंग जुड़े हैं जो उसकी गहरी जीवनासक्ति को प्रमाणित करते हैं।

'गोदान ' की कथा में इसके आगे भी, आते हुए पूँजीवाद और खत्म होते सामन्तवाद के गठजोड़ से निकले कथा-सन्दर्भ में बहुत कुछ जुड़ता रहता है जिसके चलते मूल समस्या पर ध्यान केन्द्रित करना कठिन होता है। सिवा होरी के अकेले होते जाने के,

टूटते जाने के! हालांकि प्रेमचन्द संकेत करते हैं कि शोषण-चक्र ने होरी को ही नहीं, पूरे गाँव को तोड़ा है--'जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गयी हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है; मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों में ही तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है।.....उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है।' घटनाएँ हैं पर जीवन में कोई गति ही नहीं। मातादीन-सिलिया की कथा। बेटी के विवाह के लिए होरी पर कर्ज का बोझ। अन्ततः बेटी बेचने के लिए अभिशप्त होरी की असहायता। गोबर खन्ना की मिल में मजूरी करता है। मिल में हड़ताल। मन्दी बेकार का दौर। गोबर पर हमला। फिर जैसे सारा कथाजाल समेटा जा रहा है। खन्ना की मिल में आग लग जाती है। मालती के रंग-ढंग में परिवर्तन। मेहता सेवा-संकल्प की राह पर। कितने ही चरित्र महज अवधारणा होकर रह गये हैं। जहाँ रायसाहब के सारे मनसूबे पूरे हो रहे थे--बेटे के विवाह के सवाल पर संघर्ष। जैसे सारा जीवन ही उजड़ने लगा। मालती--अविवाहित मातृत्व की अनुभूति। मेहता-मालती सम्बन्ध निर्णायात्मक स्थिति में। मित्र रूप में ही रहने का प्रस्ताव-संकल्प मालती की ओर से। असीम तक पहुँचने का अवसर खो देने का डर मालती में--विवाह की कल्पना से। क्या प्रेमचन्द आगे आ रहे जैनेन्द्र को एक नयी विषयवस्तु दे रहे थे! दूसरी ओर होरी धनिया के छोटे-बड़े भौतिक दुःखों से निर्मित दाम्पत्य एक ट्रैजिक अन्त तक पहुँचकर प्रेमचन्द की मूल अन्तर्वस्तु और विचारधारा को निर्णायक स्थिति तक ले आता है। होरी ने कन्या बेची और रुपये प्राप्त किये। यह अपमान की पराकाष्ठा है। होरी के लिए प्रेमचन्द के शब्द हैं--'आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है उसके मुँह पर थूक देता है। xx उससे पूछो, कभी तुमने विश्राम के दर्शन किये, कभी तू छाँह में बैठा? उस पर यह अपमान। और वह अब भी जीता है, कायर, लोभी, अधम।' यह आत्मधिक्कार नाटकीय क्षण नहीं; ठोस वास्तविकता के त्रासद अनुभवों से पैदा हुआ है। यहाँ कोई बौद्धिक तर्क नहीं। पर जो है, वही हो सकता है। 'धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली--महाराज घर मे न गाय है न बछिया न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।'

इस ढीले-ढाले कथातन्त्र में जरूर ही बहुत कुछ ऐसा है जो मूलकथा से बस यों ही जुड़ा है और आसानी से काट-छाँट के क्रम में अलग किया जा सकता है पर काट-छाँट प्रेमचन्द के अपने इस शिल्प-रूप की प्रकृति नहीं है। आकस्मिकताएँ हैं पर नाटकीय क्षण की चरम तीव्रता कहीं नहीं है। यहाँ तक कि होरी की मृत्यु भी धीरे-धीरे घटित होती है। कितनी ही बार उसके व्यक्तित्व का कोई-न-कोई सजीव अंश मर जाता है, निश्चेष्ट हो जाता है। इसी अर्थ में डॉ. रामविलास शर्मा को कहना पड़ा है--'गोदान की गति धीमी है। होरी के जीवन की गति की तरह। यहाँ सैलाब का वेग नहीं है, लहरों के थपेड़े नहीं हैं। यहाँ ऊपर से शान्त दिखने वाली नदी की भँवरें हैं जो भीतर-ही-भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती हैं और दूसरों को वह तभी दिखायी देता हे जब उसकी लाश उतराती हुई बहने लगे।' ('प्रेमचन्द और उनका युग ', पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ 97)।

कहने की जरूरत नहीं कि 'गोदान ' की संरचना पर विचार 'गोदान ' के ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भ को छोड़कर असम्भव है। महज शिल्पगत विशेषताओं या सीमाओं की कोटि बनाकर 'गोदान ' की संरचना के मर्म तथा वैशिष्ट्य को समझ पाना कठिन है। यह सवाल गैरजरूरी नहीं है कि 1936 में प्रकाशित 'गोदान' में होरी का संघर्ष, पराजय तथा निराशा का बोध आकस्मिक है या उसका ठोस सामाजिक-ऐतिहासिक आधार भी है। उपन्यास के वस्तु-रूप संगठन पर विचार करते हुए कहा गया है--कि वस्तु को निर्धारित करनेवाला तत्व तो है लेकिन वस्तु की ऐसी कोई अवधारणा नहीं है जिसके केन्द्र में स्वयं मनुष्य न हो। इस दृष्टि से 'गोदान ' की संरचना को संगठित करनेवाला और उसे सार्थक कलात्मक परिणति देने वाला सन्दर्भ है--होरी का संघर्ष, उसकी पराजय और उसकी निराशा। उपन्यास के रचना-समय को देखते हुए जिसके ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भ की कल्पना असम्भव नहीं है।

3. 'धरती धन न अपना ' तन और मन भी पराया

'धरती धन न अपना ' हिन्दी के वरिष्ठ उपन्यासकार जगदीश चन्द्र का लेखन में पहला, लेकिन प्रकाशन में दूसरा उपन्यास है। लेखन में पहला इसलिए, क्योंकि इसका लेखन उन्होंने 6 मई, 1955 को शुरू कर लिया था और आठ अध्याय लिखकर वर्षों तक रखे रहे। बाद में उन्होंने अपने कश्मीर प्रवास के अनुभवों पर एक उपन्यास लिखा, जो 'यादों के पहाड़ ' शीर्षक से 1966 में प्रकाशित हुआ। कुछ दोस्तों की राय व आग्रह से उन्होंने अपना पहला उपन्यास 1968 में पूरा किया। यही उपन्यास 1972 में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से 'धरती धन न अपना' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

'धरती धन न अपना ' के प्रकाशन से जगदीश चन्द्र को प्रतिष्ठा हासिल हुई। इससे पहले प्रकाशित उपन्यास 'यादों के पहाड़ ' का कोई विशेष नोटिस नहीं लिया गया था। 'धरती धन न अपना' का न सिर्फ नोटिस ही लिया गया, इसे विशिष्ट उपन्यास भी माना गया।

'धरती धन न अपना ' के लेखक जगदीश चन्द्र का जन्म होशियारपुर जिले में हुआ। 'घोड़ेवाहा ' उनका पैतृक गांव व रलहन उनका नैनिहाल था। दसूहा व जालंधर में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। उन्होंने अर्थशास्त्र में एम.ए. परीक्षा पास की व फिर विभिन्न स्थानों पर सरकारी नौकरी। नौकरी के सिलसिले में वे दिल्ली, श्रीनगर, जालंधर आदि अनेक स्थानों पर रहे। आकाशवाणी की सेवा से रिटायर होने के बाद अब वे जालंधर में रहते हुए लेखनरत हैं।

हिन्दी के अतिरिक्त जगदीश चन्द्र ने उर्दू व पंजाबी में भी लेखन किया। 'पुराने घर' उर्दू में व 'उडीकां' पंजाबी में प्रकाशित है। हिन्दी में 1966 में उनका पहला उपन्यास 'यादों के पहाड़ ' छपा। यह एक निम्न मध्यवर्गीय रोमांस है, जिसका साहित्य जगत में कोई विशेष स्थान नहीं बन पाया। 1972 में 'धरती धन न अपना ' प्रकाशित हुआ, जिससे जगदीश चन्द्र की लेखक के रूप में प्रतिष्ठा स्थापित हुई।

जगदीश चन्द्र ने कुछ वर्ष सेना में सेवा की। अपने सैनिक जीवन के अनुभवों को उन्होंने 'टुण्डा लाट ' व 'आधा पुल ' शीर्षक उपन्यासों में ढाला। पंजाब के ग्रामीण

जीवन पर उनका एक और शक्तिशाली उपन्यास 'कभी न छोडें खेत ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

जगदीश चन्द्र का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'मुट्ठी भर कांकर ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसी उपन्यास के दूसरे भाग के रूप में 'घास गोदाम ' शीर्षक उपन्यास 1985 में प्रकाशित हुआ। 'घास गोदाम ' में कांकर की कहानी को आगे बढ़ाया गया है व पकिस्तान से आकर दिल्ली व हरियाणा में बसे शरणार्थियों की कहानी बयान की गई है।

इन सात उपन्यासों के अतिरिक्त जगदीश चन्द्र ने 'पहली रपट ' शीर्षक कहानी संग्रह व 'नेता का जन्म ' शीर्षक नाटक की रचना भी की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जगदीश चन्द्र ने बीस वर्षों में अनेक रचनाएँ हिन्दी साहित्य को दी हैं।

जगदीश चन्द्र ने बचपन से ही जीवन को बहुत निकट से देखा व महसूस किया। जीवन का यही सूक्ष्म पर्यवेक्षण बाद में चलकर उनके साहित्य की सामग्री बना। जीवन के अनुभवों के साथ-साथ जगदीश चन्द्र ने अर्थशास्त्र व मार्क्सवाद के अध्ययन से जीवन को, यथार्थ को अच्छी तरह से समझा भी। यथार्थ की इस समझ से उन्होंने जीवन के द्वन्द्वात्मक रूप को पहचाना और अपने साहित्य में जीवन को सतही व एकपक्षीय रूप में नहीं, जटिल व द्वन्द्वात्मक रूप में प्रस्तुत किया।

'आधा पुल ' व 'टुण्डा लाट ' उनके सैनिक जीवन के अनुभवों पर आधारित उपन्यास हैं। इनमें 'आधा पुल ' अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भी हुआ। 'आधा पुल' में भारत-पाक युद्ध के समय भारतीय सैनिकों की शूरवीरता को विषय बनाया गया है, जबकि 'टुण्डा लाट ' एक हद तक सैनिक की प्रेम कहानी है।

'यादों के पहाड़ ' उनका सबसे कम चर्चित उपन्यास है, क्योंकि यह एक सामान्य प्रेम-कथा है।

'मुट्ठी भर कांकर ' व 'घास गोदाम ' में एक ही कथा को विकसित किया गया है। 'मुट्ठी भर कांकर ' में विभाजन पूर्व पंजाब (अब पाकिस्तान में) के एक गांव की कथा कही गयी है तो 'घास गोदाम ' में इन गांव वालों के उजड़कर दिल्ली व हरियाणा में बसने व संघर्ष करने की कथा कही गयी है।

जगदीश चन्द्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व जीवन्त उपन्यास 'धरती धन न अपना ' व 'कभी न छोड़ें खेत ' हैं। 'कभी न छोड़ें खेत ' पंजाब के ग्रामीण जीवन का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है और जाटों के जीवन को वाणी देता है। इस उपन्यास का इसी शीर्षक से नाट्यरूपान्तर भी हो चुका है और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने एम.के.रैणा के निर्देशन में इसकी कई सफल प्रस्तुतियां की हैं। अब इसी उपन्यास पर 'ज़मीन' शीर्षक से टेलिविजन सीरियल भी निर्माणाधीन है।

जगदीश चन्द्र की अनेक रचनाओं का देश व विदेश की अनेक भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है।

'धरती धन न अपना ' का लेखन 1955 में शुरू हुआ व बीच में कुछ वर्षों तक इसकी अपूर्ण पाण्डुलिपि पड़ी रही। फिर लेखक के मित्र सोम आनन्द की प्रेरणा से उपन्यास का पुनः लेखन आरम्भ हुआ व 1968 में इसका लेखन पूरा हुआ। राजकमल प्रकाशन से 1972 में इसका प्रकाशन हुआ। 1981 में इसका द्वितीय संस्करण छपा। 49 अध्यायों में बंटे 264 पृष्ठों के इस उपन्यास को लेखक ने अपने मित्र सोम आनन्द को समर्पित किया है, जिनकी प्रेरणा से यह उपन्यास पूरा हुआ।

'धरती धन न अपना ' में जगदीश चन्द्र ने जीवन के ऐसे हिस्से को स्पर्श किया है, जो अब तक अनछुआ था। शोषित वर्गों पर अनेक उपन्यास हिन्दी में रचे गए हैं, लेकिन इन्हीं शोषित वर्गों में चमार भी हैं, जिनके जीवन को आधार बनाकर जगदीश चन्द्र ने संभवतः पहला हिन्दी उपन्यास लिखा है। चमारों के जीवन को जगदीश चन्द्र ने बचपन से ही नजदीक से देखा समझा, इसलिए यह कृति अत्यन्त प्रामाणिक कृति बनकर सामने आई।

उपन्यास आरम्भ करने से पूर्व लेखक ने अपनी ओर से उपन्यास के स्रोत व प्रेरणा बिन्दु का उल्लेख किया है। बचपन व किशोरावस्था में लेखक ने जीवन के जिस रूप को करीब से देखा, वही लम्बे अरसे तक वेदना बनकर उनके मन में रहा। बचपन में इन्सान-इन्सान के बीच के इस भेदभाव को देखकर लेखक के मन में विद्रोह की भावनाएं उठती रहीं, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति का साधन न था। बड़े होकर लेखन उनकी अभिव्यक्ति का साधन बना तो अपने मन की वेदना को उन्होंने उपन्यास रूप में वाणी दी।

उपन्यास की शुरुआत होती है काली के छः साल बाद कानपुर से अपने गांव घोड़ेवाहा लौटने में। गांव में लौटने का एकमात्र कारण काली की चाची है। और काली का कोई सम्बन्धी नहीं है। पौ फटने पर काली गांव के पास पहुंचा। छः सालों में गांव में कुछ भी नहीं बदला है और गलियों के कुत्ते भूंक-भूंककर काली का स्वागत करते हैं। काली चाची के घर पहुंचता है और चाची को जीवित देख अभिभूत होता है। काली के मां-बाप, चाचा सभी मर चुके हैं। काली ही खानदान की एकमात्र निशानी है। काली के पास नोटों की गड्डी देखकर चाची की आंखें फैल जाती हैं। काली के लौटने की खुशी में चाची मुहल्ले में शक्कर बांटती है।

छह वर्ष के कानपुर प्रवास ने काली के मन में गांव व गांव वालों के प्रति अजनबीपन की भावना भर दी है। चमादड़ी में अभी तक एक कोठा भी पक्का नहीं हुआ है। मुहल्ले से औरतें आकर काली का स्वागत करती हैं। मुहल्ले वालों का हंसी-मज़ाक झेलकर काली का अजनबीपन दूर होता है।

गांव में ज़मीनों वाले चौधरी हैं, एक-दो दुकानदार बनिये हैं और ज़मीनों व घरों में काम करने वाले चमार हैं। चौधरी लोग बेबात चमारों से मार-पीट, गाली-गलौच भी करते रहते हैं। उपन्यास के शुरू में ही चौधरी हरनाम सिंह अपने खेत की फसल नष्ट होने के अपराध में जीतू की पिटाई करता है, हालांकि चौधरी की फसल नष्ट होने में जीतू का कोई अपराध नहीं है। मंगू चमार की बहन ज्ञानो इस अन्याय के लिए चौधरियों को गालियां देती है। दूसरी ओर उसका भाई मंगू चौधरी हरनाम सिंह का गुलाम बना हुआ है। काली को ज्ञानो का विरोध करना अच्छा लगता है।

काली और जीतू दोस्त बन जाते हैं। काली अपने कच्चे कोठे को गिराकर पक्का मकान बनाने की योजना बनाता है। कानपुर में मज़दूरी करके उसने कुछ रुपये कमाये हैं। काली की चाची उसे ब्याह करने की सलाह देती है। काली पक्का मकान बनवाने के फैसले पर दृढ़ रहता है और कुछ ही दिनों में इस पर अमल भी शुरू कर देता है, हालांकि छज्जूशाह उसे स्पष्ट कर देता कि मकान चमारों के अपने नहीं, मौरूसी हैं, गांव की सांझी ज़मीन 'शामलात ' पर बने हुए हैं। लेकिन काली का पक्का मकान बनाने के बारे में सोचना ही समाज व्यवस्था के लिए विध्वंसात्मक कार्रवाई है, अतः हर तरह के विरोध का उसे सामना करना पड़ता है।

मकान बनवाने के लिए काली छज्जू शाह से सलाह लेने जाता है तो शाह उसे सलाह देने के साथ-साथ उसके चाचा के उधार की भी सुना देता है, जिसे अदा किये बगैर ही उसकी मृत्यु हो गई थी। कालीदास अपने चाचा के बकाया पचीस रूपये चुकाता है तो छज्जू शाह सोलह रुपये ब्याज भी मांग लेता है।

काली चमादड़ी में पहला पक्का मकान बना रहा है, इससे मंगू भी बहुत चिढ़ा हुआ है। वह काली के पड़ोसी निठल्ले निक्कू को काली से लड़वा देता है। निक्कू मंगू के धक्के से गिरकर हल्की चोट खा जाता है, लेकिन इसका ज़िम्मेदार काली को ठहराया जाता है। घड़म्म चौधरी दो रुपये लेकर फैसला देता है कि काली ठीक कर रहा है। मंगू के अधिक उत्तेजित करने पर काली उसे एक बार अच्छी तरह धुन देता है। इससे मुहल्ले में काली की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। चौधरी हरनाम सिंह काली से मंगू को मारने के लिए जवाबतलबी करता है तो काली का उत्तर सुन उसे भी चुप रहना पड़ जाता है।

मकान बनवाते-बनवाते काली और ज्ञानो की परस्पर दोस्ती भी बढ़ जाती है और दोनों एक-दूसरे के प्रेमपाश में बंध जाते हैं।

मकान बनवाने के लिए काली जिस किसी के पास भी जाता है--भट्ठे पर ईंटें लेने या मिस्त्री सन्ता सिंह के पास या फिर छज्जू शाह के पास सभी उससे चमार कहकर छुआछूत का व्यवहार करते हैं, जो कि बहुत चुभता है। चमारों या हरिजनों के प्रति छुआछूत के इस व्यवहार से तंग आकर नन्द सिंह ईसाई बन जाता है, लेकिन तब भी उसके साथ लोगों का वही व्यवहार बना रहता है।

काली अपने पिता मारवे की तरह कबड्डी का अच्छा खिलाड़ी है। गांव में एक बार वह कबड्डी के जौहर दिखाता है, लेकिन चौधरियों का लडका हरदेव उसके कूल्हे को घायल कर देता है। लालू पहलवान इस हरकत के लिए हरदेव को फटकारता है और स्वयं काली के घर जाकर उसका इलाज करता है।

इसी बीच काली की चाची प्रतापी बीमार पड़ जाती है। काली डॉक्टर बिशन दास को लाता है जो उसे कुछ दवाई आदि देता है। मुहल्ले वालों के कहने पर काली किसी झाड़-फूंक करने वाले को ले आता है और उसी के कारण उसकी चाची की मृत्यु हो

जाती है। चाची की मृत्यु के बाद शोक के लिए बैठने आईं औरतों में सम्भवतः उसकी पड़ोसिन प्रीतो काली के ट्रंक से गहने आदि उड़ा लेती है।

गांव के चौधरी चमार लड़कियों से मनमाना व्यवहार करते हैं। प्रीतो के ऐसे सम्बन्धों व प्रीतो की बेटी लच्छो को चौधरियों द्वारा शोषित करने की स्थिति उपन्यास में है। लेकिन ज्ञानो आत्मसम्मानी लड़की है।

डॉक्टर बिशन दास किताबी कामरेड है, जो चौपाल में बैठकर किताबी बहसें करता है।

बरसात में पूरे गांव व विशेष रूप से चमादड़ी की हालत खराब हो जाती है। चमादड़ी का कुआं बरसात के पानी में डूब जाता है और पीने के पानी की समस्या बन जाती है। मन्दिर का पुजारी पण्डित सन्तराम चमारों को मन्दिर के कुएं से पानी नहीं लेने देता। पादरी अचिंत राम के घर नल लगा है। चमार उसके घर से पानी भरना शुरू करते हैं तो किसी बच्चे द्वारा नल के पास टट्टी करने से खीजकर पादरानी नल को बन्द कर देती है। चमार बरसाती पानी भरने व पीने पर विवश होते हैं।

बरसात से 'चो ' में आई बाढ़ से चौधरियों को भी खतरा हो जाता है। गांव वाले बन्ध काटने का प्रस्ताव करते हैं। चमार और चौधरी मिलकर गांव पर आई इस विपत्ति का सामना करते हैं। बरसाती पानी निकल जाता है तो चौधरियों को अपनी फसलों की चिन्ता होती है और वे चाहते हैं कि काटे हुए बन्ध को फिर भरा जाये ताकि खेतों का पानी 'चो ' में आ जाये। चौधरी चमारों को यह काम करने का आदेश देते हैं।

चमार खुश हैं कि उन्हें काम मिला, इसलिए वे कुदालें-टोकरियां ले बन्ध पर पहुंच जाते हैं। दो दिन लगातार काम करने पर भी न उन्हें दिहाड़ी मिलती है, न रोटी-पानी। चमारों में बेचैनी बढ़ने लगती है और काली आदि नौजवान बिना दिहाड़ी काम करने से इन्कार कर देते हैं। चौधरी चमारों से यह काम बेगार में करवाना चाहते हैं और चमारों द्वारा बेगार से इन्कार करने पर क्रोध में भर उठते हैं व उनके 'बायकाट ' की घोषणा कर देते हैं।

अगले कुछ दिन चमारों के इम्तिहान के दिन हैं। उधर डॉक्टर बिशनदास को चमारों के बायकाट का पता चलता है तो कामरेड टहलसिंह को साथ ले चमारों को

'क्रान्तिकारी ' बनाने आ पहुंचता है! चमारों को जरूरत है अनाज की, ताकि वे संघर्ष जारी रख सकें और 'कामरेड ' बिशनदास व टहलसिंह उनके लिए जलसा करने का प्रस्ताव करते हैं और उनकी अनाज़ की ज़रूरत को 'संशोधनवादी ' करार देते हैं।

चौधरियों की भी हालत खराब हो जाती है, एक सप्ताह की फाकाकशी के बाद आधे दिन की दिहाड़ी पर दोनों पक्ष सहमत हो जाते हैं व बायकाट खतम होता है। बायकाट के दिनों में काली अपना सारा अनाज़ अपनी निन्दक प्रीतो को दे आता है, क्योंकि उसके बच्चे भूखे हैं। ज्ञानो कभी-कभार काली के लिए रोटी लाती है, जो काली स्वीकार नहीं करता।

बायकाट खतम होता है। काली लालू पहलवाने के यहां काम करने लगा है। काली और ज्ञानो के प्रेम की चर्चा सारे गांव में है। वे छिप-छिपकर मिलते हैं। ज्ञानो की सगाई कहीं और कर दी जाती है। ज्ञानो को गर्भ भी ठहर गया है। ऐसी हालत में ज्ञानो की सगाई टूटती है और ज्ञानो की मां अपनी बेटी को संखिया देकर मार डालती है। काली गांव छोड़ जाता है व मंगू उसके घर पर कब्जा कर लेता है। और यहीं उपन्यास समाप्त होता है।

डॉ. इन्द्रनाथ मदान के अनुसार 'धरती धन न अपना ' का जायका संरचना दृष्टि में लिया जा सकता है। उपन्यास में व्यंग्य कथन, स्थिति या चरित्र में देखा जा सकता है। 'धरती धन न अपना' को रमेश कुंतल मेघ ने 'धरती के दुखियारों का सामाजार्थिक दस्तावेज ' का दर्जा प्रदान किया है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए प्रो. मेघ ने उपन्यास में यथार्थ चित्रण के आधार पर उभारे गए सामाजिक अन्यायों की चर्चा की है। सुधी आलोचक ने उपन्यास में व्याप्त 'ठण्डी करुणा ' का भी उल्लेख किया है, लेकिन यह ठण्डी करुणा पाठक को निष्क्रिय करने वाली नहीं है। कुंतल मेघ 'धरती धन न अपना' में 'सहज कला का मण्डन ' भी नोट करते हैं।

उपन्यास के एक अन्य समीक्षक सुधीश पचौरी इसमें 'पंजाब के सामाजिक यथार्थ का चित्रण' देखने के साथ-साथ इसे 'भारत के कृषि सामन्ती ढांचे पर टिप्पणी' के रूप में भी देखते हैं।

स्वयं जगदीश चन्द्र अपने उपन्यास में यथार्थ को 'स्टेटिक ' मानते हैं, 'गतिशील' (Dynamic) नहीं। इसका कारण वे यह मानते हैं कि 'आर्थिक अभावों की चक्की

में युग-युगांतरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं। जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस जमीन को वे जोतते हैं, यहां तक कि जिन छप्परों में वे रहते हैं, कुछ भी उनका नहीं है।" यथार्थ के स्थिर चित्रण होने व गतिशील न होने के पीछे सम्भवतः जगदीश चन्द्र की 'निरपेक्षता ' भी है, जिसे उन्होंने उपन्यास की भूमिका में इन शब्दों में व्यक्त किया है--"मैंने सर्वथा निरपेक्ष रहकर भारतीय जीवन के इन कटे हुए सन्दर्भों का चित्रण किया है और कहीं भी अपना मत थोपने अथवा अपनी विचारधारा लादने का प्रयास नहीं किया हैं।"

स्पष्ट है कि 'धरती धन न अपना ' में जहां एक ओर शोषित वर्ग के एक अत्यधिक शोषित हिस्से चमारों के जीवन का प्रामाणिक व मार्मिक चित्रण हुआ है, वहां साथ-ही-साथ ग्रामीण जीवन के अन्तर्विरोध भी उघड़ते गए हैं। और ग्रामीण जीवन के इन अन्तर्विरोधों के चित्रण में ग्रामीण जीवन के विविध पक्ष भी कुशलता से अंकित हो गए हैं। चमारों के जीवन की यातना न केवल उन पर होते चौधरियों के अत्याचारों के रूप में ही चित्रित हुई है वरन् उनके अपने समाज के दमनकारी ढांचे में ज्ञानो व काली के दुखान्त के रूप में भी चित्रित हुई है। काली व ज्ञानो ही उपन्यास के सर्वप्रमुख चरित्र बनकर भी उभरते हैं। मानवीय विश्व-दृष्टि से रचे इस उपन्यास का शीर्षक भी उपन्यास में व्यक्त यथार्थ के अनुरूप ही ठहरता है।

'धरती धन न अपना ' यद्यपि वातावरण का सजीव चित्रण करता है, लेकिन उपन्यास में कथा-तत्व भी कम नहीं है। उपन्यास की कथावस्तु का संयोजन बड़ी कुशलता से हुआ है। उपन्यास के आरंभ से ही उसमें जिज्ञासा का तत्व है। उपन्यास का आरम्भ काली के छह वर्ष बाद गांव लौटने से होता है। मध्य गांव में काली के बसने के संघर्ष पर केंद्रित है और कथा की चरम सीमा है ज्ञानो की उसकी अपनी मां के हाथों हत्या में। उपन्यास का अन्त काली के पुनः गांव छोड़ने में होता है। इस प्रकार काली के जीवन के एक दौर के पूरे चक्र (Cycle) को उपन्यास की कथा में समेटा गया है।

उपन्यास की कथा संगुम्फित व सुगठित है। कथा-संयोजन में कहीं भी ढीला-ढालापन न होकर कसाव है। उपन्यास की कथा नाटकीय ढंग से कम व विवरणात्मक (Narrative) रूप से अधिक आगे बढ़ती है, यद्यपि कथा को रोचक बनाने वाली नाटकीय स्थितियां उपन्यास की कथा में हैं।

जहाँ तक उपन्सास के चरित्रों का प्रश्न है तो ज्ञानो व काली पारम्परिक नायिका-नायक की तरह उभरकर सामने आते हैं, यद्यपि चौधरी हरनामसिंह, लालू पहलवान, डॉक्टर बिशन दास, पादरी अचिंतराम, चाची प्रतापी, प्रीतो, मंगू चमार, धड़म्म चौधरी, नत्था सिंह आदि भी उपन्यास में अपनी उपस्थिति का एहसास देते हैं। इनमें से कुछ ऐसे चरित्र हैं, जो काफी हद तक प्रतीक चरित्र हैं। डॉक्टर बिशन दास व पादरी अचिंतराम ऐसे ही चरित्र हैं। डॉक्टर बिशन दास किसी किताबी कम्युनिस्ट का प्रतीक चरित्र है। उसके दिल में इसानियत के लिए उतना दर्द नहीं, जितना उसके दिमाग में किताबी मार्क्सवाद है। वह इंसान की जीवन्त परिस्थितियों को नहीं समझता और हवाई-क्रान्ति के सपने लेता रहता है। गांव के चमारों और चौधरियों के संघर्ष को वह 'वर्ग संघर्ष ' के रूप में देखता है और इससे क्रान्ति की उम्मीद लगाता है। चमारों और चौधरियों का संघर्ष निश्चय ही वर्ग-संघर्ष का एक रूप है, लेकिन यह संघर्ष स्वतः स्फूर्त संघर्ष है। चमारों की चेतना अभी वर्गीय-चेतना नहीं है। उन्हें अपने संघर्ष में भौतिक सहायता चाहिए, अनाज की ताकि वे अपना संर्घष तेज चला सकें। लेकिन बिशन दास जैसे किताबी कामरेड उन्हें अनाज की बजाय भाषण पिलाते हैं।

पादरी अचिन्तराम, पण्डित सन्तराम आदि चरित्र धार्मिक पाखण्ड व दम्भ के प्रतीक चरित्र हैं। ये लोग आत्मा-परमात्मा और मानव-प्रेम की पाखण्ड भरी बातें करते हैं, लेकिन मुसीबत के समय किसी की सहायता नहीं करते। बाढ़ से चमादड़ी का कुआं डूबने पर न पण्डित मन्दिर के कुएं से पानी भरने देते हैं और न पादरी नल से जल खींचने देते हैं। बायकाट के समय भी पादरी सहायता के लिए 'रिश्ते ' की बात करता है अर्थात् चमार ईसाई धर्म मानें तो वह सहायता करे।

इन प्रतीक चरित्रों के माध्यम से जगदीश चन्द्र ने धर्म व किताबी मार्क्सवाद की पोल खोली है।

चौधरी हरनाम सिंह चौधरी वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र है। चौधरी चमारों पर धौंस जमाना, उनसे बेगार लेना अपना हक समझते हैं और यही चौधरी अपने पालतू चमारों से भी कैसे दुर्व्यवहार करते हैं, वह चौधरी हरनाम सिंह द्वारा मंगू चमार से किए व्यवहार से स्पष्ट है, जब वह उसे अक्सर 'कुत्ता चमार ' कहकर सम्बोधित करता है। उधर मंगू चमार अपने ही वर्ग का शत्रु है। वह अपने ही वर्ग के दुश्मन का चाटुकार व गुलाम है। चौधरियों की शह पर वह काली, जीतू, बाबा फत्ते ताया बसंते सबसे

झगड़ा मोल लेता है। अपनी बहन ज्ञानो से मारपीट करता है। बावजूद इन सबके चौधरी उसे 'कुत्ता चमार ' ही कहते हैं।

छज्जू शाह चालाक बनिये वर्ग का प्रतिनिधि है। वह मध्यवर्ग का ही हिस्सा है, लेकिन निम्न व उच्च दोनों वर्गों से थोड़ा-बहुत हिस्सा लेता है। वह मीठी-छुरी से काटना जानता है। काली से मीठी-मीठी बातें कर वह उसके चाचा को दिए उधार के नाम पर पचीस रुपये ब्याज ले लेता है। निम्न व उच्च वर्ग के बीच टकराव के समय वह उच्च वर्ग अर्थात् चौधरियों का साथ देता है।

लालू पहलवान अलबत्ता न्यायपूर्ण व मानवीय विचारों का प्रतीक चरित्र है, लेकिन टकराव के समय वह अपने वर्ग से ही जुड़ता है और काली को अनाज देने से इंकार कर देता है।

प्रीतो, चाची प्रतापी, ताई निहाली आदि के रूप में सामान्य दलित औरतों का चित्रण हुआ है।

उपन्यास के प्रमुख चरित्र काली और ज्ञानो ही ठहरते हैं। दोनों ही व्यक्ति निष्ठ व प्रतिनिधिक चरित्र हैं।

काली मारवे का पुत्र व चाची प्रतापी का भतीजा है। काली का पिता, मां व चाचा सभी मर चुके हैं। काली का पिता मारवा पहलवानी करता था, गांव का इज्जतदार आदमी था। लेकिन वह बेटे को जी भर देख भी सका कि चल बसा। दो साल बाद काली की मां को 'प्लेग ' खा गई और फिर चाचे को हैजा खा गया '। वह अब खानदान की एकमात्र निशानी है और चाची प्रतापी ने उसे 'चप्पे गिन-गिनकर ' पाला है। यही काली छह साल पहले 'दो दिन का भूखा प्यासा' 'घर से चोरी ' फटेहाल भाग गया था। उसके जाने के बाद उसकी चाची को उसकी कोई खबर न थी।

काली छह साल कानपुर में रहा, मज़दूरी की और कुछ पैसे बचाकर केवल चाची के मोह में बंधा गांव लौटा है। कानपुर में रहकर काली की चेतना गांव के चमार की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित हो गई है। यही वजह है कि गांव की छह साल के बाद

उसी हालत में देखने पर उसकी गांव लौटने की खुशी खतम होने लगती है और उसका जी चाहता है कि 'उल्टे पांव कानपुर लौट जाए।' लेकिन चाची के ख्याल से वह लौटता है और चाची से यह वायदा करता है कि अब वह कहीं नहीं जाएगा और गांव में ही रहेगा। यद्यपि उसका मित्र जीतू कहता है कि वह 'दोबारा इस नर्क में क्यों आ गया है।'

काली के दोबारा 'नर्क ' में आने का बड़ा कारण उसका अपने गांव से व चाची से लगाव ही है। वह अपने भीतर से भावुक प्राणी है और कानपुर के जीवन से उसमें विकसित चेतना भी आ गई है।

अपनी विकसित चेतना के कारण काली गांव के दूसरे चमारों से अलग व्यवहार करता है और उसका यह व्यवहार गांव की स्थिर व्यवस्था में खलल का कारण बन जाता है। चमादड़ी में पहला पक्का मकान बनवाने की उसकी घोषणा एक सामाजिक क्रांति से कम नहीं है, क्योंकि यह इस बात की सूचक है कि दलितों में भी साधारण मानवीय जीवन जीने की ख्वाहिश पैदा हो चुकी है।

काली का साफ कपड़े पहनना, आत्मविश्वास से चौधरियों के साथ बात करना भी व्यवस्था के लिए चुनौती है। जहां एक ओर गांव के युवक चमारों व लालू पहलवान जैसे न्यायप्रिय व्यक्तियों के लिए काली प्रशंसा का पात्र बनता है, वहां चौधरियों व मंगू आदि के लिए वह चुनौती है। यह शक्तियां काली को तोड़ देना चाहती हैं, लेकिन काली में जीवन की प्यास है। और जीवन की यह प्यास ज्ञानो के साथ प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्धों के रूप में भी व्यक्त होती है।

काली को चमार कहलवाना अपमान लगता है, इसलिए वह मंगू या नन्द सिंह आदि को भी चौधरियों द्वारा चमार या 'कुत्ता चमार ' कहे जाने पर तिलमिलाता है। मिस्त्री सन्ता सिंह पर तो इस बात के लिए वह अपना रोष जाहिर भी करता है।

काली जीवन के प्रति, अपने सम्बन्धों के प्रति ईमानदार है। अपनी चाची से उसे गहरा प्रेम है। उसी के प्रेम में वह गांव लौटता है और जब चाची बीमार होती है तो वह बेहद परेशान होता है। चाची को इलाज के लिए वह शहर ले जाना चाहता है, लेकिन चाची अन्तिम सांसों पर है। गांव की बूढ़ियों के कहने पर वह चाची को झाड़-फूंक करने

वाले के हवाले करता है। यह उसकी चेतना के दुर्बल पक्ष को दिखाता है। इस बात से वह चाची के मरने पर भी पछताता नहीं है, यह उसकी चेतना की और भी दुर्बलता को दिखाता है, क्योंकि उसकी चाची की मृत्यु का तात्कालिक कारण झाड़-फूंक ही था।

काली की विकसित चेतना केवल गांव के सन्दर्भ में ही है। अन्यथा वह भी पिछड़ी हुई चेतना का ही शिकार है। हालाँकि डॉक्टर बिशन दास व टहल सिंह कठमुल्ला किस्म के कामरेड हैं, लेकिन चौधरियों के साथ संघर्ष के समय भी काली की चेतना विकसित नहीं होती।

काली अपनी अन्तिम परिणति में दुखान्त चरित्र है, क्योंकि जीवन में वह अपनी समस्याएं हल नहीं कर पाता। ज्ञानो से उसका प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध है और अपने प्रेम-सम्बन्धों के लिए वे दोनों हर तरह के खतरे उठाते हैं। लेकिन उनके अपने समाज की नैतिकता से उनका ब्याह नहीं हो सकता। पादरी भी इस मामले में मदद से इंकार कर देता है। ज्ञानो की हत्या हो जाती है।

ज्ञानो के घर जाने पर एकत्र हुई भीड़ उससे ज्ञानो को बहिन कहने के लिए कहती है, लेकिन काली और ज्ञानो दोनों ही अपनी आत्मा पर इतना बड़ा बोझ नहीं ले सकते। काली के इंकार करने पर उसका गांव में जीना दुभर हो जाता है। लालू पहलवान उसे काम से हटा देता है। ज्ञानो की हत्या कर दी जाती है और काली फिर गांव छोड़कर जाने पर मजबूर हो जाता है और इस बार का जाना अन्तिम है।

काली का चरित्र लेखक ने अत्यन्त संवेदना से चित्रित किया है। भले ही काली और ज्ञानो उच्च जाति के नहीं हैं, लेकिन अपने प्रेम की पवित्रता में वे हीर-रांझा से कम महान् नहीं हैं। काली सामाजिक अत्याचार के खिलाफ व प्रेम की सच्चाई के लिए स्वयं को बलिदान कर देता है। और इसी बलिदान में उसके चरित्र की महानता है।

उपन्यास का दूसरा प्रमुख चरित्र है ज्ञानो, जो कई अर्थों में काली से अधिक दृढ़ चरित्र है। ज्ञानो मंगू चमार की बहन व जस्सो की बेटी है। ज्ञानो और मंगू घर में दो विपरीत दिशाएं हैं। मंगू चौधरियों की गुलामी करता है और ज्ञानो विद्रोहिणी है। वह अत्याचार बर्दाश्त नहीं करती। उपन्यास में उसका प्रथम परिचय तब मिलता है, तब

वह जीतू को चौधिरयों द्वारा नाजायज रूप में मारे जाने पर चौधरियों को गालियां देती है। यही अवसर है जब वह काली के मन में भी बस जाती है। ज्ञानो के मन में उन लोगों के प्रति घृणा भी है, जो जीतू को चुपचाप पिटते देखते हैं, यहां तक कि वह अपने भाई मंगू को भी गालियां देती है, हालांकि वह जानती है कि इसके बदले मंगू उसकी जमकर धुनाई करेगा। ज्ञानो के अपने शब्दों में उसकी आत्मा व्यक्त होती है-- 'बेबे क्या करूं। नाज़ायज बात देखकर मुझे गुस्सा आ जाता है। चुप नहीं रहा जाता।'

ज्ञानों संवेदनशील व मानवीय लड़की है जीतू पिटाई के बाद घायल पड़ा है। वह उसकी देख-रेख के लिए जाती है। वहीं काली और ज्ञानो एक-दूसरे को छह वर्ष बाद अच्छी तरह देखते हैं। काली के मन में छह साल पहले की "एक बेबाक निडर, झगडालू और खुले बालों वाली लडकी" कौंधती है। अब उसी ज्ञानो का यौवन सुडौल रूप में फूट पड़ा है, लेकिन उसके वही गुण बरकरार हैं।

ज्ञानो नहीं चाहती कि काली और मंगू में बैरभाव हो। काली भी यह नहीं चाहता, लेकिन मंगू के रंग-ढंग ही ऐसे हैं कि झगड़ा होकर ही रहता है। मंगू ज्ञानो को भी हमेशा बुरी तरह मारता है व अपमानित करता है और उनके घर से ज्ञानो की चीखें मुहल्ले भर में सुनाई देती हैं।

ज्ञानो के चरित्र में दृढ़ता बहुत बड़ा गुण है। वह अपने इरादों की पक्की लड़की है। किसी चौधरी की यह मजाल नहीं कि वह उसे छोड़े या तंग करे, हालांकि चमारों की लड़कियों को चौधरी अपनी खुराक समझते हैं। उधर उसका भाई मंगू इतना बेशर्म है कि चौधरी उसके मुंह पर ज्ञानो के लिए लार गिराते हैं और वह शर्म भी नहीं मानता।

काली के पक्का मकान बनाने के प्रस्ताव से ज्ञानो ही सबसे अधिक खुश है और वह काली को इसके लिए खूब उत्साहित करती है। काली के मन में बार-बार कचोट लगती है और वह निराश होकर गांव छोड़ने की बात सोचने लगता है। ऐसे समय में ज्ञानो का सुदृढ़ व्यक्तित्व उसका सहारा बनता है और वह गांव में रहकर मुश्किलों से जूझने का इरादा करता है।

काली को कबड्डी में चोट लगती है तो ज्ञानो हर तरह का खतरा उठाकर उसका हालचाल पूछने आती है और यहीं पहली बार उनका शारीरिक-सम्बन्ध बनता है। ज्ञानो को इन सम्बन्धों से डर और शर्म का एहसास होता है। बाद में भी जब कभी काली उससे शारीरिक-सम्बन्धों का आग्रह या कोशिश करता है तो ज्ञानो को थोड़ी-सी खीझ होती है, यद्यपि दोनों में भावनात्मक स्तर पर अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम है। इसका कारण स्पष्ट है और उपन्यास के दुःखद अन्त से इस कारण का आधार भी स्पष्ट हो जाता है। स्त्री-पुरुष शारीरिक सम्बन्धों में पुरुष को तो किसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता, लेकिन स्त्री के गर्भधारण की स्थिति उसे समाज में अस्वीकार्य बना देती है और कई बार, जैसा कि ज्ञानो के साथ हुआ, अपनी जान से इसकी कीमत चुकानी पड़ती है।

चमारों के बायकाट के समय ज्ञानो बहुत उत्साह में है और जी-जान से चौधरियों का विरोध करती है। वह काली का ध्यान रखती है, इसी से काली को चमादड़ी के ताने सुनने पड़ते हैं, हालांकि वह अपने घर का सारा अनाज अपनी पड़ोसिन प्रीतो को दे डालता है। मुहल्ले वालों के तानों का बदला वह ज्ञानो से लेता है और प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध होने पर भी ज्ञानो अपने स्वाभिमान की उपेक्षा सहन नहीं करती। वह भी काली से कन्नी काटने लगती है और काली के मनाने पर उसे फटकारती भी है।

ज्ञानो और काली का प्रेम सामाजिक सीमाओं को लांघने लगता है तो ज्ञानो को पहले 'मोरनी ' फिर 'काली की मोरनी ' का खिताब दे दिया जाता है और ज्ञानो के जीवन के अन्तिम दिन भी आ जाते है। सामाजिक परम्पराओं के अनुसार ज्ञानो और काली का ब्याह नहीं हो सकता, हालांकि वे 'इक दूजे के लिए ' बने हैं। दोनों ईसाई बनने को भी तैयार हो जाते हैं, लेकिन जब पादरी भी उनका ब्याह करवाने पर राज़ी नहीं होता, क्योंकि ज्ञानो अभी 'नाबालिग ' है। उधर ज्ञानो के गर्भ का राज खुल गया है और उसकी मां व भाई उसकी हत्या करने की योजना बना लेते हैं।

मां के कहने पर ज्ञानो चुपचाप संखिए की गोली खा लेती है। वह जानती है कि उसकी मंजिल आ गई है। पहली बार उसका भाई मंगू उसके लिए रोता है, मां भी रोती है। मां की चीखें सारे गांव पर छा जाती हैं। गांव वालों को जस्सो की चीखों का राज़ पता है, क्योंकि 'गांव में हर प्रेम की मारी मुटियार का गर्भवती होने के बाद यही हाल होता था और ऐसी मुटियार की मां की चीखें बहुत ही करुणा भरी होती थीं।

क्योंकि उनमें बेटी के पाप के साथ-साथ उसके अपने पाप का पछतावा भी शामिल होता था।'

ज्ञानो के दुखान्त के रूप में जगदीश चन्द्र ने सामन्ती मूल्यों वाले समाज में भारतीय नारी के दुखान्त को ही एक बड़े स्तर पर अभिव्यक्ति दी है।

उपन्यास की भाषा उपन्यास के विषय और वातावरण के अनुरूप है। लेखक ने उर्दूनुमा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है और इसकी शैली में बहते पानी जैसी रवानगी है। कुछ देशी शब्दों जैसे 'चो' आदि का भी लेखक यदि 'शाहबेला' (ब्रेकफास्ट) कर तरह अर्थ स्पष्ट कर देता तो और अच्छा होता। पंजाबी मुहावरों के प्रयोग ने भाषा को मुश्किल न बना, अधिक रवांदार ही बनाया है।

उपन्यास के संवादों में स्वाभाविकता है, गालियों आदि के प्रयोग से संवादों की प्रामाणिकता बढ़ी है।

देश-काल वातावरण चित्रण में लेखक को महती सफलता मिली है। भारतीय गांव में दलित वर्गों की स्थिति जैसी स्वतन्त्रता से पहले थी, लगभग वैसी ही स्वतन्त्रता के बाद भी बनी रही। लेकिन दलित वर्गों में चेतना का विकास अवश्य हुआ और जहां-जहां इस वर्ग में चेतना विकसित हुई, वहीं-वहीं उच्च व सत्ता सम्पन्न वर्ग से इसका टकराव भी अवश्य हुआ।

'धरती धन न अपना ' में आरम्भ से ही वातावरण-चित्रण की ओर लेखक का विशेष ध्यान केन्द्रित है। भौगोलिक से लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण तक उसकी दृष्टि फैली है। गांव में दाखिल होते ही काली के नाक में गांव की अभिन्न गन्ध दाखिल होती है। चौधरियों का मुहल्ला, स्कूल, स्कूल के मास्टर व लड़के, मन्दिर व चमादड़ी (चमार या हरिजन बस्ती) सभी का लेखक ने चित्रात्मक वर्णन किया है।

उधर घर पहुंचने पर घर में तेल की शीशी खाली होने पर काली की चाची बिना तेल चुए उसे घर में दाखिल नहीं होने देती। चाची और काली के मोह प्यार का भी लेखक ने भावनात्मक स्तर पर चित्र खींचा है। काली के घर लौटने की खबर चाची शब्दों से नहीं 'शक्कर की चुटकी ' से मुहल्ले में देती है।

आर्थिक वातावरण का चित्रण भी लेखक ने यथार्थ रूप में किया है। काली की चाची के लिए काली के पास नोट होना खुशी का नहीं, चिंता का बायज बनता है। इस रुपये से छोटा नोट न होना, चमार समाज में काली की समृद्धि का प्रतीक बनता है।

काली का साफ कपड़े पहनना, चमादड़ी में पहला पक्का मकान बनवाने की घोषणा करना आदि गांव के सामन्ती वातावरण के लिए चुनौती का चिह्न बन जाता है। दूसरी ओर काली का छह वर्ष कानपुर में रहकर मज़दूरी करना उसकी बढ़ी हुई सामाजिक चेतना का चिह्न है। गांव में चौधरी लोग चमारों साथ दासों जैसा व्यवहार करते हैं, उनसे मार-पीट, गाली-गलौज व्यापक स्तर पर करते हैं। बिना अपराध के भी, केवल आतंक फैलाने के लिए भी चमारों को पीट दिया जाता है, जैसे जीतू की चौधरी हरनाम सिंह द्वारा पिटाई।

चमादड़ी के वातावरण का उपन्यास में बड़ा सजीव चित्र अंकित हुआ है। औरतों की गालियां, नंग-धडंग, नाक सुड़सुड़ाते बच्चे, उनके शरीरों और कपड़ों से निकलती पसीने की बदबू, गोबर और कुड़े के ढेर, छप्पड़ आदि और इसके साथ ही औरतों के गाये गीतों व शादी ब्याह के चर्चे द्वारा चमादड़ी का आर्थिक-सांस्कृतिक वातावरण पाठक की आंखों के सामने उघड़ने लगता है। यह वातावरण कदापि सुन्दर नहीं हैं, लेकिन इसी वातावरण में उस जीवन की आन्तरिक मानवीयता निहित है।

चमारों या हरिजनों के घर अधिक बच्चे होने के तथ्य को भी इंगित किया गया है। प्रीतो ने एक दर्जन बच्चे जने हैं और बेबे हुक्मा ने तेरह। लेकिन ज्यादातर बच्चे गरीबी के कारण मौत की गोद में सो जाते हैं। बेबे हुक्मा के तेरह में से बारह बच्चे धरती की गोद में चले गये।

चमादड़ी व गांव में वहम के वातावरण को भी लेखक ने चाची प्रतापी के झाड़-फूंक द्वारा इलाज के वर्णन में चित्रित किया गया है। यही इलाज चाची प्रतापी की मौत का कारण बनता है। चाची प्रतापी की झाड़-फूंक के वर्णन में उपन्यासकार ने इस सच्चाई को भी उद्घाटित किया है कि जब तक दलित लोगों की आर्थिक परिस्थितियां नहीं सुधरतीं, उनमें शिक्षा का प्रसार नहीं होता, वे इन पाखण्डियों के जाल से नहीं निकल सकते।

नंद सिंह व काली के साथ छज्जू शाह व अन्य लोगों के व्यवहार से भारतीय समाज की जाति व्यवस्था को भी उद्‌घाटित किया गया है। विशेषतः नंद सिंह के संदर्भ में भारतीय समाज की जाति-विभेद की जकड़न अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है। नंद सिंह को 'चमार ' होने की नियति से न तो सिख बनकर मुक्ति हासिल होती है और न ही ईसाई बनकर। गांव का चौधरी उसे न तो जूता बनवाने के पैसे देता है और न ही उसकी इंसान के रूप में इज्जत करता है। ईसाई होकर भी वह 'कुत्ता चमार ' ही रहता है। पादरी अचिन्तराम आदि की भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि महज धर्म-परिवर्तन से हमारे समाज में निम्न जातियों या वर्गों की मुक्ति संभव नहीं है। केवल व्यापक आर्थिक-सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन ही उनका जीवन बदल सकता है और उन्हें इंसान के रूप में सम्मानित दर्जा दिला सकता है।

लेकिन 'धरती धन न अपना' की सामाजिक परिवर्तन चाहने वाली शक्तियां कठमुल्ला हैं। डॉक्टर बिशन दास, कामरेड टहलसिंह को यह चिंता नहीं कि संघर्षरत दलितों को अनाज की सहायता दें, उन्हें चिंता है कि 'क्रांति ' हो। जैसे क्रांति कोई अमूर्त चीज हो जिसका जीवन से कोई रिश्ता न हो।

'धरती धन न अपना' में सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों की व संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन जिन परिस्थितियों में यह संघर्ष हुआ है उनमें दलित वर्ग व संघर्षशील लोगों की संपूर्ण विजय संभव नहीं है। तो भी उनके संघर्ष ने इतना तो सिद्ध किया ही कि उनके श्रम के बगैर समाज चलना संभव नहीं है और बिना किसी बाहरी सहायता के केवल अपने त्याग और एकता के बल पर सप्ताह भर के संघर्ष के बाद वे कम-से-कम बेगार से तो छूटे और आधी दिहाड़ी के हकदार हुए।

ग्रामीण समाज व उसमें भी विशेषतः दलित वर्ग के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के चित्रण में जगदीश चन्द्र को इस उपन्यास में अद्‌भुत सफलता हासिल हुई है।

'धरती धन न अपना ' शीर्षक, उपन्यास की आत्मा व उद्देश्य को काफी हद तक स्पष्ट कर देता है। जगदीश चन्द्र ने उपन्यास के संस्मरणों में बताया है कि किसी प्रकार उपन्यास समाप्त होने के बाद कई शीर्षक सोचे गए और अन्त में 'धरती धन न अपना ' को उपन्यास के शीर्षक रूप में चुना गया। वास्तव में यही शीर्षक उपन्यास

की आत्मा के सर्वाधिक निकट है। काली जब अपने कच्चे कोठे को पक्का करने के लिए छज्जूशाह से मशविरा लेने जाता है, तब यह राज़ उस पर खुलता है कि जिस ज़मीन पर चमादड़ी के मकान बने हैं, वह गांव की सामूहिक ज़मीन यानि 'शामलात' है व उस ज़मीन पर उनका यानि हरिजनों का हक तभी तक है, जब तक वे वहां बसे हैं। अर्थात् यह जमीन व घर मौरूसी हैं, वे उनके मालिक नहीं हैं। काली के लिए यह रहस्योद्घाटन चौंकाने वाला है। लेकिन काली में स्थायित्व और अच्छे जीवन की चाह इतनी अधिक है कि यह तथ्य जानकर भी वह अपने कच्चे कोठे को पक्का करवाने का फैसला करता है और उसे पक्का करवा भी लेता है।

'धरती धन न अपना ' शीर्षक के माध्यम से जगदीश चन्द्र ने काफी हद तक दलित वर्ग की नियति को इंगित किया है।

'धरती धन न अपना' की रचना के पीछे जगदीश चन्द्र का उद्देश्य या लक्ष्य क्या है? एक स्तर पर यह आत्माभिव्यक्ति है, जैसा कि उन्होंने उपन्यास की संक्षिप्त भूमिका में स्वयं कहा है कि यह उपन्यास उनकी किशोरावस्था की कुछ अविस्मरणीय स्मृतियों और इन स्मृतियों के दामन में छिपी अदम्य वेदना की उपज है। लेखक के किशोर मन में अपने गांव में देखे जातिगत भेदभाव व अत्याचार से विद्रोह की ज्वालाएं भड़कती थीं, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति का कोई साधन नहीं था।

वर्षों बाद लेखक के अर्थशास्त्र के अध्ययन ने इस सामाजिक अत्याचार के आर्थिक कारण भी स्पष्ट कर दिए। विडम्बना यह थी कि वर्षों बाद भी लेखक के देखे गांवों में स्थिति वैसी ही थी, जबकि जकड़न पहले से कुछ अधिक ही थी। लेखक ने पाया कि आर्थिक अभावों की चक्की में पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं का शिकार हैं। ज़मीन, घर, तन और मन कुछ भी उनका अपना नहीं है। किशोर मन की वेदना और परिपक्व मस्तिष्क की समझ के संयोग से ही इस उपन्यास का जन्म हुआ है। स्पष्ट है कि उपन्यास जहां एक ओर वेदना की आत्माभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर इस वेदना के कारणों की पड़ताल भी है। और कारणों की यह पड़ताल काफी समझ-बूझ से की गई है। सृजनात्मकता और समझ के संयोग से उपन्यास निश्चय ही धरती के दुखियारों का न सिर्फ सामाजार्थिक दस्तावेज, वरन् सृजनात्मक दस्तावेज भी बन गया है।

लेखक के वातावरण चित्रण के संदर्भ में हमने देखा कि किस प्रकार लेखक ने उपन्यास में पंजाब के गांवों में दलितों के कारुणिक जीवन का मार्मिक व यथार्थ चित्र खींचा है। यह चित्र पंजाब से सम्बन्धित है, लेकिन हरियाणा, आंधप्रदेश, उत्तर प्रदेश या बिहार आदि में यह चित्र और भी भयानक है। यद्यपि पंजाब का आर्थिक विकास पिछले कुछ वर्षों में अधिक हुआ है, लेकिन आर्थिक विकास सामाजिक विकास का एकमात्र कारण नहीं बनता। उपन्यासकार ने उपन्यास में पंजाब के ग्रामीण समाज का आर्थिक ढांचा तो उघाड़ा ही है, सामाजिक व सांस्कृतिक ढांचा भी उघाड़ा है। और उसका ध्यान इस समाज के मानवीय व सांस्कृतिक पक्ष की ओर अधिक गया है।

दलित वर्गों से सहानुभूति रखते हुए भी लेखक ने उस समाज के अमानवीय पक्षों को भी साथ ही उघाड़ा है। ज्ञानो और काली का दुखान्त चौधरियों के कारण नहीं, वरन् चमार समाज के अपने सांस्कृतिक ढांचे के कारण है। हरिजन समाज का सांस्कृतिक ढांचा भी भीतर से दमनात्मक है। और इस सांस्कृतिक दमन का शिकार बनते हैं, उस समाज के सबसे अच्छे लोग यानि ज्ञानो और काली। हालांकि यह मानना पड़ेगा कि हरिजन समाज का यह दमनात्मक सांस्कृतिक ढांचा समाज के व्यापक दमनात्मक ढांचे का हिस्सा ही है। समाज में व्यापक स्तर पर सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन होता तो निश्चय ही हरिजन समाज का सांस्कृतिक ढांचा भी बदलता।

उपन्यासकार को अपने उद्देश्य में दोनों स्तरों पर सफलता मिली है। वेदना की अभिव्यक्ति भी उपन्यास में मर्मस्पर्शी ढंग से हुई है और इस वेदना के सामाजिक-आर्थिक कारण भी उपन्यासकार की समझ के अनुसार प्रभावशाली ढ़ंग से व्यक्त हुए हैं।

लेकिन उपन्यासकार की समझ या विश्व-दृष्टि एक सीमा तक ही यथार्थ-बोध से प्रेरित है। वह अपनी सीमा के पार जाकर नहीं देख सकती। इसलिए उपन्यास में भयावह व ठंडी करुणा से भरे यथार्थ का तो अंकन हुआ है, उसी भयावह यथार्थ के भीतर छिपी परिवर्तन कामना व गतिशीलता का उतना अंकन नहीं हो पाया है। दलितों के संघर्ष के रूप में उनकी मुक्ति कामना अभिव्यक्त हुई है, लेकिन इस कामना को संभावना के रूप में नहीं देखा गया। हरिजनों की सीमित विजय से भी उपन्यासकार बहुत उत्साहित नहीं होते, जबकि उपन्यास से ही यह तथ्य जाहिर होता

है कि उन परिस्थितियों में बेगार करने के स्थान पर आधी दिहाड़ी का लेना भी एक बड़ी जीत है।

समुचित विश्व-दष्टि के अभाव में उपन्यासकार कहीं-कहीं वर्गसाम्य के सुझाव का आभास भी देने लगता है। गांव में आई बाढ़ जैसे प्राकृतिक संकट के समय चमार और चौधरी हाथ में हाथ डाले प्राकृतिक संकट का सामना करते हैं, जबकि प्राकृतिक संकट के टलते ही उनके सामाजिक तनाव फिर उठ खड़े होते हैं। वास्तव में हमारे समाज का वर्ग-वैषम्य इस हद तक स्पष्ट है कि लेखक के पास भी वर्ग-साम्य के भ्रम की गुंजाइश नहीं बचती। एक समुचित विश्व-दृष्टि से वे मानव और प्रकृति व मानव समाज के अर्न्तद्वन्द्वों को और अधिक प्रभावशाली ढंग से चित्रित कर सकते थे।

काली और ज्ञानो दोनों ही उपन्यास में प्रतिनिधि चरित्र का दर्जा हासिल करते हैं। दोनों ही दलित वर्ग की आगे बढ़ी हुई संघर्षशील चेतना के प्रतिनिधि चरित्र हैं। उनकी तत्कालीन परिस्थितियां ही उनकी नियति की निर्णायक हैं और उन परिस्थितियों में उनका यही दुःखद अंत उनकी नियति है।

काली और ज्ञानो दोनों अपने वर्ग के सामान्यीकृत प्रतिनिधि भी हैं अर्थात् उनमें मेहनतकश वर्ग के सामान्य गुण भी मिलते हैं तथा वे अपनी व्यक्तिगत विशिष्टताएं भी लिये हुए हैं और अपने वर्ग के भीतर ही अपनी विशिष्ट छाप भी बनाते हैं।

दलित वर्ग को लेकर हिन्दी में काफी उपन्यासों की रचना हुई है। अन्य भाषाओं, जैसे मराठी आदि में भी दलित वर्ग के जीवन को साहित्य का विषय बनाया गया है। बहुत सारी रचनाएं ऐसी भी हैं जो स्वयं दलित वर्ग से सम्बन्धित लेखकों ने रची हैं और वे रचनाएं काफी प्रामाणिक व प्रभावशाली हैं, जैसे--दया पवार का मराठी उपन्यास 'अछूत '। इन उपन्यासों की परम्परा में जगदीश चन्द्र के 'धरती धन न अपना ' का स्थान भी महत्वपूर्ण है। गैर-दलित होकर भी जगदीश चन्द्र के इस उपन्यास में दलित वर्ग का जीवन्त, मार्मिक व प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत हुआ है और जब तक दलितों का जीवन सुधर नहीं जाता यह उपन्यास हमें उनकी दशा की ओर ध्यान दिलाता रहेगा।

4. मैला आँचल और भारतीय उपन्यास

भारतीय उपन्यास की अपनी खास स्वायत्त पहचान निर्धारित करने में जिन उपन्यास लेखकों की कृतियों से विशेष प्रेरणा मिली है, उनमें फणीश्वरनाथ रेणु अन्यतम हैं। भारतीय उपन्यास की भारतीयता को ठीक-ठीक परिभाषित करने के लिए जो प्रमुख स्थापनाएँ की गयी हैं उनमें प्रमुख है कि भारतीय उपन्यास योरोपीय अर्थ में मध्यवर्ग का महाकाव्य या मध्यवर्ग की महागाथा नहीं है बल्कि वह ठेठ भारतीय अर्थ में किसान चेतना का महाकाव्य या महागाथा है या विशेष सन्दर्भ में स्त्री-चेतना की महागाथा है या जैसा पिछले दिनों नामवर सिंह ने 'प्रेमचन्द और भारतीय उपन्यास' जैसे विषय पर केन्द्रित अपने वक्तव्य में कहा कि ये दोनों चेतनाएँ भारतीय उपन्यास की अन्तर्वस्तु में अक्सर मिले-जुले संश्लिष्ट रूप में दिखाई देती हैं। जैसे प्रेमचन्द के 'गोदान' में होरी का संघर्ष उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना धनिया का। दूसरी और रूप की दृष्टि से विचार भारतीयता का नियामक सूत्र माना गया है जिसमें मन्थर गति से चलनेवाली लय अलग से ध्यान आकृष्ट करती है।

कोई भी साहित्य रूप अपने सामाजिक-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश की निर्मिति होता है और उसके एक खास बुनियादी चरित्र के बावजूद परिवर्तन की सम्भावनाएँ उसी परिवेश के दबाव से प्रभावित होती हैं। उपन्यास इसका अपवाद नहीं है। रेणु का पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'मैला आँचल ' इस वास्तविकता को बखूबी प्रमाणित करता है। 'मैला आँचल ' का 1954 में प्रकाशन हिन्दी उपन्यास जगत की एक घटना है। ग्रामीण यथार्थ को आधार बनाकर उपन्यास पहले भी लिखे गये थे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' के यथार्थ से हम परिचित ही हैं। शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' जैसे उपन्यास का अलग ही महत्त्व है। पर 'मैला आँचल' की नवीनता और सर्जनात्मक क्षमता को पहली बार एक आश्चर्य की तरह लक्ष्य किया गया, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। भारतीय उपन्यास के पाठक अब तकषि शिव शंकर पिल्लै के उपन्यास 'मछुवारे ', गोपीनाथ महांति के उपन्यास 'माटीमटाल' से अपरिचित नहीं है। फिर भी 'मैला आँचल' की नवीनता में कुछ खास है जिसे समझने के लिए उपन्यास के विश्व-सन्दर्भ को तथा भारतीय-सन्दर्भ को, विशेष रूप से स्थानिक सन्दर्भ को साथ-साथ ध्यान में रखने की जरूरत है। एक जीवन्त क्रीड़ा भाव या विनोदप्रियता, वस्तु तथ्य, चरित्र या भाव प्रसंग की मूर्तता में जहाँ निरन्तर मौजूद है, वहीं क्या एक ट्रैजिक रंग भी रह-रहकर नहीं उभरता! और यह एक ऐसा

संकेत है जो 'मैला आँचल ' के मर्म तक पहुँचने में सबसे अधिक सहायक हो सकता है। कहने की जरूरत नहीं है कि इस संकेत को, संकेत में नहीं, कृति की समग्रता में देखने और पढ़ने की जरूरत है।

'मैला आंचल' के पहले संस्करण की भूमिका में खुद रेणु ने उसे 'आँचलिक उपन्यास' कहा था जिसका कथाकेन्द्र है पूर्णिया। पर जिसके एक छोटे हिस्से या सीमित अंचल को पिछड़े गाँव का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथाक्षेत्र बनाया गया है। रेणु के शब्द हैं : 'इसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी--मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।' यही है वह खास जीवन-सन्दर्भ--जो रेणु का औपन्यासिक यथार्थ भी है और वह दृष्टि बिन्दु भी जिससे यथार्थ को देखा जा रहा है। जहाँ बाह्य नैतिकता की धज्जियाँ उडाई जा रही हैं वहीं आन्तरिक नैतिकता के लिए छटपटाहट भी है। इस द्वन्द्व के कारण ही 'मैला आँचल' आंचलिक उपन्यास भी है और आधुनिक उपन्यास भी। आखिर एक विशेष अर्थ में 'मैला आँचल' में बालदेव, लक्ष्मी कोठारिन, बामनदास जैसे कितने ही खरे, सजीव जीवंत चरित्र हैं पर कोई एक चरित्र उसमें केन्द्रीयता नहीं प्राप्त करता है जिसमें मानवीय उदात्तता और विकट ऊल-जलूल का अद्भुत संयोग है। परस्पर विरोधी मान्यताओं के टकराव के बावजूद गहरी जीवनासक्ति 'मैला आँचल' का बीजभाव है। संघर्ष के मूल उद्वेग के साथ ही एक ट्रैजिक लय उपन्यास के कथाप्रवाह में आद्यंत मौजूद है। पर वह नकारात्मक नहीं है। जीवनासक्ति के मूलभाव से ही सम्बद्ध है।

कहना न होगा, भारतीय उपन्यास की भारतीयता को निर्धारित करने में समयबोध की विशिष्टता और गहरी स्थानीयता की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। बल्कि स्थानीयता के गहरे अहसास में ही समय का बोध भी शामिल है, घुला मिला है। एक तरह से देखा जाय तो इस पिछड़े ग्रामांचल में मलेरिया सेंटर के खुलने भर से हलचल सी पैदा हुई है। पर दूसरी ओर एक असहाय जड़ता या सूनापन भी इसमें व्याप्त है। बालदेव और कालीचरन जिन विचारधाराओं के प्रतिनिधि या प्रतीक हैं उनके आगे भी विचार-संस्कार-संघर्ष कई स्तरों पर मौजूद है। बामनदास जिस मूल्यक्षय की त्रासदी को लेकर क्षुब्ध या हताश है वहाँ सारा जीवन व्यापार स्थगित है। वह जीवन सीमान्त कहीं अधिक महत्वपूर्ण है जहाँ संथाल-संथालिनों का संघर्ष या प्रतिरोध अंकित है। उसकी एक अपनी नई भाषा है। यहाँ विद्रोह जीवनासक्ति से बाहर की चीज नहीं है। कथा

के एक छोर पर है वन्ध्या धरती का विशाल अंचल--जिसमें दूब भी नहीं पनपती। दूसरे छोर पर वह अनिवार्य संगीत--जो शोषण और दमन के घटनाचक्र में और मुखर या तेज होता जाता है। बिखरे हुए असम्बद्ध घटना-प्रसंगों के बीच इसी अन्तर्विरोधी जीवन लय को पकड़ने की जरूरत है। महंथ सेवादास से लक्ष्मी कोठारिन का सम्बन्ध, रामदास और लक्ष्मी के बीच तनाव और लक्ष्मी कोठारिन से गाँधीवादी बालदेव का सम्बन्ध एक सी स्थितियाँ नहीं हैं। कहीं शारीरिक शोषण को आध्यात्मिक गौरव से ढँका जा रहा है। कहीं लौकिक जीवनासक्ति आध्यात्मिक झूठ की हँसी उड़ा रही है। प्रशान्त और कमली का सम्बन्ध आदर्श और भावना के मूलभाव से जुड़ा है और उसे भविष्य संकेत से जोड़कर विशेष अर्थवत्ता भी दी गयी है पर उससे कहीं अधिक जीवन्त लगाव दूसरे चरित्र-रूपों में दिखाई देता है।यही कारण है कि उपन्यास का पूर्वपक्ष जितना सशक्त है उतना उत्तरपक्ष नहीं। 'मैला आँचल ' को समग्रता में देखते हुए भी इस फर्क को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

यहाँ कुछ चरित्र-रूपों की विशिष्टता सबसे अधिक उपन्यास को पठनीय बनाती है। महत्त्वपूर्ण उपन्यास में उल्लेखनीय चरित्र वे होते हैं, जिन्हें गुण-दोष की श्रेणी में स्पष्ट रूप से परिभाषित लक्षणों के आधार पर देखना असम्भव हो उठे। बालदेव ऐसा ही चरित्र है। रामकृष्ण कांग्रेस आश्रम का कार्यकर्त्ता बालदेव तब तक तिरस्करणीय ही बना रहता है जब तक मलेरिया सेंटर के लिए उसकी उपयोगिता नहीं स्वीकार कर ली जाती। लक्ष्मी की नजर में 'कितने सूधे हैं बालदेव जी! ' बालदेव का अनुभव है कि लक्ष्मी के शरीर से 'एक खास तरह की सुगन्ध निकलती है। ' गाँधीजी के रास्ते पर चलने वाला बालदेव हिंसावाद के विरुद्ध है। अतिरिक्त संकोच और डर से घिरा हुआ वह कई बार पहल नहीं करता, महज अनुसरण करता है। महंथ सेवादास के निधन पर मठ की गद्दी को लेकर जो विवाद खड़ा होता है उसमें लक्ष्मी के प्रति संवेदनात्मक झुकाव के बावजूद वह हस्तक्षेप नहीं करता। जबकि कालीचरन के सीधे हस्तक्षेप से विचलित होता है; ईर्ष्यादग्ध। कालीचरन की उग्र क्रान्तिकारिता और बालदेव का गांधीवाद, इस विचारधारात्मक संघर्ष को रेणु ने उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में उभारने की कोशिश की है। इस गाँव का अपना खास ढाँचा है। जातिविभक्त समाज की विडम्बनाएँ एकदम सतह पर ही दिखाई दे जाती हैं। कायस्थ-राजपूत-यादव--सबके सोचने के ढंग में पहले 'जाति ' आती है। डॉक्टर प्रशान्त का जादू गाँव पर आसानी से चल जाता है तो भी उससे पहले-पहल 'जाति ' ही पूछी जाती है। प्रशान्त के लिए बताया गया है कि उसे किन्हीं उपाध्यायजी ने कोशी नदी में पाया था।

बंगालिन डाक्टरनी ने पाल-पोस कर बड़ा किया। गाँव में आते हुए उसे पहला केस मिला--तहसीलदार की बेटी कमली का जो बेहोशी का शिकार होने के नाते सबकी चिन्ता का विषय रही है। कभी-कभी उसी की बीमारी में नाट्य और असलियत का फर्क गायब हो जाता है। डॉक्टर और कमली के परस्पर आकर्षण को न तो दूसरा नाम दिया गया है न उस मूलभाव का कोई अन्यथाकरण ही किया गया है। यह जरूर है कि गाँव के बदलने की कल्पना और कमली को सम्पूर्ण पाने की कल्पना एक ही आदर्शीकृत रागभाव के भिन्न रूप हैं। चरखा सेंटर की मंगलादेवी क्रान्तिकारी समाजवादी कालीचरन के यहाँ चली जाती है और प्रकट है कि कालीचरन के क्रातिवाद के संकल्प में इससे फर्क नहीं पड़ता। क्रान्ति की पहल कुछ ज्यादा मानवीय हो उठती है। एक तरह से देखें तो अवैध प्रेम सम्बन्धों का जाल-सा फैला है 'मैला आँचल ' में, पर सब मिलाकर वह जीवन के खुलेपन का ही प्रमाण है। उसे लेकर न बहुत वर्जनाएँ हैं न अतिरिक्त कुण्ठा! हर प्रेमी यहाँ देवता नहीं, आदमी की खोज में है। मानवीय दुर्बलताएँ ही यहाँ प्रखर और उदात्त के लिए भी जगह बनाती है। रेणु के सामने जो जीवन लहरा रहा है उसमें औसत विधि निषेधों के लिए कोई जगह नहीं।

'मैला आँचल ' दो खंडों में लिखा गया उपन्यास है। दूसरे खंड के शुरू में ही संकेत है कि 'शुरू में ही संकेत है कि 'सुराज ' पन्द्रह तारीख (1947) को मिल जाने वाला है। पहला खंड स्वाधीनता आन्दोलन के अन्तिम दौर को घेरता है। पर पाठक अनुभव करेंगे कि उपन्यास दो खंडों में ही नहीं, खंड-खंड प्रसंगों की बनावट को अक्षुण्ण रखते हुए लिखा गया है। जाहिर है वह यथार्थवादी इतिवृत्त के परिचित मॉडल को तोड़कर लिखा गया है। यहाँ यथार्थ के साथ जीवन के मूल रस-राग-सौन्दर्य-संगीत को आत्मसात करने के लिए एक ढीला-ढाला कथात्मक ढाँचा खोज लिया गया है। इसी अर्थ में 'मैला आँचल' भारतीय उपन्यास है। निर्मल वर्मा ने इस खास शिल्प रूप की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखा है : " 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा ' महज उत्कृष्ट आँचलिक उपन्यास नहीं हैं, वे भारतीय साहित्य में पहले उपन्यास हैं जिन्होंने अपने ढंग से, झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी जो यथार्थवादी उपन्यास के ढाँचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव, कथात्मक परम्परा को तोड़ा था। उसे अलग-अलग 'एपीसोड' में बाँटा था, जिन्हें जोड़नेवाला धागा कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैण्ड स्केप था जो अपनी आत्यन्तिक लय में उपन्यास को रूप और फार्म देता है।" वास्तविकता

यह है कि भारतीय उपन्यास की इस आन्तरिक लय को रेणु ने झिझकते हुए नहीं, बहुत सतर्क ढंग से पकड़ने या स्वायत्त करने की कोशिश की। वे कहानियों-उपन्यासों के साथ ही बहुत सहज जातीय घटनाचक्र पर और रोज के जीवन-प्रवाह पर आधारित मुक्त गद्य-वृत्त (रिपोर्ताज आदि) लिखने की कोशिश कर रहे थे। यह एक सजीव तात्कालिक समय को पकड़ने का ढंग था। एक तरह की चुनौती भी थी। वही प्रकृति के सजीव रूपों को समानान्तर में रचते हुए उन्होंने ऐसे अनुभवों को एक विराट स्पेस देने की कोशिश की। उन्होंने यह कला अपने अनुभव, संवेदन और यथार्थ दर्शन के साथ विकसित की थी। इसीलिए यह आरोप उन पर टिक नहीं पाया कि उन्होंने यह कथा-शिल्प कहीं और से प्राप्त किया था।

'मैला आँचल' में एक ओर सामाजिक तनाव और संघर्ष के अनके रूपों की झलक है, जिसके जरिए आगे की उग्रतर स्थितियों की भी कल्पना की जा सकती है, दूसरी ओर मूल मानवीय रागात्मकता पर इतना बल है कि मानवीय दुर्बलताओं को सहानुभूति देना भी उससे बाहर की चीज नहीं है। लक्ष्मी महंथ सेवादास को दोष नहीं देती। उनकी विवशता को क्षम्य मानती है कि जब बुढ़ापे में आदमी की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, वह माया के प्रबल वेग को सम्भाल नहीं पाता। दोष तो वह अपने को देती है कि एक ब्रह्मचारी को धर्मभ्रष्ट करने का पाप उसी के माथे हैं। सुराजी भी है, काँग्रेसी भी, सोशलिष्ट भी, और चलित्तर कर्मकार भी इस ग्रामीण अंचल की सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक संरचना में। अभी संघर्ष साफ नहीं है। उन्हें न तो तर्क से ही बहुत अलग-अलग देखा जा सकता है न व्यवहार से ही। चर्खा-कर्घा, लाठी-भाला, बम-पिस्तौल साथ-साथ क्रान्ति और परिवर्तन के हथियार बन रहे हैं। महँगी भी, अकाल भी और होली का उन्माद या बावलापन भी। 'रोने-कराहने के लिए बाकी ग्यारह महीने तो हैं ही, फागुन-भर तो हँस लो, गा लो। जो जीये सो खेलै फाग। '--यही है--जीवन के प्रति दृष्टकोण--जिसके बल पर वे जीवन-भर खटते हैं, सताए जाते हैं और संघर्ष करते हैं। यही समय है जब डॉक्टर प्रशान्त को भवभूति के 'मालती माधव ' की याद आती है। यही समय है जब 'कमली का अंग-अंग मानो फड़क रहा है ' और डॉक्टर प्रशान्त का भी अपने दिल की धड़कन साफ सुनाई दे रही है। बामनदास स्वाधीनता संघर्ष के अनुभवों में पका हुआ जो अपनी छोटी-छोटी दुर्बलताओं से क्रमशः मुक्त हुआ है, उपवास-अनशन-आत्मशुद्धि-प्रायश्चित करके। एक दिन चन्दन पट्टी आश्रम में स्वयंसेविका तरावती जो कि नींद में थी, को आलस्य में लेटी हुई पाकर कुरूप बामनदास का संयम डिग गया था। जैसे वह इस औरत के

कपड़े को फाड़कर चित्थी-चित्थी कर देना चाहता था। अपने तेज नाखूनों से उसकी देह को चीर-फाड़ डालना चाहता था। इन मानवीय दुर्बलताओं को ढंककर संघर्ष में इस वर्ग की हिस्सेदारी रेणु नहीं दिखाते। जैसे यह स्वयं गाँधीजी के आत्मसंघर्ष और यौन जीवन को संयमित करने की उनकी विचारधारा से समर्थित जीवन तथ्य हो जिसकी अविकल भावपूर्ण प्रस्तुति ही जीवन के पूर्णतर साक्षात्कार के लिए जरूरी हो। स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष वाले दौर में भी काली कुर्ती वाले संयोजकजी बौद्धिक क्लास में हिन्दू राज्य की पताका लहराने का सपना देखते हैं। हिन्दू साम्प्रदायिकता और हिन्दू रूढ़िवाद का परस्पर सामंजस्य रेणु की नजर में है। खेतों में गेहूँ काटते हुए मजदूरों की 'चैती' में आधी रात को कूकने वाली कोयल के गले की मिठास का डॉक्टर प्रशान्त अनुभव करता है: 'सूतल पिया के जगावे हो रामाँ आँ आँ....!' संघर्ष में क्षण भर भी रुकने-सुस्ताने की कोई जगह उसे अब तक न मिली थी। उधर सन्थालिनें (आबनूस की-सी मूर्तियाँ जूड़े में गुँथे शिरीष गुलमुहर के फूल!) गाती हैं: 'छोटी मोटी पूखरी, चरकुलिया पिण्ड रे पोरोइनी फूटे लाले-लाल! ' प्राणों में घुले रंगों का मोह आधे दिन में ही नहीं टूट सकता--यही गीत का सार सन्देश है। क्या यह भी 'मैला आँचल ' सरीखे उपन्यास के लिए पर्याप्त विचारधारा या जीवनदृष्टि का प्रमाण नहीं। सन्देश क्या उपन्यास में अलग से फलश्रुति में ही आता है--आगे-पीछे नहीं! ऐसे रूढ़ आलोचनात्मक आग्रह को छोड़कर ही हम 'मैला आँचल' की उस मद्धिम लय को पहचान सकते हैं, जिसके बल पर वह सच्चे अर्थो में एक भारतीय उपन्यास है। संघर्ष रूपों और सौन्दर्य रूपों का निरन्तर हस्तक्षेप इस आंचलिक जीवन में है। तहसीलदार हरगोरीसिंह ने रैयतों के साथ जमीन बन्दोबस्ती का ऐलान कर दिया है। दूसरी ओर जमीन से जिनका जुड़ाव रहा है वे भीतर तक आन्दोलित हैं। खेत में पाट के लाल पौधों को देखकर जी ललच रहा है। धान की हरी-हरी सूई खेत में निकल आई है। माटी का मोह नहीं टूटता। इसी बीच रहस्य खुलता है कि संथालों की जमीन खुद तहसीलदार साहब ले रहे हैं, अपने नाम से नहीं ले सकते इसलिए दूसरों के नाम से। तभी बामनदास खबर लाता है--जमींदारी प्रथा खत्म। अब जमींदार जमीन से बेदखल नहीं कर सकता। जो जोतेगा जमीन उसकी है। पर सब जानते हैं कि खबर और व्यावहारिक यथार्थ में कितना फर्क है। क्या एक लम्बा ऐतिहासिक संघर्ष इतनी आसानी से खत्म होने वाला है। पर यह भी सच है कि यह संघर्ष अनन्तकाल तक स्थगित नहीं रह सकता। इसका संकेत देता है--संथाल टोली में बजता हुआ मादल। अगला चरण भी सामने आता है : सशस्त्र संघर्ष। सच के पक्ष में खड़ा होना कितना मुश्किल है--यह सुराजी भी जानते हैं, क्रान्तिकारी भी। प्रशान्त को

अपना पक्ष चुनने का खतरा उठाना है तो यही वह क्षण है। रेणु के लिए यह सारा संघर्ष निरा समाजशास्त्रीय तथ्य नहीं है इसलिए वह क्रमबद्ध ढंग से पूरे-पूरे ब्यौरों के साथ नहीं आता--असम्बद्ध घटना प्रसंगों के रूप में आता है। इसलिए रेणु के आशय का ठीक-ठीक पढ़ा जाना महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण है उपन्यास के पाठ की पद्धति। पाठ का ढंग। पाठ का नज़रिया। जरूरी है शिल्पगत बिखराव का भी सतर्क पाठ-प्रकारान्तर से सार्थक वस्तु ग्रहण। वस्तु और शिल्प का ऐसा अनन्य भाव कम कथाकारों के लिए संभव या सुलभ हो पाया है--जहाँ वस्तु ही रूप है और रूप ही वस्तु।

'मैला आँचल' की आंचलिकता और आधुनिकता को अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता। अन्तर्वस्तु रूप और विचारधारा को समग्रता में देखते हुए ही रेणु द्वारा आविष्कृत उस खास युक्ति के मर्म को समझा जा सकता है जिसके अन्तर्गत आंचलिकता और आधुनिकता का अन्तर्गठन अवधारणात्मक न होकर जीवन समृद्धि के रूप में अपनी पहचान बनाता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण है जीवन के प्रति सच्ची आसक्ति, सच्चा मानवीय लगाव, सभ्य समाज की जड़ीभूत वर्जना या निषेध की हँसी उड़ाना। रेणु की विनोदप्रियता उसी गहरी जीवनासक्ति का हिस्सा है जो पूरे उपन्यास का बीज भाव है। अनर्स्ट फिशर ने कला और पूँजीवाद के सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए लिखा थाः 'पुरानी दुनिया की मृत्यु-पीड़ा और नई दुनिया की प्रसव-पीड़ा में टूटकर खंडहर हुई इमारत में और उभरती हुई नई इमारत में फर्क करने के लिए एक ऊँचे दर्जे की सामाजिक चेतना की आवश्यकता होती है।' 'मैला आँचल ' रेणु को इस सामाजिक चेतना से सम्पन्न लेखक के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाला उपन्यास है, इसमें सन्देह नहीं। कुछ कृतियाँ अपने समय का आईना होती हैं 'मैला आँचल ' उन्हीं में एक है--महत्त्वपूर्ण और अद्वितीय।

5. भीष्म साहनी

नयी कहानी में सामाजिक यथार्थ और वस्तुपरकता की दृष्टि से भीष्म साहनी की कहानियाँ खासतौर से महत्त्वपूर्ण हैं। परंपरा के विरोध और तिरस्कार के अतिरेकपूर्ण उत्साह को अंगूठा दिखाते हुए जैसे वे यशपाल की परंपरा से अपने को जोड़कर गौरवान्वित महसूस करती हैं। भीष्म साहनी की कहानियाँ उस संक्रमण का संकेत भी बहुत साफ ढंग से देती हैं जो पुरानी और नयी कहानी के बीच एक विभाजक रेखा-सी खींचता है। अपनी उम्र और संस्कारों की दृष्टि से भीष्म साहनी नयी कहानी की अपेक्षा इस पीढ़ी के अधिक निकट पड़ते हैं, जो प्रेमचंद के बाद अस्तित्व में आयी थी और नयी कहानी से अलगाने के लिए जिसे, सुविधा की दृष्टि से, 'पुरानी पीढ़ी' कहा जाता रहा है। अपने एक पत्र में भीष्म साहनी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करते हुए वह यशपाल, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, अज्ञेय आदि की रचनाएँ पढ़ते रहे थे - या फिर इसके पहले सुदर्शन, प्रेमचंद आदि की। अपने इसी पत्र में भीष्म साहनी ने यह भी स्वीकार किया है कि राकेश आदि की रचनाएं तब पढ़ीं जब वह स्वयं लिखने लगे थे और 'कहानी' के माध्यम से इनके संपर्क में आये '.....प्रभावों का ब्यौरा लिया जायें तो निश्चय ही यशपाल आदि की पीढ़ी की रचनाओं को अधिक ग्रहण करता रहा हूँ। और अपने रचनात्मक प्रयासों में, पहले पढ़े हुए साहित्य को व्यक्त एक तरह से संस्कार रूप में ग्रहण करता है। समकालीनों की रचनाओं के प्रति दृष्टि दूसरी होती है, कुछ-कुछ आलोचनात्मक और किसी हद तक नकारात्मक भी, क्योंकि उस समय लेखक स्वयं अपना व्यक्तित्व खोज रहा होता है, हालांकि ग्रहण तो वह अपने समकालीनों से भी बहुत कुछ करता है।'[1]

भीष्म साहनी का यह वक्तव्य बहुत अच्छी तरह इसे स्पष्ट कर देता है कि नयी कहानी के प्रति उनका रवैया उत्साहपूर्ण स्वीकार और संलग्नता से भिन्न काफी कुछ आलोचनात्मक और नकारात्मक रहा। नयी कहानी में तेजी से विकसित हो रहे आत्मगत रुझानों से अपने को बचाकर चलने की उनकी सजगता में इस आलोचनात्मक और नकारात्मक रवैये की भूमिका को आसानी से समझा जा सकता है। वैसे देश की स्वतंत्रता से पूर्व ही उनकी कहानियाँ अमृत राय के संपादन में निकलने वाले 'हंस' में निकलने लगी थीं लेकिन उनका विधिवत् और व्यवस्थित लेखन देश विभाजन के बाद ही शुरू होता है। उनकी प्रारंभिक कहानियों के दो संग्रह, 'भाग्यरेखा' और 'पहला पाठ' उन्हीं की सूचनानुसार क्रमशः 1953 और 1956[2] में आये। इसके बाद,

नयी कहानी की प्रतिष्ठा और विकास के समूचे काल में देश के बाहर - मास्को में - रहने के कारण उस पूरे परिदृश्य में वह अनुपस्थित बने रहते हैं। फिर सन् 63 में अपनी वापसी के बाद ही वह कहानी के क्षेत्र में नियमित रूप से सक्रिय होते हैं। इस बीच, नयी कहानी के उस पूरे परिदृश्य से दूरी का लाभ उन्हें मिला। नयी कहानी संबंधी अनेक विवादों से तो वह बचे ही रहे, उसके आत्मगत और रूमानी रुझानों से भी वह अपने को बचा सके। सुदर्शन, प्रेमचंद और यशपाल के संस्कार जो उनके खून में रच-बस गए थे उनके अतिरिक्त मास्को प्रवास में क्लासिकी और आधुनिक रूसी लेखकों के अनुवाद कार्य से भी भीष्म साहनी को एक ऐसा सुदृढ़ सामाजिक आधार सहज ही मिल सका जो कैसे भी भाववादी-कलावादी भटकाव से उन्हें बचा पाने में सक्षम था। सन् 63 में उनकी वापसी के समय तक नयी कहानी के आंदोलन का ज्वार बैठ चुका था। जहाँ उसके कई प्रमुख कहानीकार इस आंदोलन की समाप्ति के साथ ही रचनात्मक रूप में निष्क्रिय हो चुके थे, भीष्म साहनी निरंतर विकास करते रहे हैं। यह अकारण नहीं है आज जब कहानी की सामाजिक यथार्थ वाली धारा पर पर्याप्त और समुचित बल दिये जाने की प्रवृत्ति विकसित हो रही है तो वह अमरकांत की तरह ही एक प्रमुख कहानीकार तो ठहरते ही हैं - उन्हें यह श्रेय भी दिया जाना चाहिए कि उन्होंने परवर्ती हिंदी कहानी को भाववादी और रूपवादी भटकाव से बचने के लिए महत्त्वपूर्ण रचनात्मक संघर्ष किया है।

भीष्म साहनी की आरंभिक कहानियों के दो संग्रहों - 'भाग्यरेखा' और 'पहला पाठ'- में कुल मिलाकर उन्नीस कहानियां हैं। संख्या में पर्याप्त होते हुए भी इनमें ऐसी कहानियाँ अपेक्षाकृत कम हैं जो किसी नये लेखक के प्रति गहराई से आकृष्ट करने में सफल होती हैं। इन कहानियों की रचना-वस्तु प्रेमचंद, यशपाल, चंद्रकिरण, सौनरेक्सा और अमृतराय आदि की प्रगतिशील कथाधारा को ही विस्तार देती है। स्पष्ट विकसित होती वर्गचेतना और आर्यसमाज के प्रति तीखी आलोचनात्मक दृष्टि के कारण इन सारे लेखकों में भी भीष्म साहनी यशपाल के अधिक निकट पड़ते हैं। वैसे तो 'शिष्टाचार', 'भाग्यरेखा', 'गंगो का जाया' और ' जोत' जैसी सामान्य कहानियाँ भीष्म साहनी की संलग्नता और रचनात्मक सरोकारों की दृष्टि से उल्लेखनीय मानी जा सकती है लेकिन 'तमगे' और 'मुर्गी की कीमत' जैसी कहानियाँ इस काम को और बेहतर ढंग से करती हैं क्योंकि वे सर्जनात्मक दृष्टि से भी लेखक की क्षमताओं के प्रति दूर तक आश्वस्त करने वाली कहानियाँ हैं। 'तमगे' दूसरे महायुद्ध की पृष्ठभूमि में युद्ध की मानव विरोधी फासिस्ट प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करती ही है,

इससे भी अधिक वह इस तथ्य को सफलतापूर्वक उद्घाटित करती है कि युद्ध से सीधे तौर पर न तो वे हुक्मरान प्रभावित होते हैं जिनकी भूमिका केवल आदेशों और निरीक्षण तक सीमित है और न ही वे जमींदार और समाज के तथाकथित प्रतिष्ठित लोग जो अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए अनपढ़ और गरीब लोगों को सब्जबाग दिखाकर भरती का अपना निर्धारित कोटा पूरा करते हैं।....'अगर जंग छिड़ गयी तो क्या होगा?.....' इस सवाल का सही जवाब न तो सुरुचि-संपन्न भाभी से मिल सकता है और न ही वाली साहब जैसे किसी सफेदपोश आदमी से। इसका सही और माकूल जवाब राजी धोबन दे सकती है जिसने अपने जवान बेटे मीरजान को पहली लड़ाई में भेजा था और उसकी कटी टांगों के एवज में मिला तमगा वह 'मैं' को इसलिए दे देती है कि वह गली-मुहल्ले के लड़के तमाशे के तौर पर मीरजान का नाम पुकार कर उसे छेड़ते और चिढ़ाते हैं और उसके दिखायी दे जाने पर उसके ऊपर गुट्टियाँ फेंककर भागने लगते हैं। यह तमग़ा उसे किसी अंग्रेज अफसर के प्राण बचाने के लिए दिखायी गयी बहादुरी के लिए मिला है लेकिन लेखक ने बड़े सांकेतिक और कलापूर्ण ढंग से इसे स्पष्ट कर दिया कि जैसे इस तमगे का दिया जाना मीरजान की बहादुरी से अधिक अंग्रेजों की त्यागप्रियता का प्रमाण है। राजो की उपेक्षा और मीरजान तथा उसके उसी जैसे कुछ और साथियों की निरीहता के संदर्भ में तमग़े बाँटने के समारोह का विस्तार से ब्यौरा देकर लेखक उस तमग़े की वास्तविकता और औक़ात को, वस्तुस्थिति में निहित विडंबना को, व्यंग्य की जिस सूक्ष्म अंतर्धारा के द्वारा उद्घाटित करता है उससे उसकी क्षमताओं के प्रति सहज आश्वस्त हुआ जा सकता है। 'मुर्गी की कीमत' का अहमदू अपनी जवान पत्नी और गोद की बच्ची को गाँव में छोड़कर, सीज़न में मेहनत-मजदूरी के ख्याल से खिलनमर्ग आता है। पाँच महीने की मेहनत के बाद सर्दियों की बर्फ का पहला छींटा जब सीज़न समाप्ति का संकेत बनकर सामने आता है तो वह घर लौटने की सोचता है। लेकिन पाँच महीनों की मेहनत के बावजूद उसके पास सिर्फ बारह आने पैसे बचते हैं। यदि खिलनमर्ग से गाँव तक वह बस में सफर करता है तो घर पहुँचते-पहुँचते उसके पास एक पैसा भी नहीं रह जाएगा। इतने दिन बाद घर लौटने पर वह बच्ची और पत्नी के लिए कुछ ले जाना भी चाहता है। दस-बारह साल की लड़की को जब वह मुर्गी बेचते देखता है तो उसकी बातों के सम्मोहन और अपनी बच्ची की खुशी के ख्याल से वह छह आने में उस मुर्गी को खरीद लेता है। बहुत खुशी-खुशी उस मुर्गी को उठाए वह पहले दस-बारह मील पैदल चलकर उस मुकाम तक आता है जहाँ से उसके गाँव से पहले बस रुकने पर चुंगी की पड़ताल शुरू होती है तो वह डर कर सहम जाता है।

उसे बताया जाता है कि लाए गए सामान पर महसूल लगता है। छह आने मुर्गी के और छह आने के टिकट के बाद उसके पास एक पैसा भी नहीं है जो महसूल अदायगी के तौर पर दिया जा सके। वह पछताता है कि बेकार ही बस में आया, जैसे दस-बारह मील पैदल चलकर चला वैसे ही दस-बारह मील और पैदल चुपके से खेतों-खेतों गाँव में घुस जाता तो यह मुसीबत क्यों आती। लेकिन पाँच महीनों से बच्ची और पत्नी को देखे बिना वह ऐसा उतावला कि बस में बैठ गया। तब रह-रहकर वह इस कल्पना पर भी खुश होता था कि मुर्गी को देखकर बच्ची कितनी खुश होगी। जब चुंगी का आदमी झांक-झांक कर बस में देखता है और सामान के महसूल के लिए लोगों को पुकारता है तो अहमदू सहम कर मुर्गी को लोई में छिपा लेता है। लेकिन फिर भी उसे डर लगता है कि कहीं बोलकर मुर्गी उस राज को न खोल दे। इस डर से वह मुर्गी को जोर से दबाता है कि थोड़ा बहुत बोलने की हालत में उसकी आवाज लोई में ही दबकर रह जाए। मुर्गी की क्षणिक कुड़कुड़ाहट को उसने सर्वनाश का क्षण समझा था और बाद में उसकी खामोशी पर वह बेहद खुश हुआ था। लारी चलने पर बाहर की रौनक दिखायी देने लगती है। लोई का पल्ला ढीला करके अहमदू मुर्गी को देखकर आश्वस्त होना चाहता है। मुर्गी चुपचाप सोई पड़ी थी। लेकिन उंगली गड़ाने और बाहर की ताजी हवा के बावजूद जब उसके शरीर में कोई हरकत नहीं होती, बर्फ से सफेद पंख ढीले पड़े रहते हैं, तो भी अहमदू समझ नहीं पाता कि वह कुड़कुड़ाहट दम तोड़ती मुर्गी की आखिरी फरियाद थी। लोगों के पास इतना समय भी नहीं है कि वे एक जाहिल कश्मीरी हाती के रोने का सबब जानने की जहमत उठायें। क्लीनर बस रुकवाकर उसे धक्के देकर नीचे उतार देता है.....सड़क के इस हिस्से पर घुप्प अंधेरा था। लारी के चले जाने पर अहमदू स्तब्ध खड़ा रहा, फिर धीरे-धीरे पुल की ओर जाने लगा, जो सड़क के किनारे एक नाले पर बना हुआ था। थोड़ी देर तक वहाँ खड़ा रहने के बाद उसने वह परों की सफेद गोली-सी गेंद पुल के नीचे फेंक दी, और फिर घर की ओर जाने लगा। अब न उसके पास पैसे और न आगे के लिए कोई निश्चय करना बाकी थी.....'[3] कहानी में अंकित विडंबना प्रेमचंद की 'पूस की रात' के बहुत निकट है। सब कुछ खोकर अहमदू की आश्वस्ति प्रेमचंद के हल्कू की मानसिकता के ही मूल में है कि खेत जला सो जला अब रात में जागकर देखभाल को तो कुछ नहीं है। 'मुर्गी की कीमत' में कश्मीर के हातों की गरीबी और विडंबनापूर्ण जिंदगी का अंकन जितने वास्तविक और संवेदनशील ढंग से हुआ है उसे देखकर आज आश्चर्य होता है। नयी कहानी से पहले, स्वयं उसके अपने दौर में और बाद में भी कश्मीर को लेकर लिखी गयी रूमानी कहानियों की भीड़ में 'मुर्गी की

कीमत' एक अपवाद जैसी लगती है। मोहन राकेश की 'कई एक अकेले' और 'कांपता हुआ दरिया' या कमलेश्वर के 'डाक बंगला' के साथ रखकर उसे देखने पर उसके वास्तविक महत्त्व को समझ पाना मुश्किल नहीं है। यह सचमुच एक विडंबनापूर्ण स्थिति थी कि सामाजिक यथार्थ की इस वस्तुपरकता का निषेध करके नयी कहानी क्रमशः आत्म-ग्रस्तता और अनुभववाद की सीमाओं में सिमटती गयी।

भीष्म साहनी की ये कहानियाँ यांत्रिकता से पर्याप्त बचाव करती हुई जिस सामाजिक मूल्य-दृष्टि की हिमायत करती हैं वह अंततः मानवीय श्रम और निष्ठा में गहराई से विश्वास रोपने वाली दृष्टि है। नयी कहानी जिस छद्म दार्शनिकता और बने-बनाये निष्कर्षों के विरोध को लेकर विकसित हुई थी, बिना किसी उत्तेजक और एकांगी घोषणा के, रचना के धरातल पर वह दृष्टि भी इन कहानियों में सक्रिय देखी जा सकती है। प्रायः ही ये कहानियाँ दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों को लेकर बहस की शक्ल में लिखी गयी हैं जिनमें लोककथाओं का उपयोग भी लेखक वर्तमान की पूर्णता और उपयोगिता की कसौटी पर करता है। 'अनोखी हड्डी' में बहस कामना और संतोष के बीच है जिसमें विस्तारवाद के निषेध की ध्वनि स्पष्ट है क्योंकि कामना की प्यास कभी बुझती नहीं है। 'रानी मेहतो' कांगड़ा की एक लोककथा के बहाने, जनता के श्रम और निष्ठा की कमाई और उस पर मौज-मस्ती करने वाली सामंती दृष्टि की बहस उठाती है। बाणभट्ट की पत्नी रानी मेहतो जब तक अपने पति की तरह मानवीय श्रम की गरिमा में विश्वास करती है राज्य और परिवार में खुशहाली छाया रहती है लेकिन जब लोगों के उकसाने पर वह रानियों जैसे ठाट-बाट की जिद पर आमादा होती है, उसकी जिद पर राजा वह सब कर तो देता है लेकिन उसका संतोष और सुख उससे विदा हो जाता है। राजा प्यास से छटपटा कर मरने लगता है और रानी मेहतो जब डोल कुएं में डालती है तो डोल पानी को छू नहीं पाती क्योंकि पानी की सतह नीची होती जाती है। राजा को बेहाल और छटपटाते देखकर रानी पागलों की तरह अपने शरीर के जेवर उतारकर फेंकती जाती है। झोंपड़ी में फर्श पर राजा को छोड़कर वह पागल की तरह किले की दीवार पर चढ़कर डोल को पानी में लटकाती है। इस बार डोल के उतरते ही पानी में फिर लहरें आने लगती हैं और पानी स्वच्छ एवं निर्मल होता जाता है। लेकिन जब रानी भागती हुई, पानी से छलकता डोल उठाकर झोंपड़ी में पहुँचती है तो 'राजा की देह शांत हो चुकी थी, उसके होंठ अब भी पानी की बूंद के लिए खुले पड़े थे और पथराई हुई आंखें झोंपड़े की छत को ताक रही थीं.....'[4] इस दृश्य को देखते ही रानी पछाड़ खाकर मूर्च्छित

हो जाती है। जनता के श्रम और निष्ठा की कमाई पर मौज की इच्छा करने वाली रानी राजा की मृत्यु बनाम लोक-दृष्टि की बहस को केंद्र में रखकर विकसित होने वाली यह कहानी हमारे वर्तमान तक फैलती चली जाती है। 'खून के छींटे' नयी कहानी के अलिखित घोषणापत्र की उन शर्तों का संकेत देती है जिसके तहत जीवन के साक्षात्कार के बाद ही उस जीवन की रचना का विषय बनाए जाने की बात की गयी थी। भूख और गाँव की अकल्पित गरीबी के कारण ही आदमी अपने ही खून के प्रति किस सीमा तक क्रूर हो सकता है बाबू, इसे कहानी में वर्णित दोनों आदमियों को पास से देखने पर ही समझ पाता है। जाट की क्रूरता उसकी परिस्थितियों की देन है और उसका मानवीय सद्भाव अंततः उस क्रूरता पर विजयी होता है। इस जीवन का साक्षात्कार कर लेने पर ही गाँवों की भूख और गरीबी उसके लिए वास्तविक आकार ग्रहण कर पाती है। यह कहानी जैसे समूची नयी कहानी की रचना-प्रक्रिया का सूत्र हमारे आगे खोल देती है.....'मीलों की दूरी तक सपाट मैदान फैले हुए थे, और कहीं-कहीं जाटों के फुटकर घर, ढलती धूप में शांत, मौन, चित्रवत नजर आ रहे थे। इतनी दूरी पर उनमें छिपी व्याकुलता का कोई आभास न मिलता था।'.....[5] यही दरअसल रचना की अंतर्वस्तु से प्रामाणिक पहचान की शुरूआत थी जिसे परवर्ती दौर में आत्मपरकता और अनुभववाद में बदल दिया गया। 'भाई-बंद' में बहस का मुद्दा शहरी चपरासी और ग्रामीण किसान की मानसिकता है। चपरासी किसान से चालीस रुपये लेकर बीस-बाईस बनाता है जब कि किसान रुपये की वसूली के लिए, 'मैं' के सुझाव पर भी, उसके अफसर से शिकायत करने को तैयार नहीं होता.....इससे उन दोनों की क्या रह जाएगी? कुछ हो, वह उसी के गाँव का अपना आदमी है। और फिर वह उस चपरासी को ढूंढने लगता है जो अभी थोड़ी देर पहले उसे पाँच रुपये दे रहा था जिसे उसके न लेने पर वह अपनी पेटी में ठूंस कर दफ्तर में जा चुका है। 'घर की इज्जत' में झूठी सामाजिक मर्यादा कथित मूल्यों के विरोध में खड़ी होती एक आत्मसजग युवती की तस्वीर है। इसी झूठी मर्यादा और उसके विकल्प के लिए संघर्ष की स्थिति सामाजिक विसंगतियों को बहुत तीक्ष्णता से उभारती है।

प्रेमचंद और यशपाल की तरह भीष्म साहनी ने भी अपनी कई कहानियों में धार्मिक एवं सांप्रदायिक दृष्टि की संकीर्णताओं और उसके जीवन-विरोधी स्वरूप को उद्घाटित किया है। यशपाल की तरह भीष्म साहनी भी आर्यसमाज की कट्टरता और प्रतिगामी भूमिका को अनेक कोणों से उभारते हैं और जीवन के स्वरूप-विकास में उसकी निषेधवादी भूमिका को रेखांकित करते हैं। 'पहला पाठ' और 'पाप-पुण्य' आर्यसमाजी

आचार एवं जीवन पद्धति के अंतर्विरोध सामने लाते हैं जबकि 'कांटे की चुभन' और 'एषधर्मः सनातनः' में क्रमशः धर्मिक स्पर्धा और किसी भी धर्म की अपेक्षा पेट और भूख के रिश्ते की पहचान का धर्म अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी होने का सत्य उभर कर सामने आता है। 'पहला पाठ' के वानप्रस्थी जी भावविह्वल होकर अछूतोद्धार पर भाषण देते हैं। मैजिक लैंटर्न से अछूतों की दीन दशा के जो चित्र वह दिखाते हैं उनसे देवव्रत का बाल-मन प्रभावित रहे बिना नहीं रहता। शायद यह पहला मौका है जब बिना मार खाये उसने कुछ सीखा है। लेकिन ब्रह्मचारियों की टोली जब पंक्तिबद्ध होकर सड़क से गुजर रही होती है तो दीन-हीन चेहरे और उत्सुक आंखों वाले एक लड़के को देखकर देवव्रत को मैजिक लैंटर्न पर देखे गये अछूतों के चेहरे याद आ जाते हैं। उत्साह से आगे बढ़कर वह उस लड़के के कंधे पर हाथ रखकर उसे प्यार से संबोधित ही नहीं करता, उसे आलिंगन में भी ले लेता है। इस सबके बाद वह सहज हो सके इसके पहले ही वानप्रस्थी जी का जोरदार चांटा उसके मुंह पर पड़ता है। वह सोचता है कि पंक्ति बिगाड़कर अनुशासन तोड़ने के कारण शायद यह चांटा लगा है। लेकिन उसका यह भ्रम जल्दी ही टूट जाता है। क्रोध से कांपती देह को संभाल पाने में असमर्थ वानप्रस्थी जी कहते हैं.....'यह अछूत है? यह तो मुसलमान है।'[6] बिना पूछे भी लेखक का यह सवाल एक बहुत बड़े प्रश्नचिह्न-सा हमारे सामने उभरने लगता है कि देवव्रत का पहला पाठ वस्तुतः कौन-सा है? अछूतोद्धार का भावुक आख्यान या चांटा मारकर क्रोध से कांपती देह से दी गयी यह प्रतारणा? 'पाप-पुण्य' उस दृष्टि के निषेध की कहानी है जो बच्चों के मानसिक विकास की चिंता किए बिना तोते की तरह उन्हें वेदों के नाम और शिक्षाएं रटाने में गौरव समझती हैं। इस निषेधवादी शिक्षा के व्यर्थता इसी से स्वतःसिद्ध है कि बालमन के विकास पर उसका प्रभाव उससे एकदम उलटा पड़ता है जो वह डालना चाहती है।

भीष्म साहनी ने अपने बचपन के परिवेश पर आर्य समाजी चिंतन और आचरण के दुष्प्रभाव की चर्चा अलग-अलग संदर्भों में की है। लेकिन सवाल सिर्फ आर्यसमाज की ही संकीर्ण और सांप्रदायिक दृष्टि का न होकर समूची धार्मिक दृष्टि की संकीर्णता और उसके दुष्प्रभावों का है। 'कांटे की चुभन' में बाबू अनंतराम आर्यसमाजी हैं और गिरिधरदास सनातनी। परस्पर विरोधी धार्मिक विश्वासों के बावजूद उनकी 'मित्रता-शत्रुता' का यह संबंध वर्षों से चला आया है। बाद में अनंत राम की लड़की और गिरिधरदास के लड़के के पारस्परिक आकर्षण के फलस्वरूप जब विवाह उन दोनों की विवशता बन जाता है तो अनंतराम को यह बात कांटे की तरह चुभती रहती है

कि आर्यसमाजी होने पर भी उन्हें अपनी लड़की का विवाह सनातनी ढंग से करना पड़ा क्योंकि आखिर वह बेटी के पिता थे। गिरिधर की बुआ की मृत्यु पर, गिरिधर की भावाकुलता का लाभ उठाकर, वैदिक विधि से बुआ का संस्कार कराकर अनंतराम जैसे अपनी पिछली हार का बदला ले लेने में सफल होते हैं। धर्म यहाँ दो मित्रों को सजग प्रतिद्वंद्वी में बदल देता है जबकि जीवन के सहज विकास की दिशा में दोनों की ही व्यर्थता स्वतः सिद्ध है। 'एषधर्मः सनातनः' यशपाल के 'खच्चर और आदमी' की तरह, अंततः महंत रामदास को इस निष्कर्ष की ओर ले आती है कि सनातन धर्म की कथित मर्यादा से कहीं बड़ी मर्यादा मनुष्य के उस सनातन शाश्वत धर्म की है जो पेट और भूख के रिश्ते की उपेक्षा नहीं कर पाता।

थोड़ा आश्चर्यजनक होने पर भी यह सच है कि भीष्म साहनी की आरंभिक कहानियों में प्रेम और स्त्री-पुरुष की कहानियाँ करीब-करीब नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि इन कहानियों में स्त्री पात्र हों ही नहीं। लेकिन प्रेमिका के बदले वे माँ, पत्नी, बहू आदि के रूप में ही अधिक सामने आती हैं। ' नीली आंखें' स्त्री की सामाजिक असुरक्षा की पृष्ठभूमि में सामूहिक प्रतिक्रियाओं की कहानी है जिसमें स्त्री के जवान शरीर के प्रति पुरुष वर्ग की आंखों में लोभ और वासना की चमक खूब गहरी होकर उभरी है। 'पहिचान', 'ललिता' और 'फूला' में क्रमशः माँ की ममता पारिवारिक सुरक्षा के नाम पर स्त्री की अस्मिता का विलोपीकरण और बांझपन की पीड़ा आदि के चित्र हैं। 'प्रणय-लीला' ऊपर से प्रेम कहानी जैसी लगने पर भी प्रेम कहानी से भिन्न है। यह सुषमा द्वारा अशोक को अपनी 'स्वप्न क्रीडा का साधन मात्र' बना लेने के प्रयास की कहानी है। सुषमा अशोक को नहीं, उसके बड़े भाई को प्यार करती है। अशोक के प्रति उसके व्यवहार की मृदुलता के पीछे वस्तुतः प्रत्यारोपण का मनोविज्ञान है। अशोक में अपने प्रेमी की खोज मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुषमा को एक जटिल चरित्र के रूप में सामने लाती है। 'क्रिकेट मैच' मैदान में हो रहे मैच से अधिक दांपत्य संबंधों के क्रिकेट मैच की कहानी है। रमेश हर साल एक बच्चा पुष्पा की गोद में डालकर साल के काफी बड़े हिस्से के लिए उससे छुट्टी पा लेता है। पुष्पा के मायके अमीर हैं, सब पल जायेंगे। मैच देखते हुए पुष्पा की पक्षियों जैसी चहचहाट वास्तविकता के इस संकेत से गुब्बारे की हवा की तरह रिस जाती है। उसका चेहरा काला पड़ जाता है। रमेश के परिचितों के साथ की औरत की साड़ी का पल्ला जहाँ रमेश की आंखों में रोशनी भर देता है, पुष्पा के चेहरे का रंग उतार देता है। रमेश उसकी शोखी और सारे बड़बोलेपन को चुपचाप सहता रहता है क्योंकि उसे अपने मास्टर स्ट्रोक पर पूरा

भरोसा है। भीष्म साहनी दांपत्य और प्रेम से अधिक स्त्री को उसके पूरे सामाजिक संदर्भ में देखने में अधिक रुचि लेते हैं। 'ललिता' की ललिता और 'क्रिकेट मैच' की पुष्पा जैसी स्त्रियां पुरुष शासित समाज में अपनी अस्मिता खोकर ही जीवित रह सकती हैं। लेकिन 'घर की इज्जत' की सुनंदा एक आत्मसजग युवती है जो झूठी मर्यादा के लिए अपनी कलात्मक सांस्कृतिक अभिरुचियों को दबाने और कुंठित किए जाने के प्रयासों का सक्रिय प्रतिवाद करती है।

इन आरंभिक कहानियों में 'पहला पाठ' की कई कहानियाँ कहानी के उस दौर में कहानी में घटित संक्रमण का संकेत देती हैं। 'समाधि भाई रामसिंह' 'कहानी' के सन्' 55 के विशेषांक में प्रकाशित हुई थी और 'चीफ की दावत' 'कहानी' के ही सन्' 56 के विशेषांक में। नयी कहानी के उदय की दृष्टि से सन्' 56 के इस विशेषांक को आज भी लोग उसके ऐतिहासिक महत्त्व के लिए याद करते हैं। 'समाधि भाई रामसिंह' एक व्यक्ति के संदर्भ में नगर की व्यापक प्रतिक्रियाओं का रोचक अध्ययन है। भाई रामसिंह के चमत्कारी व्यक्तित्व, चोला बदलने की उनकी ऐतिहासिक घोषणा में दिए गए समय से निकल जाने पर नागरिकों के अधैर्य का ब्यौरा लेखक बड़ी रवानी के साथ देता है। इस विडंबना को वह खास तौर से रेखांकित करता है कि चोला बदलने में देर होने पर लोगों का अधैर्य इस सीमा तक बढ़ जाता है कि सारी संचित श्रद्धा उलटी दिशा में बहने लगती है और लोग गाली-गलौज पर ही नहीं बाकायदा ईंट-पत्थरों पर उतर आए हैं। चोला वह बदलता नहीं, वे बदलवा देते हैं।.....'हाँ केवल उसकी देह, कीचड़ और मिट्टी और खून से लथपथ हो गयी थी और उसके ईद-गिर्द जूतों और पत्थरों का ढेर लग गया था,'[7].....जो लोग अधैर्य के कारण उसकी जान ले लेते हैं, वे ही लोग उत्साह के साथ उसकी समाधि ही नहीं बनवाते, नगर के दर्शनीय स्थल की हैसियत से उस पर गर्व भी करते हैं। इस तरह यह कहानी उस संक्रमण से अछूती है जिसे आधुनिकता और परंपरा की बहस के रूप में 'चीफ़ की दावत' में सहज ही देखा जा सकता है। इसमें एक ओर नये-नये आधुनिक बने बाबू शामनाथ और उसकी पत्नी है तो दूसरी ओर विसादृश्य के रूप में फालतू सामान की हैसियत में आ चुकी माँ है। विभाग के चीफ़ को दावत पर बुलाये जाने का उद्देश्य भी वही है जो देश के अधिकांश नवयुवकों की सबसे बड़ी लालसा होती है - अफसर को खुश करके नौकरी में पदोन्नति। शामनाथ सिगरेट पीते हुए माँ से बात करता है और संस्कार बन चुके उसके तौर-तरीकों को इसलिए नियंत्रित करना चाहता है ताकि अपने अधिकारी के आगे जगहंसाई से बच सके। मां एक

संस्कारशील वृद्धा है जिसने अपना सारा जेवर इसी लड़के की पढ़ाई के लिए बेच दिया है - भले ही उसका उल्लेख भी अब उसे नाखुश कर दे। पास-पड़ोस की उसकी सहेलियों का आना भी आधुनिक बहू-बेटे को अच्छा नहीं लगता इसलिए उसे भी बंद किया जा चुका है। खाली समय में वह माला फेरती रहती है और जिस दिन घर में मांस-मछली बनता है, वह कुछ नहीं खाती। न ही कोई चिंता करता है कि उसके लिए अलग से कोई व्यवस्था कर दी जाए। शामनाथ का चीफ़ उसी की तरह आधुनिक है। सामने पड़ जाने पर वह मां से अंग्रेजी में हालचाल पूछता है और मिलाने के लिए हाथ बढ़ाता है। सीधे हाथ में माला पकड़े होने के कारण मां बायां हाथ बढ़ा देती है जिस पर झेंप मिटाते हुए शामनाथ उससे सीधे हाथ मिलाने की बात कहता है। लेकिन आधुनिक लोगों में पुरानी - एंटीक - चीजो में बढ़ी हुई दिलचस्पी के कारण शामनाथ का यह अधिकारी मां से पुराने गीत गाने की फरमाइश कर बैठता है। स्थिति सुधरती देखकर शामनाथ उत्साहित होता है और उसे टप्पा गाने को उकसाता है।.....'दो पत्तर अनारां दे.....' गाने के बोल पर अधिकारियों की आधुनिक पत्नियां जिस तरह हंसती हैं उसमें तिरस्कार की ध्वनि स्पष्ट है, चीफ़ फिर पुरानी पंजाबी कला की फरमाइश करता है। बहुत ढूंढ़ने के बाद मां की पुरानी फुलकारी उसे दिखायी जाती है। उसे प्रसन्न देखकर शामनाथ उत्साहित होता है और उसके लिए मां से वैसी ही फुलकारी तैयार करा देने का आश्वासन देता है। अधिकारियों को विदा करके लड़खड़ाते कदमों से शामनाथ मां की कोठरी में जाता है और जिस मां को फालतू सामान समझकर वह छिपाने के लिए परेशान था, वह अब उसे कैरियर की मजबूत सीढ़ी नजर आती है। उसके फुलकारी बना देने के आग्रह को पहले तो वह अपनी उम्र और आंखों का वास्ता देकर टालती है लेकिन फिर लड़के की उन्नति की बात जानकर, मुंह से दुआएं निकालती हुई, खुशी-खुशी तैयार हो जाती है। इस तरह 'चीफ़ की दावत' संक्रमण और मूल्य-दृष्टियों के संघर्ष के दौर में, अतिरेक और अनावश्यक उत्साह से बचकर, बहुत संतुलित और संयत ढंग से, परम्परा में जो कुछ स्पृहणीय एवं रक्षणीय है उसे उपेक्षा, तिरस्कार और भर्त्सना से बचाने पर बल देती है। 'टप्पा' और 'फुलकारी' इसी परंपरा के वे सार्थक तत्त्व बन जाते हैं जिनकी रक्षा का सवाल सीधे हमारे अस्तित्व से जुड़ जाता है।

भीष्म साहनी की कहानियां सोद्देश्यता के बावजूद अपनी प्रकृति में यशपाल की कहानियों से भिन्न हैं। वह यशपाल की तरह 'आइडिया' को आधार बनाकर कहानी नहीं लिखते। उनके यहाँ चरित्र अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन फिर भी वह

यशपाल की इस आशंका को प्रायः निरस्त करते दिखायी देते हैं कि चरित्रों को आधार बनाकर लिखी गयी कहानियाँ अपनी प्रकृति में कहानी की अपेक्षा रेखाचित्र के अधिक निकट जा पड़ती हैं। भीष्म साहनी जीवन के प्रवाह को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इसी कारण यदि उनकी कहानियां यांत्रिक और बने-बनाये निष्कर्षों से बहुत कुछ मुक्त रहती हैं तो प्रायः ही वे प्रभाव की दृष्टि से उतनी तीखी प्रतिक्रिया छोड़ पाने में भी असफल रहती हैं जो यशपाल की सफल कहानियों का आधारभूत वैशिष्ट्य है। चरित्रों को लेकर कहानियों को शीर्षक देने की प्रवृत्ति भीष्म साहनी के यहाँ 'पहला पाठ' से ही शुरू हो जाती है और यह प्रवृत्ति उनके अब तक के अंतिम संग्रह 'पाली' की कहानियों तक देखी जा सकती है। 'रानी मेहतो', 'ललिता', 'फूला', 'बीवर', 'वाङ्चू', 'रामचंदानी', 'चाचा मंगलसेन', 'सलमा आपा', 'ज़हूरबख्श' आदि कहानयाँ उनकी इसी प्रवृत्ति को उदाहृत करती हैं। पात्रों को आधार बनाकर लिखी गई ये कहानियाँ निश्चय ही अपनी प्रकृति में रेखाचित्र नहीं क्योंकि भीष्म साहनी इन पात्रों को व्यक्ति से अधिक एक वर्ग विशेष के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस पात्र के अपने वर्ग की आधारभूत विशेषताएं तो उभरती ही हैं, दृष्टि और मूल्यों के संघर्ष की प्रक्रिया में प्रतिपक्षी वर्ग की विशेषताओं का उद्घाटन उस मूल्य-दृष्टि के निर्माण में भी सहायक होता है जो लेखक के लिए स्पृहणीय लगती है और जो उस समाज-व्यवस्था के निर्माण में सहायक होती है जिसके प्रति लेखक, एक रचनाकार के रूप में, दूर तक समर्पित और प्रतिबद्ध है। रानी मेहतो एक स्त्री विशेष से अधिक यहां इस प्रवृत्ति का उदाहरण बन जाती है जिसे पति को खोकर यह बोध हो जाता है कि श्रम और निष्ठा की कमाई ही सुख और शांति ला सकती है। जनता के श्रम को अपनी विलासिता का साधन बनाकर उससे भिन्न और किसी अंत की कल्पना नहीं की जा सकती जो उनका अपना अंत होता है। 'बीवर' इसी नाम के एक कुत्ते के संदर्भ में सफेदपोश मध्यवर्गीय चरित्र के वर्ग-वैशिष्ट्य को उदाहृत करने वाली कहानी है। एक ओर बीवर है जो अपने खून में घुली वफादारी को प्रमाणित करने के लिए बार-बार मालिक के यहाँ लौट आता है और दूसरी ओर सफेदपोश मालिक है जो अब उसकी बीमारी के दौरान उससे अपना कोई संबंध बनाने में संकोच अनुभव करता है। चुंगी के लोग जब उसे लावारिस समझकर पकड़ रहे होते हैं तो वहाँ होते हुए भी उसे यह कहने का साहस नहीं होता कि वह उसी का कुत्ता है, 'वे बीवर को ले गए। मैं वहीं खड़ा रहा। बीवर जाने से पहले मेरी ओर देख रहा था। क्षणभर के लिए हमारी आंखें भी मिलीं। उसकी आंखें मानो कह रही थीं, मालिक क्यों मैं आपका कुत्ता नहीं हूँ ? आप यूं भी

मुझे इन कसाइयों के हवाले कर देते, तो क्या मैं कुछ कहता ? इनकार करना तो मेरे खून में ही नहीं है।....फिर उसने गर्दन फेर ली और धीरे-धीरे उनके पीछे सिर झुकाये जाने लगा'[8] .....वाङ्चू और रामचंदानी जैसे लोग उस व्यवस्था पर एक अर्थपूर्ण टिप्पणी हैं जो अपनी सहजता और सादगी के कारण ही आज पूरी तरह बेमेल और हास्यास्पद हो चुके हैं। वाङ्चू के माध्यम से लेखक जैसे इस सत्य को रेखांकित करना चाहता है कि राष्ट्रों के राजनीतिक वर्चस्व के इस युग में, चाहे वह भारत हो या चीन, उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों की ओर से उदासीन रहने का मूल्य इससे भिन्न और कुछ संभव ही नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विडंबना यह है कि न तो वह इनसे बच पाता है और न ही इनकी अनिवार्यता की किसी तार्किक परिणति तक अपने को पहुंचा पाता है। रामचंदानी एक गांधीवादी पात्र है लेकिन लेखक उसके अंदर सक्रिय मूल्य-दृष्टि की सूक्ष्म अंतर्धारा को अपने उन युवा मित्रों से कहीं अधिक वरीयता देता है, जो एक बृहदाकार शून्य पर खड़े हैं। रंगभेद के विरोध में वह होटल की अंग्रेज मालकिन की व्यवस्था को स्वीकार न करके होटल के बैरों और व्यंजनों को वापस कर देता है। मालकिन से बात कर लेने के बाद, स्थिति स्पष्ट हो जाने पर, अपने मित्र द्वारा कॉटेज का पूरे सीज़न का किराया दे चुकने के बावजूद वह उस स्थान को छोड़ देता है। मित्र समझते हैं कि उससे पट्टे के साधारण कोट, थैले जैसी पतलून और बेहद मामूली रख-रखाव के कारण ही शायद होटल की मालकिन ने उन लोगों का अपमान किया है। लेकिन कहानी में कुशलता से बुने गए संकेत इसे अस्पष्ट नहीं रहने देते कि युवा मित्रों के साहबी तौर-तरीकों और भड़कीले लिबास के बावजूद मूल्यों को लेकर कैसा भी समझौता न करने की रामचंदानी की प्रवृत्ति उन सब पर भारी पड़ती है। चार में से एक मित्र मुख्तार रामचंदानी के आग्रह की उपेक्षा करके अकेले वहाँ रुक जाता है। लेकिन होटल की मालकिन के उसे घर के लिए भी खाना देने को तैयार न होने पर, उसे मजबूरन वह जगह छोड़ देनी पड़ती है। यानी रंगभेद और तिरस्कार सहकर भी जहाँ मुख्तार समझौते के लिए तैयार है, रामचंदानी एक ही झटके में उसे तोड़ देता है। पूरी कहानी में औरों के मुकाबले यह मुख्तार ही उसका सबसे ज्यादा मजाक उड़ाता और फब्तियां कसता है। अपने अकेले रह जाने और होटल की मालकिन के इंनकार कर देने वाला प्रसंग वह लौटकर लेखक मित्र को सुनाता है और इस स्थिति के लिए भी वह रामचंदानी को ही दोषी ठहराता है.....'मुख्तार यह किस्सा सुनाते हुए भी रामचंदानी को कोसता रहा'[9] .....लेकिन कहानी के अंत में लेखक की यह टिप्पणी स्पष्ट कर देती है कि वस्तुतः रामचंदानी क्या है और उसे कोसने वाला मुख्तार क्या

है। इसी तरह सलमा आपा और ज़हूरबख्श यदि सांप्रदायिक सदभाव के प्रतीक बन जाते हैं तो चाचा मंगलसेन समाज के व्यापक प्रवाह से जुड़ने की मानवीय इच्छा और जिजीविषा का। अपनी इस इच्छा और व्यवहार के परिणामस्वरूप ही वह अपने बुढ़ापे को एक नया अर्थ दे पाने में सफल होता है - और उसका अंत निर्मल वर्मा की 'सुबह की सैर' के अवकाश प्राप्त कर्नल निहालचंद की तरह अकेलेपन की यातना और आत्महत्या में नहीं होता।

भीष्म साहनी के यहां यह एक आश्चर्यजनक स्थिति है कि लंबे प्रवास के बावजूद उनके यहां विदेशी पृष्ठभूमि की कहानियां नहीं के बराबर हैं। दरअसल उनके यहां इतनी बड़ी संख्या में बूढ़े पात्रों की उपस्थिति और विदेशी पृष्ठभूमि के प्रति काफ़ी कुछ एक उदासीन रवैया एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह अपने देश और धरती के प्रति उनके गहरे लगाव का परिचायक है। अपने बूढ़े पात्रों द्वारा, जिनमें स्त्रियाँ ही अधिक हैं, वह अपनी जड़ों से जुड़े रहने की कोशिश तो करते हैं, उस लोक-तत्त्व की रक्षा में भी सफल होते हैं जो अगली पीढ़ी को संस्कार देता है। 'चीफ की दावत' की मां की चर्चा की जा चुकी है। 'भटकती राख' की दादी-मां, 'एक रोमांटिक कहानी' की दादी, 'गीता सहस्रनाम' की बूढ़ी चाची और 'यादें' की दोनों बूढ़ी स्त्रियां आदि पात्र अपनी जड़ों से भीष्म साहनी का रिश्ता कभी टूटने नहीं देते। आधुनिकता की प्लावनकारी बाढ़ में यह पात्र सहज ही एक मजबूत बांध की शक्ल में हमारे सामने खड़े दिखायी देते हैं। अपनी धरती और मिट्टी के संस्कार भीष्म साहनी के यहाँ इतने सघन रूप में उपस्थित हैं कि अपनी कहानियों में विदेशी पृष्ठभूमि के प्रति कहीं कोई मोह उनमें दिखायी ही नहीं देता है। अपवाद के तौर पर जो बहुत थोड़ी-सी विदेशी पृष्ठभूमि वाली कहानियां उनके यहा मिलती भी हैं उनमें न तो वह निर्मल वर्मा और रामकुमार की तरह विदेशी जीवन-पद्धति और प्रेम संबंधों के चित्रण का कोई आग्रह दिखाते हैं और न ही उषा प्रियंवदा की तरह दो संस्कृतियों के संघात और संघर्षण को कहानी के केंद्रीय विषय के रूप में इस्तेमाल करते हैं। उनकी इन कहानियों में 'लेनिन का साथी' इस प्रवृत्ति पर एक हलका-सा व्यंग्य है कि अपनी बेहद साधारण हैसियत को भी लोग ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ जोड़कर कैसा उपयोग करना चाहते हैं। इससे भिन्न 'ओ हरामज़ादे' यूरोप के दूर-दराज में भी आदमी के अपनी जड़ों से कट जाने की पीड़ा को उद्घाटित करती है। अपनी विदेशी पत्नी और जवान बेटियों के साथ लाल निर्वासितों की तरह अपना जीवन काट रहा है। वर्षों पहले कभी वह अपनी पत्नी हेलेन को लेकर भारत गया था। दो जीवन पद्धतियों के अंतर को

ठीक से समझ न पाने के कारण हेलेन के साथ ऐसा कुछ घटित हुआ जिसके परिणामस्वरूप उसकी धरती और देश उससे हमेशा को छूट चुके हैं। अपनी जड़ों से कटकर, अपने भरे-पूरे परिवार में भी, वह एक ऐसी रिक्तता महसूस करता है जिसका कोई विकल्प नहीं है। हेलेन उसकी इस मनःस्थिति को समझती नहीं है, उसे लेकर एक अपराध-बोध से भी पीड़ित है क्योंकि इन सबके लिए वह अपने को दोषी मानती है। इसीलिए कभी-कभार वह, अपरिचित होने पर भी, उत्तर भारतीय प्रवासियों को अपने घर ले जाती है ताकि उनसे बोल-बतियाकर उसका पति अपनी जड़ों से जुड़े होने का संतोष पा सके। कहानी का 'मैं' एक ऐसा ही प्रवासी भारतीय है जिसे लाल देर तक अपने वतन जालंधर में बीते जीवन के संस्मरण सुनाता रहता है। 'मैं' स्वयं भी जालंधर का है, इस नाते यह आत्मीयता और भी जड़ें जमाती सी लगती है। अपनी जवानी के दिनों में मित्रों के बीच प्रचलित 'ओ हरामज़ादे' का संबोधन आज भी उसके लिए एक ललक बनकर टीसता है - जैसे संबोधन का कोई बहुत सीधा ताल्लुक उसकी अपनी अस्मिता और जड़ों से है। विदा के लिए छोड़ने आने पर लाल अपने हमवतन प्रवासी से बहुत आत्मीय लहज़े में कहता है, 'यह मत समझना कि मुझे कोई शिकायत नहीं है, अगर शिकायत है तो अपने आपसे.....'[10] और फिर वह हंसते हुए बताता है कि बुढ़ापे में भी उसकी यह इच्छा भरी नहीं है कि सड़क पर चलते हुए अचानक कहीं से 'ओ हरामज़ादे' की आवाज आये और वह लपककर उस आदमी को छाती से लगा ले। लेकिन यह बात वह हंसते हुए शुरू करता है, और उसके समाप्त होते-होते उसकी जबान लड़खड़ाने लगती है। जबान की यह लड़खड़ाहट और स्वर का भीगापन ही वस्तुतः जख्मों से कट जाने की उसकी पीड़ा का साक्ष्य बन जाता है जिसका कोई विकल्प उसके आगे बचा नहीं है। इसी का दूसरा पहलू 'मेड इन इटली' की मीरा है जो रोम के ऐतिहासिक स्थलों और खंडहरों को देखकर समय बर्बाद करने की अपेक्षा शॉपिंग में अधिक दिलचस्पी लेती हैं ताकि भारत लौटकर अपने मित्रों और पड़ोसियों पर वह विदेशी सामान का रोब ग़ालिब कर सके। एक बहुत सुंदर बैग लेकर जब वह दूकान से चलती है तो यह कल्पना उसे सुखद लगती है कि उसकी सखियाँ इसे देखकर क्या सोचेंगी और कहेंगी। उसकी कल्पित सराहना से ही उसे सुरूर चढ़ने लगता है। लेकिन तभी अंदर की तहों को हटाते-देखते उसकी निगाह उस चिप्पी पर पड़ जाती है जिस पर उसके भारत में बने होने की सूचना लिखी है। बहुत दूर पहुँच जाने और दूकान बंद हो चुकने की आशंका के बावजूद वह लौटकर आती है। दूकानदार की मीठी-मीठी बातें सुनकर उसकी वापसी के बदले यह विकल्प निकालकर खुश होती है कि वह उस लेबिल को

निकालकर टोपी का लेबल वहाँ लगा दें जिस पर 'मेड इन इटली' लिखा है, आश्चर्य होते हुए भी उसे इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। फिर लगे हाथों वह कुछ अतिरिक्त मूल्य देकर कुछ और लेबल भी ले लेती है ताकि अपनी इच्छा से वह उन्हें कहीं भी लगा सके "थोड़ी देर बाद, बैग फिर से कंधे से लटकाये मीरा दूकान में से निकली। बाहर कदम रखते ही वह बड़बड़ायी, वक्त पर न देख लेती तो यह काम भी न हो पाता' फिर खीझकर बोली, 'मुये अब सभी कुछ हिंदुस्तान में बनाने लगे हैं।'[11]

भीष्म साहनी की कहानियों में वर्ग चेतना का स्वरूप और निम्न मध्यवर्गीय पात्रों में वर्ग-संक्रमण की ललक बहुत स्पष्ट है। लेकिन फिर भी वे घटनाओं और पात्रों के सीधे, इकहरे और यांत्रिक विकास एवं विन्यास की कहानियां नहीं हैं। यही कारण है कि परस्पर विरोधी वर्गों का संघर्ष और विचार सरणियां उनके यहाँ बहुत विश्वसनीय लगती हैं। 'हमला', 'सागमीट', 'मुर्गा-मुसल्लम' और 'अपने-अपने बच्चे' यदि वर्ग-चेतना की अभिव्यक्ति और लेखक की सामाजिक-प्रतिबद्धता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं तो 'पटरियां' और 'ललक' जैसी कहानियां वर्गसंक्रमण की उस लालसा को केंद्र में रखती हैं जो भौतिक समृद्धि की दिशा में किसी मूल्य-दृष्टि के नियंत्रण से इनकार करती है। 'हमला' का अध्यापक प्रधान के लड़के को कक्षा में पीट नहीं पाता क्योंकि पीटे जाने पर वह अपने पिता से शिकायत की धमकी देता है। बाद में वह अध्यापक शिकायत करने के इरादे से ही वहां पहुंचता है, लेकिन अपनी हीन सामाजिक स्थिति के परिणास्वरूप वह अपनी बात कह नहीं पाता। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करने के बाद हाथ जोड़कर कहता है कि यूं ही चला आया था और प्रधान को उसके पुत्र का विशेष ध्यान रखने का आश्वासन देना भी नहीं भूलता। इस प्रकार इमला की गलतियों पर छात्रों को पीटने वाला अध्यापक, जो अपनी कड़ाई और अनुशासन के लिए प्रसिद्ध है, उस छोटे लड़के से स्वयं इमला लिखना शुरू कर देता है। 'सागमीट' नौकर और मालिक के वर्गीय चरित्रों के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'अपने-अपने बच्चे' दो बच्चों और उनके अभिभावकों के माध्यम से उच्च, मध्य और निम्नवर्ग की एक समानांतर तस्वीर है। कहानी में दो वर्गों और उनके परिवारों का अंकन बहुत तटस्थता और वस्तुपरकता के साथ हुआ है। मालकिन के परिवार में मानवीय करुणा और सदाशयता की लेखक कहीं भी अनदेखी नहीं करता। साहब तो जैसे साहब हैं ही नहीं। उनकी खुशमिजाजी के कारण निक्कू बहुत जल्दी ही उनसे दोस्ती गांठ लेता है। लेकिन फिर भी कहानी का निष्कर्ष उससे जरा भी भिन्न नहीं है जो कोई भी दूसरा उत्साही लेखक अपने पूर्व निर्धारित अंत से

निकालता या निकालना चाहता। अपने से नीची सामाजिक हैसियत के प्रति घृणा और ऊंची हैसियत के लोगों के प्रति स्पर्धा के परिणामस्वरूप वर्गसंक्रमण की लालसा की दृष्टि से 'ललक' और 'पटरियाँ' उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। 'पटरियाँ' के केशोराम को लगता है कि जैसे उसके पूरे जीवन की लंबाई के समानांतर वर्गों की पटरियां दूर तक चली गयी हैं। कटरा राघोमल उसके लिए एक वर्ग का प्रतीक है तो लाजपत नगर दूसरे वर्ग का, जहाँ उसके पेंशनयाफ़्ता ससुर की कोठी है उसके साढ़ू के प्रति उनका भिन्न किस्म का बर्ताव है। लेकिन यदि थोड़ी भी उम्मीद दिखायी देती है तो उसकी रगों में खून की हरकत बढ़ जाती है। छोटे से धंधे की मामूली-सी उपलब्धि उसकी आंखों में सपनों की चमक पैदा करने के लिए काफी है....और शरीर में खून ठाठें मारने लगता। उसे लगा कि जैसे टूटे सपनों के टुकड़े, जो इधर-उधर बिखरे गए थे, फिर से जुड़ने लगे हैं और कटरा राघोमल पीछे छूटता जा रहा है और बस लाजपत नगर की ओर बढ़ी जा रही है।'[12] ....वर्ग-भेद की समानांतर पटरियों वाली यह चेतना 'ललक' में भी है। यदि एक ओर 'मैं' तो दूसरी ओर हरदेव, मंगत और उनका सुविधाओं में डूबा परिवार। लकड़ी के बिना निवाड़ के डंडे से हॉकी खेलते हुए 'मैं' के हाथ की झनझनाहट वस्तुत उसकी वर्ग स्थिति की चेतना ही है जो हरदेव के पिता द्वारा 'मैं' और उसके साथियों को 'पाजामा पार्टी' संबोधन से और तीखी हो जाती है। हरदेव का पिता फाउल खेलने पर भी अपने बेटों को शाबाशी देकर 'मैं' का हीनता-बोध और बढ़ा देता है। लेकिन वापसी में यही 'मैं' बेगुनाह बूढ़े की झोंपड़ी पर हॉकी से प्रहार करके और जलती कुप्पी से उस गिरी हुई झोंपड़ी में आग लगाकर जिस अमानवीय सुख में डूबने लगता है वह अपनी प्रकृति में हरदेव और उसके पिता के सुख से बहुत भिन्न नहीं है। शायद इसीलिए रह-रहकर उसे यह भी लगता रहता है कि बूढ़े की चीख-पुकार के बीच हरदेव का पिता उसे इस सबके लिए शाबासी दे रहा है।

भीष्म साहनी के यहाँ राजनीति की उपस्थिति नारे की अपेक्षा रचना को अनुशासित करने वाली दृष्टि के रूप में अधिक है। 'मुर्ग-मुसल्लम' जैसी कहानियां उनके यहाँ अपवाद जैसी हैं जहाँ शोषित ओर सर्वहारा के कोण से वह मौजूदा राजनीति के जनविरोधी चरित्र पर कोई तीखी टिप्पणी करते हैं। उनके यहाँ राजनीतिक विकृतियां और उनसे जन्मी विद्रूपताएं बृहत्तर सामाजिक विसंगतियों और छद्म का हिस्सा ही अधिक है। यहाँ भी वह स्थतियों पर सीधी टिप्पणी कम करते हैं, व्यंग्य द्वारा उन स्थितियों में व्याप्त विसंगतियों का उद्घाटन अधिक करते हैं। 'नया मकान', 'मौकापरस्त',

'निशाचर' और 'पोखर' आदि सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपताओं के अंकन की दृष्टि से उल्लेखनीय कहानियां मानी जा सकती हैं। प्रकृति में थोड़ा भिन्न होते हुए भी 'अमृतसर आ गया...' को भी इन्हीं में शामिल करके देखा जा सकता है।

'नया मकान' उस छद्म क्रांतिकारी चेतना को उद्घाटित करने और गहराई से छीलने वाले व्यंग्य की कहानी है जिसमें आदमी सारी सांसारिक सफलता और दुनियादारी के बीच भी यह भ्रम पाले रहता है कि वह क्रांति के लिए ही बना है। जब ऐसा होता है तो आदमी गिरिजा की तरह अपनी नयी आलीशान कोठी में भी एक इनक़लाबी कोठरी बनवा लेता है और अपने पुराने दोस्तों के बीच, शराब के नशे में, अपनी लानत-मलामत करते हुए अपने अंदर अभी भी क्रांति के स्फुलिंग बचे रहने को प्रमाणित करना चाहता है। 'मौका परस्त' में व्यंग्य का इस्तेमाल और भी सर्जनात्मक धरातल पर हुआ है। उसमें एक हरफनमौला किस्म के आदमी की बड़ी जीती-जागती तस्वीर हमारे सामने उभरती है, हमारे देश की राजनीति में जिनकी संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है, जो रास्ता चलते बूचड़-खाने को ले जायी जाती बकरियों को बच्चों द्वारा खेल-खेल में दुह लेते देखकर शंभू की अर्थी का बड़ा मौलिक उपयोग करता है। ट्रक, जुलूस, लाउडस्पीकर और नारों के बीच वह उसे एक शहीद की हैसियत तक उठा देता है। हरनारायण के चुनाव अभियान में शंभू की अर्थी का यह उपयोग रामदयाल को आज की भारतीय राजनीति के प्रतीक-पुरुष का दर्जा दिलाने को काफी है। अंत में सारी स्थिति पर संतोष व्यक्त करते हुए वह कहता है.....'हमसे जो बन पड़ा हमने कर दिया। दुश्मन के गढ़ को तोड़ आये और क्या कर सकते थे! हमारे लिए तो उनके इलाके में घुसना मुश्किल हो रहा था। सब मौके-मौके की बात है!'[13] वस्तुतः राजनीति के इस अवसरवादी जन-विरोधी चरित्र ने ही देश की जनता को 'निशाचर' और समूचे देश को एक 'पोखर' में बदलकर रख दिया है।.....आधी रात के सन्नाटे के बाद, धुंध और कोहरे के बीच, प्रायः हर रात प्रकट होने वाले प्रेतों में केसरो और उसकी बेटी की तरह और भी बहुत-सी औरतें होती हैं जो रद्दी कागज, दफ्ती के टुकड़े और अधजले कोयले आदि बटोरने के मुहिम पर निकल पड़ती हैं। गयी रात और दिन निकलने के बीच अपनी कार्रवाई करने के कारण ही वे वस्तुतः निशाचर हैं। रात में सड़क साफ़ करता जमादार पहले पहुँचकर कागज के चंद टुकड़े इकट्ठे करके आग बनाकर खुद को गरमा लेने की कोशिश करने पर इन्हें अपना सबसे बड़ा शत्रु नजर आता है। जबकि अपने को इस स्थिति में पहुंचा देने वाले वास्तविक शत्रु की उन्हें कोई चेतना ही नहीं है। 'पोखर' में रेल का डिब्बा हमारे पूरे देश का प्रतीक

बन जाता है जो दुर्गंध, गंदगी और बजबजाहट से सचमुच ही एक पोखर की हैसियत को पहुंच गया है। सुविधा और सुरक्षा में जड़े 'महानुभाव' अपनी दक्षिण यात्रा के संस्मरण भावविभोर होकर सुनाते हैं और एलोरा की गुफाओं में बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों की मूर्तियों के सहअस्तित्व की व्याख्या धार्मिक सहिष्णुता और राष्ट्रीय एकता के रूप में करते हैं। डिब्बे के वॉशबेसिन की तरह पूरे देश को पोंखर बना देने वाले लोग ही वस्तुतः भावुक होकर सुविधा, सुरक्षा और सहिष्णुता की बात कर सकते हैं क्योंकि इसी में उनके वर्गहित सुरक्षित हैं। ' - उन्होंने फिर नीचे की ओर कनखियों से देखा। मुसाफिर अस्तव्यस्त एक दूसरे में उलझे हुए नींद में बेहोश पड़े थे। हलकी-हलकी, मीठी-मीठी भावना की लहरियां अभी भी उनके अंदर बराबर उठती जा रही थीं और इन लहरों पर तिरती हुई किसी कविता की दो पंक्तियां उभर कर आयीं और गाड़ी की लयबद्ध खट-खट के साथ मस्तिष्क में गूंजने लगीं.... कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी/ सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा....और गद्‌गद ने अपनी टांगें लंबी कर लीं.....,[14] समूचे राष्ट्र के संदर्भ में जैसे लेखक इस वास्तविकता को रेखांकित करना चाहता है कि अस्तव्यस्त और एक दूसरे में व्यस्त मुसाफिरों - जनता - के सोने तक ही इनकी वह हस्ती मिटने से बची है जिसे सदियों से आज तक कोई नहीं मिटा सका है।.....

देशविभाजन की त्रासदी से बहुत सीधे रूप में जुड़े होने पर भी उसका रचनात्मक उपयोग भीष्म साहनी ने अनुपाततः बहुत कम किया है। लेकिन उपन्यासों में 'तमस' और कहानियों में 'अमृतसर आ गया....' जैसी चीजें उनके यहाँ सिर्फ अपवादों के उदाहरण के रूप में ही उल्लेखनीय नहीं है। यहाँ भीष्म साहनी सांप्रदायिकता के मूल उत्स की खोज करते हैं और उसके विकास की स्थितियों को बहुत बारीकी से विश्लेषित करते हैं। 'अमृतसर आ गया....' में, भीष्म साहनी की कुछ और श्रेष्ठ कहानियों की तरह ही, प्रतीकों का कलात्मक संयत उपयोग देखा जा सकता है। गाड़ी के डिब्बे में बैठे लोग पीछे छूटे और आगे आने वाले स्टेशनों के नामों से अपने को अनुशासित करते हैं। वजीराबाद में जो मरियल सा बाबू पठानों के हर हंसी-मजाक को हंस-हंसकर बर्दाश्त करता है, उनसे 'दालख़ोर' और 'खंज़ीर के तुख्म' सुनकर भी खामोश रहता है, अमृतसर के पास गाड़ी के पहुँचने पर वही हाथ में लोहे का सरिया लेकर बड़ी आसानी से हिंदुओं का संरक्षक बन जाता है। थुलथुल सरदार जो पहले पठानों की बातों पर हंसता और दांत चियारता था, अब उस मरियल से बाबू की प्रशंसा में कसीदे काढ़ने लगता है। सरदार द्वारा की गयी उसकी तारीफ पर

लेखक की टिप्पणी है, 'बाबू जवाब में मुसकराया - एक बीभत्स-सी मुसकान और देर तक सरदार के चेहरे की ओर देखता रहा....'[15] पठानों की हंसी-मजाक और बात-बात में गालियों का उच्चारण, उनकी पोटली में उबले बंधे गोश्त की तरह ही उनके तौर-तरीकों का हिस्सा अधिक है साम्प्रदायिक विद्वेष जैसा उसमें कुछ नहीं है। वजीराबाद में हिंदू मुसाफिर को मारी गयी लात, जो उसकी पत्नी को लगती है, कैसी भी सांप्रदायिक तनाव से अधिक डिब्बे में बैठे मुसाफिर की सुविधा वाली मानसिकता के ही अधिक निकट है। इसके विपरीत बाबू की बीभत्स हंसी, हंसी से अधिक उसके कर्म पर टिप्पणी है जिसका परिणाम वह हंसी है।....

भीष्म साहनी की कहानियाँ जीवन से बहुत सीधे तौर पर जुड़ी कहानियों के उदाहरण है। राजनीति के कैसे भी स्थूल और क्रूड उपयोग के बदले वे जीवन की सार्थकता और भावात्मक समृद्धि की आकांक्षा का प्रतिफलन अधिक हैं। खुली और फैली हुई ज़िन्दगी को उसकी पूरी जीवंतता और गतिमयता के साथ अंकित करती हैं। नयी कहानी की अनेक रूढ़ियों से वे आश्चर्यजनक रूप से मुक्त हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों और प्रणय कहानियों के उस दौर में उनके यहाँ उस तरह की कहानियों की एकांत अनुपस्थिति सचमुच ही चकित करने वाली है।

भीष्म साहनी का गद्य एक ऐसे गद्य का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करता है जो जीवन के गद्य का एक खास रंग और चमक लिए है। उसकी शक्ति के स्रोत काव्य के बाह्य उपकरणों से अधिक जीवन की जड़ों तक उनकी गहरी पहुँच है। भीष्म साहनी को कहीं भी भाषा के कलाबत्तू काढ़ने की जरूरत नहीं होती। लेकिन काव्य-तत्त्वों की अकारण घुस-पैठ के बिना भी उनका गद्य कवित्व हीन, स्थूल और ठस गद्य नहीं है। सुडौल और खूब पकी ईंट की खनक ही उनके गद्य की एकमात्र पहचान है।.....

संदर्भ

1. भीष्म साहनी के 5 दिसंबर, 1981 के पत्र से
2. 'पहला पाठ' के दूसरे संस्करण में उसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन वर्ष 1957 दिया गया है।
3. भाग्यरेखा, पृ. 75
4. पहला पाठ, पृ. 26

5. भाग्यरेखा, पृ. 132
6. पहला पाठ, पृ. 37
7. वही, पृ. 66
8. भटकती राख, पृ. 46
9. शोभा-यात्रा, पृ. 82
10. वाङ्चू, पृ. 31
11. शोभा-यात्रा, पृ. 41
12. पटरियां, पृ. 19
13. वही, पृ. 74
14. निशाचर, पृ. 155
15. पटरियां, पृ. 33

6. फणीश्वर नाथ रेणु

ऊपर से देखने पर रेणु की कहानियों का स्वरूप जैसा राजनीति-निरपेक्ष या राजनीति-विरोधी लगता है वस्तुतः वह वैसा है नहीं। लेखक बनने से पूर्व रेणु किस रूप में और किस सीमा तक राजनीति से जुड़े थे, इसका सुस्पष्ट उल्लेख अब 'नेपाली क्रांति-कथा' में उपलब्ध है। किन्हीं बहुत गहरे कारणों से ही, कभी राजनीति को अपना प्रमुख सरोकार मानने और घोषित करने वाला व्यक्ति आगे अपने लेखन-कर्म में उससे पूरी तरह असंपृक्त रह सकता है। ज़ाहिरा तौर पर रेणु के पास ऐसे कोई कारण नहीं थे।

और दूसरे कितने ही लोगों की तरह रेणु के देखते ही देखते राजनीति की दुनिया में मूल्यों का जबर्दस्त विघटन उपस्थित हुआ, अवसरवादी तत्त्व तेजी से उस दिशा में सक्रिय होते चले गए, वामपंथी दलों के आपसी मतभेदों ने लोगों को कैसे और किस सीमा तक निराश किया और सबसे अधिक यह कि कैसे राजनीति में ऐसे लोगों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई है जो क्रांति को लफ्फ़ाज़ी का पर्याय बना देने की धूर्तता से लैस हैं और जो हर स्थिति तथा घटना का 'इस्तेमाल' ख़ास अपने लिए अपने ढंग से कर सकने में माहिर हैं। इन और ऐसे ही दूसरे कुछ मुद्दों पर रेणु अपनी कहानियों में सोचते-विचारते दिखायी देते हैं। 'जलवा' की फ़ातमादि से लेखक जो सवाल पूछता है - आपने पॉलिटिक्स क्यों छोड़ दी? - वह रेणु और उनकी पीढ़ी के उन बहुत से लोगों के लिए ख़ासा अहम सवाल है जो कभी राजनीति के केंद्र में थे और फिर एकदम उससे बाहर हो गए। या फिर ऐसे हालात पैदा कर दिए गए जिनमें उनका यह हश्र होना ही ज़्यादा स्वाभाविक माना जाना चाहिए। जो भी हो, फ़ातमादि का अपना उत्तर है...'यह मुझसे क्यों पूछते हो? अपने उन नवाबज़ादों से कभी क्यों नहीं पूछी जो रातोरात 'देशभक्त' बनकर कांग्रेस के खेमे में दाखिल हो गए - बगल में छुरी दबाकर। अपने नेताओं से क्यों नहीं जवाब तलब करते? कल तक गांधी-जवाहर-पटेल को सरेआम गालियाँ देने वाले, कौमी झंडे को जलाने वाले फ़िरकापरस्त लीगियों की इज़्ज़त अफ़ज़ाई की गई है और मुल्क के लिए मर मिटने वालों को दूध की मक्खियों की तरह निकाल फेंका।.... तुम खुद अपने से यह सवाल क्यों नहीं पूछते?' ...और फिर अरसे बाद ही सही, राजनीति में फ़ातमादि की वापसी का हश्र आख़िर क्या हुआ? मुस्लिम लीग की फ़िरकेवाराना कारगुजारियों के विरोध में जब वह 'नेशनलिस्ट-मुस्लिम कान्फ्रेंस' के जलसे के मौके पर कुछ कहना और करना

चाहती हैं तो प्रदर्शनकारियों की रहनुमाई करने वाले कुलीन मुस्लिम नेताओं के साहबज़ादे और बड़े अफसरों के लड़के ही उन्हें 'काफ़िर', 'हिंदू' और अंत में 'कुतिया' तक बना देते हैं। लेकिन इस सबका अंत यहीं पर नहीं होता है। इसके आगे भी होने को बहुत कुछ रह जाता है।..... 'पागलों का एक जत्था नाचता, अश्लील गालियाँ देता हुआ फ़ातिमादि की ओर झपटा। फ़ातिमादि मुस्कराती खड़ी रहीं। देखते-देखते परिंदों ने उनको ज़मीन पर पटक दिया और बाल पकड़कर घसीटना शुरू किया। दोनों ओर खड़ी भीड़ ने तालियाँ बजाइ, ''शाबास!'' जब तक पुलिस के सिपाहियों की टुकड़ी पहुँचे उन्होंने फ़ातिमादि के सभी कपड़े उतार लिए थे'....[2] बेशक इसके आगे का दृश्य लेखक देख नहीं पाता है लेकिन कई दिनों बाद हिम्मत बाँधकर अस्पताल पहुँचने पर यह सूचना उसे जरूर मिल जाती है....'जानवरों ने फ़ातमादि के चेहरे पर एसिड की शीशी उड़ेल दी थी। चेहरा झुलस कर काला हो गया था। एक आँख खराब हो गई है।.... हाथ की हड्डी टूट गई है।'[3].... रेणु की कहानियों में बहुत से ऐसे पात्र हैं जो महसूस करते हैं कि यह दुनिया अब रहने लायक नहीं रह गई है। 'रेखाएं : वृत्तचक्र' का शिवनाथ सोचता है....'इस दुनिया अर्थात् इस विराट वेश्यालय में मैं ही सबसे बड़ा पुण्यात्मा हूँ क्योंकि मैं ही इसेसमाप्त करना चाहता हूँ।'.....[4] बेशक अपनी गलाज़त के सबब से यह दुनिया एक वेश्यालय से भी बदतर हो सकती है, लेकिन उसके जिस 'ध्वंस' की बात लेखक करता है क्या उसका कोई सार्थक विकल्प भी उसके पास है? रेणु की इन कहानियों में सोच की जो दिशा है वह अवसरवादी राजनीति के आतंक और विघटन से कोहाच्छन्न है और जो दूसरी शक्तियाँ - एक सही किस्म की राजनीति - इस स्थिति का एक सार्थक विकल्प प्रस्तुत कर सकती हैं दुर्भाग्यवश उन पर रेणु की कोई आस्था नहीं है। 'पुरानी कहानी : नया पाठ' के नेताओं और मंत्रियों को बाढ़ग्रस्त क्षेत्र के 'आसमानी' दौरे और अपने वक्तव्यों की चिंता है और वे लोग जो इस बार चुनाव हार गए हैं इस बाढ़ के हाशिए पर ही अपनी अगली योजनाओं की सारी रणनीति तैयार कर लेना चाहते हैं। जो हालात हैं उन्हें सिर्फ निराशाजनक ही कहा जा सकता है और इस स्थिति को लेकर कहानी की अंतिम दो पंक्तियाँ बिना कोई टिप्पणी किए भी बहुत कुछ कह देती हैं....'इलाके' का 'पढ़वा पागल' आजकल 'निराला' की एक ही पंक्ति को बार-बार दुहराता है.....'मिट्टी का ढेला शकरपाला हुआ'।[5] सचमुच मिट्टी का ढेला जब शकरपाला हो गया तो फिर पढ़े-लिखे समझदार किस्म के आदमी ही नियति पागल होने के अलावा और हो भी क्या सकती है ? लेकिन इस स्थिति के कैसे भी प्रतिरोध की कोई कोशिश रेणु की कहानियों में दिखाई नहीं देती है। और, जैसा कि अभी कहा

गया, इसका कारण यह है कि विकल्प की शक्तियों पर रेणु की कोई आस्था नहीं है। इसके विकल्प की संभावनाएँ उनकी कहानियों में न हों ऐसा नहीं है लेकिन वे उनका कोई उपयोग करते नहीं दिखाई देते हैं। 'अगिनखोर' में युवा पीढ़ी का जो चित्र उन्होंने दिया है वह उनकी इसी आस्थाहीन सोच का परिणाम है। वहाँ पीढ़ियों के संघर्ष कैसे भी विवेक और समझ से परिचालित ही नहीं है। सूर्यनाथ के विरोध का स्वरूप और स्तर उसी के इस वक्तव्य से साफ हो जाता है.....'पिछले आठ-नौ साल से मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि मेरा बाप एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार है। मेरी रगों में दौड़ने वाले लहू का संबंध एक महान कलाकार से है... अपने पिता को अपना दुश्मन मानकर मुझे अपार बल मिलता था। इसी के सहारे मेरा सब कुछ.... मेरी प्रेरणाओं का मूलस्रोत ही अचानक सूख गया'[6] सूर्यनाथ के रूप में समूची युवा पीढ़ी के इस आवेशजनित, कुतर्कपूर्ण और विवेकहीन विरोध की क्या सार्थकता हो सकती है? स्वयं आभारानी और उसके जारजपुत्र सूर्यनाथ का पूरा प्रसंग ही किसी गहरे रचनात्मक सरोकार का परिणाम नहीं है। यह एकदम अस्पष्ट रह जाता है कि आभा की यौन उच्छृंखलता के ज़रिये आख़िर लेखक कहना क्या चाहता है ?....उसके बारे में लेखक की परिकल्पना है कि वह परित्यक्ता है और पत्नी नहीं केवल 'सखि' बनने के लिए ही पैदा हुई है।

इन कहानियों से अलग 'आत्मसाक्षी' में रेणु वामपंथी ताक़तों की चर्चा करते हैं। लेकिन यहाँ भी उनका सरोकार वामपंथी शक्तियों के माध्यम से किसी सार्थक विकल्प की तलाश का न होकर उसके बिखराव और विघटन के परिणामस्वरूप मोहभंग और पार्टी के सामान्य लेकिन ईमानदार कार्यकर्ता की उपेक्षा की वेदना ही अधिक है। इस वामपंथी राजनीति में जो भी नेता किस्म के लोग हैं वे गनपत की पैंतीस वर्ष की सेवा और संलग्नता को कोई महत्त्व देने को तैयार नहीं हैं। उनकी कारगुज़ारियां गनपत में यह अहसास पैदा किए बिना नहीं रहतीं कि जैसे वह बेमसरफ़ पैंतीस वर्षों तक एक 'अंधी सुरंग' में चलता रहा है जिसका कोई अर्थ नहीं था। जिन लोगों को पार्टी मानकर गनपत पैंतीस वर्षों तक यह सब करता रहा है वे लोग अपनी गलती ही नहीं सुधारते बाक़ायदा गनपत को ही सुधारते हैं और उसे इस लायक नहीं छोड़ते कि वह अपने आप चल-फिर सके।....'गनपत ने एक बार उलट कर देखा। पार्टी का झंडा बदरंग होकर भी फड़फड़ा रहा है, हवा में। उसे लगा कि वह खुद पार्टी का झंडा है जिसे शोभित कंधे पर ढोकर ले जा रहा है।..... कहानी के इस अंत से ऐसा कोई आशय निकलना कदाचित मुश्किल न हो कि इस कहानी में

लेखक समूची वामपंथी राजनीति का विरोध न करके उसकी ग़लत, फूटवादी और विघटनकारी राजनीति का विरोध ही अधिक कर रहा है। शोमित नयी पीढ़ी का प्रतीक है जिसकी पीठ पर पार्टी के झंडे की हैसियत से स्वयं गनपत सवार है। आपसी फूट और विघटन से वह झंडा बदरंग ज़रूर हो चुका है लेकिन वह अभी भी हवा में बाक़ायदा फड़फड़ा रहा है। परंतु सवाल फिर वही है कि युवा और वामपंथी ताक़तों का इस्तेमाल यदि सामाजिक बदलाव की क्रांतिकारी शक्तियों के रूप में नहीं किया जाता है तो क्या इससे यथास्थितिवादी और प्रति क्रांतिकारी तत्त्वों को ही ग़लत ताक़त नहीं मिलती है? इससे ऐसा भी लग सकता है कि लेखक जानबूझकर सार्थक विकल्प की संभावनाओं को धूमिल कर रहा है।.....

रेणु की कहानियों का संसार मुख्यतः ऐसे लोगों से निर्मित है जो गांव के प्रति किसी हद तक एक रोमानी मोह से ग्रस्त हैं और जिन्हें गांवों का सांस्कृतिक और लोकतात्त्विक वैभव गहुत गहराई से छूता और बांधता है। नागार्जुन की तरह वह भारतीय ग्राम-जीवन के बदलते हुए संश्लिष्ट यथार्थ को अंकित नहीं करते - उसकी सारी परिवेशगत जटिलताओं और अंतर्विरोधों के साथ। न ही वह रूढ़ि-जर्जर सामंती या अर्द्धसामंती ग्राम-व्यवस्था से संघर्ष करती नयी क्रांतिकारी चेतना के अंकन में दिलचस्पी लेते दिखाई देते हैं। इन सबके मुकाबले उनके सरोकार निश्चय ही भिन्न प्रकार के हैं।

अपनी कहानियों में यदि एक ओर रेणु ने आधुनिकीकरण की विडंबना के तौर पर शहर की ओर भागने वाले ग्रामीण युवकों को अंकित किया है तो दूसरी ओर भारतीय ग्रामों की लोक कला और लोक संस्कृति को, उसके सारे ह्रास के बीच, पुनर्जीवित करने की कोशिश भी की है। 'विघटन के क्षण' में यदि शहर आकर रिक्शा खींचने और दरबानी करने वाले लोग हैं, जो गांव लौट कर बड़ी अकड़ और शान से शहरी विकास और उसके बेहिसाब आकर्षणों की कहानियाँ सुनाते हैं तो वहीं चुरमुनियाँ और विजया भी हैं - विघटन के एक विकल्प के रूप में - जो अपने गाँव के रंगारंग आकर्षण को एक असाधारण ललक के साथ देखती और याद करती हैं।....'वह....दूर से ही दिखलायी पड़ता है, गांव का बूढ़ा इमली का पेड़। वह रहा, वह रहा बाबा जीन-पीर का थान.....रानी डिह की ऊंची ज़मीन पर....लाल माटी वाले खेत में अक्षत-सिंदूर बिखरे हुए हैं। हज़ारों गौरैया-मैना सूरज की पहली किरन छूटने के पहले ही खेत के बीच में कचर-पकर कर ही हैं।"[8]....'ठेस' में सिरचन की सादगी और करुणा

की पृष्ठभूमि में उसकी विलुप्तप्राय कला को बड़ी ललक के साथ याद किया गया है। 'भित्तिचित्र की मयूरी' की फुलपत्ती चित्र की मयूरी की तरह अपनी धरती और जड़ों से अलग नहीं होना चाहती। उसकी अपनी धरती और परिवेश चित्र की उस पृष्ठभूमि की तरह है जिसमें से न तो मयूरी को अलग निकाला ही जा सकता है और न उसमें से निकालकर उसके अस्तित्व की कोई सार्थकता रह जाती है। अपनी धरती और परिवेश के बीच ही जैसे वह जीवंत और प्राणवान है। इसी कारण मजबूर होकर सनातन को उसके गाँव को ही लोक कला और लोक कला संस्कृति के केंद्र में बदल देना पड़ता है....'गाँव में फिर एक बार ज़ोर से एक नयी ख़बर फैली - नहीं, नहीं। फुलपत्ती की मां नहीं जायेगी गांव छोड़कर। अपनी पति की डीह छोड़ कर वह कहीं नहीं जाएगी। लेकिन, सनातन ने यहां एक 'सेंटर' खोलने का फैसला किया है। पटना और दिल्ली और कलकत्ता से चुनी हुई लड़कियां तीन महीने की ट्रेनिंग लेने आयेंगी, यहां।.... अख़बार में भी यही ख़बर छप गयी है। बदरी भगत सब को सुना रहा है। इस बार गांव का पूरा नाम छपा है अख़बार में - मोहनपुर के 'मधुवनी आर्ट सेंटर' के भवन के शिलान्यास के लिए देश के प्रसिद्ध चित्रकार हुसैन से अनुरोध किया गया है।'.....[9]

रेणु की इन कहानियों का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य ग्राम संस्कृति के प्रति गहरी ललक के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। यह ललक - नॉसटलजिया - ही वस्तुतः इन कहानियों को रोमानी बनाती है, जो परिवेशगत यथार्थ की संश्लिष्टता से बचकर उसकी जटिलताओं और अंतर्विरोधों को बहुत कुछ अनदेखा करके, अपनी आकांक्षाओं और कल्पनाओं को स्थितियों पर आरोपित और प्रक्षेपित कर देती है। यही कारण है कि रेणु की कहानियों को आधार बनाकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के गाँवों की कोई प्रामाणिक तस्वीर बना पाना किसी क़दर मुश्किल है। दरअसल इस मोह के कारण ही गांवों के क्रमशः जटिल और संश्लिष्ट हो जाते यथार्थ को वह देख ही नहीं पाते जहाँ भी रूढ़ियों और सामंती व्यवस्था की जड़ता आज की उसी तरह बनी हुई है। शिक्षा के बढ़े हुए आंकड़ों के बावजूद जहां सांस्कृतिक दारिद्रय निरंतर बढ़ता गया है। कागज़ों पर ज़मींदारी के खात्मे के बावजूद जहाँ नयी ज़मींदारियाँ बनती और पनपती गयी हैं जिनमें सीधे और ईमानदार किस्म के लोगों के लिए रहना और काम कर पाना एक तरह से गैर-मुमकिन हो गया है। 'अक्ल और भैंस' में 'अगम' की खेती का जो हश्र होता है वह रेणु की और दूसरी कहानियों के मुकाबले ज़्यादा सच्चा और प्रामाणिक लगता है क्योंकि वह अक्ल को बड़ा मानने की ज़िद पर डटे रहना चाहते हैं जबकि व्यावहारिक रूप में वहां भैंस ही बड़ी है। गांव में रह कर खेती करवाने की

अपनी इच्छा और सारे नेक इरादों के बावजूद अंततः उन्हें गांव छोड़ देना पड़ता है क्योंकि वहां के बदले हुए हालात उन्हें इसके लिए मजबूर कर देते हैं।

प्रेम संबंधों को आधार बनाकर लिखी गई रेणु की कहानियों की चर्चा खूब हुई है। 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफ़ाम', 'रसप्रिया', 'एक आदिम रात्रि की महक' जैसी कहानियों ने अपनी ताज़गी और नयेपन से बहुतों को अभिभूत भी किया था जिसके कारण उनकी सराहना में किसी क़दर अतिरंजना से भी काम लिया गया। लेकिन अब शायद उन पर अधिक वस्तुपरक ढंग से बात कर सकना मुमकिन है। 'रसप्रिया' और 'आदिम रात्रि की महक' के मुकाबले 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफ़ाम' में रोमानी भाव-बोध ज्यादा मुखर और स्पष्ट है। सामाजिक संदर्भों का एक बेहद क्षीण-सा तंतु ही इस कहानी को थामे दिखायी देता है। महुआ घटयारिन को सौदागर ने ख़रीद लिया और हीराबाई को कभी मधुर मोहन कंपनी के स्टेज पर नाचना है तो कभी रौता कंपनी के स्टेज पर। हिरामन को बुरा लगता है जब तरह-तरह के लोग उसे 'रंडी' और 'पतुरिया' कहकर बुलाते हैं। लेकिन वह किस-किस से लड़े? कंपनी की औरत को घर ले जाकर बाक़ायदा बिठा लेने की बात भी उसकी कल्पना से परे है। जब घर में भाभी और गांव में और दूसरे लोग नौटंकी देखने की सुन लेने भर से उसका जीना मुहाल कर सकते हैं तो इससे आगे की बात तो शायद सोची भी नहीं जा सकती। और सचमुच हिरामन सोचता भी नहीं है। इन दृश्य-अदृश्य सामाजिक दबावों को लेकर वह जरा भी परेशान नहीं दिखायी देता है। हीराबाई के रूप-रस और गंध को जिस मोहक अंदाज में कहानी में बांधा और उतारा गया है, सचमुच ही उसे एक परी या देवकुल की औरत बना कर, उसका वह मोहक अंदाज ही वस्तुतः उसकी रोमानियत के लिए भी जिम्मेदार है। उसके शरीर के विभिन्न अंगों के लिए लेखक एक बार फिर नये सिरे से रीतिकालीन उपमाओं को पुनर्जीवित करता दिखायी देता है....'हीरामन परदे के पीछे से देखता है। हीराबाई एक दियासलाई की डिब्बी के बराबर आईने में अपने दांत देख रही है।....मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्ही-चित्ती कौड़ियों की पांत!'[10] लाल मोहर का नौकर लहसन वा नौटंकी कंपनी में नौकर होकर अपने को धन्य मानता है। गाँव में आख़िर रखा ही क्या है? - 'हीराबाई की साड़ी धोने के बाद कठौते का पानी अतर गुलाब हो जाता है। उसमें अपनी गसद्दी डुबाकर छोड़ देता हूँ। लो सूंघोगे?'[11]....'रसप्रिया' पंचकौड़ी मृदंगिया और जोधन गुरु की बेटी रमपतिया की प्रेम कहानी है। जोधन गुरु से ही उसने संगीत की शिक्षा ली थी। लेकिन जब उन्होंने अपनी विधवा बेटी रमपतिया के चुमौना की बात उठायी तो वह रातोरात भाग खड़ा हुआ क्योंकि गुरु को उसने अपनी जाति नहीं

बतायी थी ! रमपतिया के सराप से ही जैसे उसकी अंगुली टेढ़ी हो गयी है। लेकिन रमपतिया नंदू बाबू की शरण में रहती-पलती है। सब कुछ सौंपकर भी उसे उनसे मिला क्या है? - कटात-पिसात की नौकरी और मोहना। सहायता और हमदर्दी के नाम पर लंबे समय तक उनका और उसके बेटे मोहना का शोषण होता रहता है लेकिन इसकी कोई खास चेतना भी उसे नहीं है। नंदू बाबू की शोषणवृत्ति और सामंती मूल्यों तथा तौर-तरीकों के प्रति लेखक में कहीं कोई भर्त्सना या आक्रोश का भाव दिखायी नहीं देता है। नंदू बाबू का चरवाहा बनकर मोहना धीरे-धीरे मौत की ओर बढ़ता है क्योंकि उसके जैसे लोगों की तिल्ली की बीमारी का इलाज सिर्फ चिता पर ही होता है। बहुत ममता के साथ पंचकौड़ी मोहना के इलाज के लिए कुछ रुपये देता है - यह भीख नहीं उसकी 'कमाई' है.....'तुम्हारे जैसा गुणवान बेटा पाकर तुम्हारी माँ 'महारानी' हैं, मैं महा-भिखारी, दसदुआरी हूँ। जाचक, फकीर.....दवा से जो पैसे बचें, उनका दूध पीना.....'[12] और जब यही मोहना अपनी माँ को बताता है, उसके पूछने पर, तो वह आंखों से आंसू पोंछते हुए पंकचौड़ी मृदंगिया को झूठा, बेईमान और गुरुद्रोही ही नहीं बताती है बल्कि अपने बेटे को सख़्त ताकीद भी करती है कि ऐसे लोगों की संगत कभी मत करना। और मोहना जैसे पसोपेश में है - वह समझ नहीं पाता है कि उसे क्या उत्तर देना चाहिए। वह बस चुपचाप खड़ा रहता है जैसे उसकी चुप्पी ही उसकी माँ की बातों का सबसे माकूल उत्तर हो।.....

'एक आदिम रात्रि की महक' में गंध सरसतिया के अननहाये जवान शरीर की गंध है जो करमा को अपने में समूचा डुबा लेती है जिसके बाद वार्निश और चूने की गंध अब गंध लगती ही नहीं है। करमा एक ऐसे शोषण का शिकार है जिसका उसे ज़रा भी अहसास नहीं है। सरसतिया का बूढ़ा बाप उस पर ताना कसता हुआ ठीक ही कहता है - पेट माधोचंद यानी पेट भर कर ही दूसरे की सेवा में लगा रहने वाला मूर्ख। अपनी इस मूर्खता को ही वह गौरव की तरह ओढ़कर चलता है - वह तलब नहीं लेता है, नौकर नहीं है 'साथ' रहता है। मछली का शिकार करके भी खाली हाथ रेलवे-हाता में घुसकर करमा को लगता है कि सरसतिया के बूढ़े बाप ने उसे ठग लिया है। तीन रुपये की मोटी-मोटी भांगुर मछलियाँ एक चुटकी चूड़ा खिलाकर, चार खट्टी-मीठी बात सुनकर.....लेकिन मछली की बात अपने पेट में रख लेने के बावजूद जब बाबू को उसकी देह से कच्ची मछली की गंध आ ही जाती है तो वह जिंदगी में पहली बार बाबू के साथ विश्वासघात करता है। लेकिन पहली बार का यह विश्वासघात आखिरी साबित नहीं होता। इस नयी गंध का सहारा लेकर ही जैसे उसकी कल्पना

आकाश-बेल की तरह दौड़ने लगती है।.....सरसतिया का बूढ़ा बाप, घर, कुटुम और ऐसी ही दूसरी बहुत-सी गंध लगी। वह उठा। किधर से यह गंध आ रही है? उसने धीरे से प्लेटफार्म पार किया। चुपचाप सूंघता हुआ आगे बढ़ता गया।.....रेलवे लाइन पर पैर पड़ते ही सभी सिंगल होम - डिसडण्ट और पैट - जोर-जोर से बिगुल फूंकने लगे। फैमिली क्वार्टर से एक औरत चिल्लाने लगी -' चो-ओ-ओ-र!' वह भागा। एक इंजिन उसके पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा है। मगहिया डोम की डौंडी?.....तम्बू में वह छिप गया। सरसतिया खिलखिलाकर हंसती है। उसके झबरे केश, बेनहाई हुई देह की गंध, करमा के प्राण में समा गयी।'[13] .....यह गंध ही वस्तुतः उससे एक और विश्वासघात करवाती है। बाबू का सामान रेल के डिब्बे में रखकर वह चलती गाड़ी से कूद पड़ता है। बेशक उसे ठोकर लगती है लेकिन वह संभल जाता है।.....

रेणु की अधिकांश महत्त्वपूर्ण कहानियां 'नयी कहानी' आंदोलन के दौर में ही लिख गयी। उस काल में, ख़ासतौर से ग्राम परिवेश की कहानियों में, चरित्र पुनर्जीवित करने की जो कोशिश दिखायी देती है उसमें रेणु की कहानियों का योगदान भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। रेणु की कहानियां पात्रों और उनके परिवेश को एक दूसरे में इतना घुला मिला देती है कि उनमें अलग से किसी एक की सत्ता पहचानना या एक की भूमिका को दूसरे से बढ़ाकर बताना अक्सर मुश्किल होता है। वैसे यह कहना काफी कुछ ठीक ही है कि कहानी में परिवेश की ऐसी स्वतंत्र सत्ता सबसे पहले रेणु में ही स्वीकारी जाती दिखाई देती है। राजेन्द्र यादव ने ठीक ही लिखा है..... 'परिवेश - वातावरण - जीवित पात्र की तरह सामने खड़ा होकर अपना हक शायद अकेले रेणु में ही मांगता है।'[14] .....गोकि यह भी उतना ही सच है कि परिवेश के प्रति रेणु का यह आत्यंतिक भावावेश ही उन्हें रोमानी और नास्टेल्मिक भी बनाता है और उनके यहां यथार्थ से पलायन के लिए वह अक्सर एक स्थायी शरण्य का काम देता भी दिखायी देता है। इसीलिए रेणु की सबसे अच्छी कहानियां जिनमें परिवेशगत जीवंतता बनाए रखकर भी उसके प्रति अकारण मोह से बचा जा सका है। रेणु की अधिकांश कहानियां ग्रामीण परिवेश को लेकर ही लिखी गई हैं लेकिन ' टेबुल' और 'लफड़ा' जैसी कहानियां अपने क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से सहज ही महत्त्वपूर्ण दिखायी देने लगती हैं। 'टेबुल' में यह परिवेश एक शहरी दफ़्तर का है। जिसमें दुर्वादास की मानसिकता और ग्रंथियों के बहाने भारतीय कामकाजी महिलाओं की सोच पर सामान्य रूप से भी रोशनी पड़ती दिखाई देती है। 'लफड़ा' के केंद्र में गोआनीज मैडम का एक गेस्ट हाउस है जसमें कहानी बहुत कुछ मूल्यनिरपेक्ष ढंग से चलती है।

लेकिन रेणु की असाधारण पर्यवेक्षण क्षमता और भाषिक उतार-चढ़ाव एवं अंतर्छवियों के द्वारा ज़िंदगी के बहाव को बांधने का उनका कौशल इसमें पूरी तरह सुरक्षित है।

रेणु की ग्रामीण परिवेश वाली कहानियों में, चरित्र और परिवेश की संश्लिष्टता की दृष्टि से, 'लाल पान की बेगम' संभवतः अकेली कहानी है जो रेणु की रचना क्षमताओं को सही जगह पर पहचानने में मदद करती है। बिरजू की अम्मा का क्रोध और ठस्सा, गिरी का तेल डाल सकने से लेकर अपने पति की अपनी हथेली के नीचे रख सकने वाली उसकी खुशी और हौसला सारा कुछ बहुत जीवंत ढंग से इस कहानी में अंकित है। उसका पति उसकी इच्छा जानकर किसी की बैलगाड़ी मांगकर उसे मेला ले चलने की योजना बनाता है। जब काफ़ी देर तक वह नहीं लौटता है और अड़ोस-पड़ोस की औरतें तानों-तिश्तों से भी बाज नहीं आती हैं तो वह अपने को धिक्कारने लगती है - 'अंत में उसे अपने आप पर क्रोध हो आया। वह खुद भी कुछ कम नहीं। उसकी जीभ में आग लगे। बैलगाड़ी पर चढ़कर नाच देखने की लालसा किस कुसमय में उसके मुंह से निकली थी, भगवान जाने। फिर आज सुबह से दोपहर तक किसी न किसी बहाने उसने अट्ठारह बार बैलगाड़ी पर नाच देखने की चर्चा छेड़ी है।....लो, खूब देखो नाच ! कथरी के नीचे दुशाले का सपना'[15] ....और सचमुच ही जब यह सपना पूरा होने को आता है तो घर में बड़े पैमाने पर तैयारियां शुरू हो जाती हैं। शकरकंद की गुड़वाली मीठी रोटियां बनती हैं। चंपिया छींट की साड़ी पहनकर तैयार होती है और बिरजू पैंट पहनकर, बटनों के अभाव में पटसन की डोरी से कमर कसकर जैसे सचमुच ही किसी मोर्चे की तैयारी करता है। स्वयं बिरजू की अम्मा असली रूपा का मंगटीक्का पहनकर मेला जाने को तैयार हुई है। बिरजू के बापा को जाने क्या हो गया है - गाड़ी जोतने के बदले वह टुकर-टुकर उसे ही देखता रहता है। फिर वह बड़े उत्साह से बुला-बुलाकर सबको गाड़ी में बिठाती है मेला चलने के लिए - उन्हें भी जिनसे थोड़ी देर पहले ही वह बाक़ायदा समरभूमि में भिड़ चुकी होती है। जंगी की टेसन वाली पतोहू, राधे की बेटी सुनरी और लेखा खवास की बहू....और जो बाकी रह गयी हैं वे सब ! और उन खेतों में धान के झरते फूलों की गंध के बीच वह सचमुच ही लाल पान की बेगम जैसी ओज और गरिमा से भरी होती है।....

'नैना जोगिन' में यह परिवेश न तो इतना मुखर ही है और न ऐसा जीवंत ही। लेकिन उसमें एक संपूर्ण स्त्री-रतनी-कदाचित पहली बार अपने स्त्री होने का अधिकार

मांगती है बड़े चुनौती भरे और आक्रामक ढंग से 'मेरा क्या कसूर जो बारह साल से वनवास दिये हुए हैं आप लोग। उस बूढ़े की करनी का फल चखाया तो क्या बेजा किया? मैं उस समय उसकी पोती की उम्र की थी।...सो आप लोगों ने....हम लोगों को 'रंडी' से भी बदतर कर दिया!.....मैं जवान हुई, आप लोगों ने आंख उठाकर कभी देखा नहीं कि आखिर गाँव-घर की एक लड़की ऐसी जवान हो गयी और शादी क्यों नहीं होती? .....अब इस बार आए हैं तो कभी आपके मन यह नहीं हुआ कि रतनी की शादी को ढाई साल हो रहे हैं और रतनी को बच्चा क्यों नहीं हुआ?'[16] ....रतनी को देखकर यह समझ सकना मुश्किल नहीं होता है कि दूसरों के कारण भोगी हुई पीड़ा का विस्फोट कैसे सात्त्विक आवेश को जन्म दे सकता है ऐसी पीड़ा का एक अलग तेज होता है जो अश्लीलता को गला देता है।

'नयी कहानी' आंदोलन के दौर में कुछ कहानीकार कहानी की समूची परंपरा और अपनी बहुत से अग्रज कलाकारों के प्रति जिस सीमा तक असहिष्णु तथा आक्रामक दिखायी देते हैं, रचना के धरातल पर वैसी आक्रामकता इस दौर की कहानी में अपवाद के तौर पर ही देखने को मिलती है। इस दौर के जो कहानीकार सामाजिक विसंगतियों की गहरी पहचान का बोध देते हैं, जैसे अमरकांत और मार्कण्डेय या फिर किसी सीमा तक हरिशंकर परसाई और उस पहचान का रचनात्मक उपयोग वे सामाजिक बदलाव के लिए करना चाहते हैं, वे लोग ही इस दौर में व्यंग्य का इस्तेमाल भी करते दिखायी देते हैं। और दूसरे कहानीकारों में व्यंग्य कहीं-कहीं दिखायी ज़रूर देता है लेकिन कुल मिलाकर उसकी स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं कही जा सकती। एक कहानीकार की हैसियत से रेणु के भिन्न सरोकारों की बात शुरू में ही कही जा चुकी है। सामाजिक रूढ़ियों और अवसरवादी राजनीति के संदर्भ में वह जब-तब व्यंग्य की ज़मीन पर उतरते ज़रूर हैं लेकिन उनकी अपनी जमीन वह नहीं है। इस क्षेत्र में उनकी एकमात्र उल्लेखनीय कहानी ' अच्छे आदमी' ही है। वैसे इसमें भी वह यथार्थ का रोमानीकरण करने से नहीं चूकते हैं - जैसे रूपवती बहू की खोज का नाटकीय प्रसंग, सीता-दर्शन और चाय की दूकान आदि की व्यवस्था - लेकिन उजागिर की वणिक बुद्धि इसे खूब अच्छी तरह समझती है कि पत्नी को लेकर थोड़ी छूट और उदार होने से ही यदि कुछ अच्छे लोग उसकी मदद करते हैं तो इसमें उसका जाता भी क्या है? - शुरू में तो वह ठेकेदार और अपने बेटे प्रदीपकुमार की सूरत के साम्य को भी नजरअंदाज करता रहता है। लेकिन लोगों की बोली-बानी अंततः उसके सोये हुए पौरुष को जगा देती है और तब वह अच्छे

आदमियों की 'अच्छाई' को को लेकर एकदम ही असहिष्णु हो उठता है। - 'किंतु इधर कई दिनों से उजागिर का मन भी अंदर ही अंदर सुलग रहा है न जाने क्यों। परमिट का कागज लालाजी के बेटे को देकर ईंट-सीमेंट-लोहा लिया गया। ठीक है। लालाजी के बेटे ने परमिट लेते समय प्रदीपकुमार की माय की अंगुलियां टीप दी थी। इसमें कोई हर्ज नहीं है। दरोगाजी ने उस दिन दारू के झोंक में कबूतरी कह दिया। सरकारी आदमी का सात खून माफ है। लाल गाड़ी के ड्राइवरजी ने होली के दिन गाल पर अबीर लगा दिया। होली की बात! फिर डाइवरजी भले आदमी हैं। लेकिन....?'[17] इस लेकिन के बाद ही जैसे सब कुछ बदल जाता है। मिस्त्री के जरा से उकसाने से वह अपनी बीवी के साथ जिस तरह पेश आता है उससे उनके संबंधों का पूरा परिप्रेक्ष्य ही जैसे बदल जाता है। स्वयं रेशम बहू को भी लगता है कि इतने वर्षों में आज पहली बार जैसे उसके आदमी ने पति जैसा व्यवहार किया और अपनी उस वहशियाना पिटाई में भी उसे सुहागरात जैसा सुख मिलता है।.....

'नयी कहानी' आंदोलन से थोड़ा पहले ही, अपने 'मैला आंचल' के द्वारा रेणु बाकायदा एक आंचलिक कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उस दौर की उनकी अधिकांश कहानियाँ भी अपने इन्हीं वैशिष्ट्य के कारण सराही गयी थीं और अरसे तक वे चर्चा के केंद्र में रहीं थीं। आज आंचलिकता को लेकर लोगों में वैसा उत्साह नहीं रह गया है। एक तरह से वे लोग भी अब आंचलिकता का विरोध करने लगे हैं जो कभी उसके लिए बराबर की हिस्सेदारी करते थे। रेणु का कथा-क्षेत्र अधिकांशतः बिहार का ही एक भूखंड है और उस खंड के परिवेश को उन्होंने गहरी आत्मीयता और तल्लीनता के साथ अंकित किया है। उस परिवेश को जीवंत बनाने के लिए, एक लेखक की हैसियत से उन्होंने श्रम किया है उसकी साक्षी उनकी रचनाओं से बाहर ढूँढ़ने और तलाश करने का कोई अर्थ नहीं हो सकता है। अपनी कथाभूमि के तेजी से बदलते हुए नक्शे को वे सफलता से पढ़ सके हैं, भले ही उस क्षेत्र की संघर्षशील और परिवर्तनकामी शक्तियों की कोई गहरी पहचान उनमें न दिखायी देती हो। अपने लिए चुने गए अंचल की भाषा-बोलियों, रीति-रिवाजों और लोक-तत्त्वों की उनकी जानकारी आश्चर्यजनक है। इस क्षेत्र के पशु-पक्षियों की बोलियों और दूसरी बहुत-सी ध्वनियों को चमत्कार की हद तक जाकर उन्होंने पकड़ने और बांधने की कोशिश की है। शब्द और उच्चारण को विकृत करके रेणु भाषा की नयी सर्जनात्मक क्षमता का परिचय देते हैं। च्ये-हे-य परफेस्सर, इसपिसल, पाटीपोलटिस, निसाफ, फेनूगिलास जैसे सैकड़ों शब्द रेणु की भाषा की मूल शक्ति

की ओर संकेत करते हैं। वह अपनी कहानियों में ' वर्णन' की अपेक्षा 'अंकन' पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं और उनके गद्य की चित्रात्मकता उन्हें उपलब्धियों की सुरक्षित भूमि पर ला खड़ा करती है। यही कारण है कि बहुत-सी ऐसी कहानियाँ भी जिनमें मूल्यों के संघर्ष और संक्रमण की उपेक्षा की गयी है, पर्यवेक्षण और अंकन की अपनी जीवंतता के कारण थोड़ी देर को बांधती और आकर्षित ज़रूर करती हैं।

आज भी बहुतों के लिए यह विवाद का विषय हो सकता है कि विशुद्ध रूप से रेणु एक आंचलिक कथाकार हैं भी या नहीं। लेकिन ऐसे विवादों की सार्थकता को लेकर कोई अंतिम फैसला दे पाना किसी कदर मुश्किल ही है। वैसे भी रागों की परिशुद्धता की तरह रेणु किसी भी क्षेत्र में विशुद्धता के बहुत कायल कभी नहीं रहे। तथाकथित परिशुद्धता की विडंबना को शायद वह गहराई से समझ सके थे, इसलिए उस ओर उनका कोई आग्रह भी नहीं दिखायी देता है। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा का यह वक्तव्य गौरतलब है। 'रेणु का स्थान यदि अपने पूर्ववर्ती और समकालीन आंचलिक कथाकारों से अलग और विशिष्ट है तो वह इसमें है कि आंचलिक सिर्फ उनका परिवेश था, उसके भीतर बहती जीवन धारा स्वयं अपने अंचल की सीमाओं का उल्लंघन करती थी। रेणु का महत्त्व उनकी आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भूखंड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति रेखा को उजागर किया था।'[18] ....इस कथन की अतिरंजनाओं को बचाकर भी रेणु के महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है। किसी भी प्रदेश की जनता की नियति रेखा को, किसानों की खासतौर से, उसके क्रांतिकारी संकल्पों और संघर्षों से अलग करके पूरी तरह उजागर कर सकना असंभव है। रेणु की इस संघर्ष-निरपेक्षता का उपयोग लोग अपने हिसाब से अलग-अलग ढंग से करते देखे गये हैं। लेकिन इसके मूल में ज़ाहिर तौर पर, रेणु के कैसे भी बचाव से अधिक चिंता स्वयं उनके अपने बचाव की होती है।....

संदर्भ

1. आदिम रात्रि की महक, पृ. 66
2. वही, पृ. 69
3. वही
4. अगिनखोर, पृ. 33
5. आदिम रात्रि की महक, पृ. 83
6. अगिनखोर, पृ. 22

7. आदिम रात्रि की महक, पृ. 172
8. वही, पृ. 24
9. अगिनखोर, पृ. 51
10. ठुमरी, पृ. 135
11. वही, पृ. 162
12. वही, पृ. 24
13. वही, पृ. 57
14. रेणु की श्रेष्ठ कहानियां, (सं.) राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ. 6
15. ठुमरी, पृ. 177
16. आदिम रात्रि की महक, पृ. 180
17. रेणु की श्रेष्ठ कहानियां, पृ. 116
18. 'ऋण जल धनजल' में 'समग्र मानवीय दृष्टि' के रूप में संकलित, पृ 18

7. यशपाल

यशपाल के उपन्यासों को सामने रखकर उनकी कहानियों का अध्ययन करने से कई रोचक तथ्य उद्घाटित होते दिखाई देते हैं। अपने उपन्यासों में वह शुरू से ही राजनीतिक संदर्भों को उठाते ही नहीं, राजनीतिक घटनाओं को विस्तार से कथाबद्ध करते हैं और उन घटनाओं से निर्मित सोच और उसके बदलाव की समूची प्रक्रिया को भी आंकते चलते हैं। इसके विपरीत उनकी प्रारंभिक कहानियां जो अधिकांश में 'पिंजरे की उड़ान' में संग्रहीत हैं और कुछ उनके दूसरे संग्रह 'वो दुनिया' में, राजनीतिक स्तर पर कहीं भी लेखक के राजनीति से उसकी गहरी संलग्नता और सरोकार की छाप नहीं छोड़ती हैं। इस अंतर के कितने ही ज्ञात-अज्ञात कारण हो सकते हैं। लेकिन प्रमुख बात यह है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य मालूम होती है, कि ये कहानियां, प्रायः सबकी सब उसके लंबे जेल जीवन के दौरान लिखी गई हैं। आपसी बातचीत में कई बार यशपाल ने इस तथ्य की ओर संकेत भी किया था। ये कि उनकी सन् '34 से सन् '38 के बीच लिखी कहानियां हैं जो जब-तब पत्रिकाओं में निकलती रही थीं और जिनका संग्रह जेल मुक्त होने के बाद सन् '39 में स्वयं यशपाल ने ही प्रकाशित किया था क्योंकि काफी सोचने-विचारने के बाद एक लेखक के रूप में ही जमने का उन्होंने निश्चय किया था। इस तरह 'पिंजरे की उड़ान' की प्रायः सभी और 'वो दुनिया ' की कुछ कहानियां उस काल की लिखी हुई कहानियां हैं जब न सिर्फ़ उनके जीवन का उद्देश्य बहुत स्पष्ट नहीं था बल्कि चौदह वर्षों की लंबी सज़ा के परिणामस्वरूप उसे लेकर कोई विशेष आशा भी नहीं रह गई थी। अपने जीवन की तरह इन कहानियों का भविष्य भी तब एकदम अस्पष्ट और अंधकारमय था। उनके लिखे जाने के दौरान भी ऐसी आशा एकदम नहीं थी कि वे कभी प्रकाशित हो सकेंगी। ये कहानियां एक तरह से जेल के यातनापूर्ण, और यातना केवल शारीरिक ही नहीं होती है, समय को झेल सकने के शगल के रूप में लिखी गई थीं। इनके लिखे जाने के दौरान यशपाल ने स्वयं गहरे विस्मय भाव से यह महसूस किया कि इनके लिखे जाने ने समय को किस कदर आसान कर दिया है और इनके बिना वह कितना मुश्किल रहा होता!

इस सारी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर इन कहानियों के स्वरूप पर कदाचित् अधिक वस्तुपरक ढंग से चर्चा की जा सकती है। इस संग्रह में ऐसी कोई कहानी नहीं है जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण किया गया हो। जैसा कि यशपाल का अपना एक खास ढंग रहा है। इस संग्रह के अकेले अपवाद को छोड़कर उनके सारे संग्रहों

के नाम किसी न किसी कहानी को ही आधार बनाकर रखे गए। 'पिंजरे की उड़ान' की कहानियां एक विशेष मनःस्थिति की कहानियां थीं और वहां किसी दूसरी चीज़ के मुकाबले उस मनःस्थिति का महत्व ही सबसे ज्यादा था जिसका सीधा परिणाम वे कहानियां थीं। ये कहानियां किसी तीखे वैचारिक संघर्ष से अपने को बचाकर चलती हैं, और शायद इसी कारण कुछ आलोचकों ने इन्हें भावमूलक कहानियों का नाम भी दिया है, लेकिन संग्रह के शीर्षक से व्यंजित सारी भावाकुलता के बावजूद, वे अधिकांश में भावुकता और रोमानियत से मुक्त रह सकी हैं। अज्ञेय की इसी दौर की कहानियों के समान न तो ये कहीं क्रांति की रोमानी अवधारणाओं की शिकार होती हैं और न ही जैनेन्द्र की कहानियों की तरह अपने प्रभाव के लिए कैसे भी भाषाई छल का सहारा लेती हैं। इन कहानियों को पढ़कर लेखक के वैचारिक आग्रहों को, वे जो और जैसे भी हैं, तो समझा ही जा सकता है, उनकी अभिरुचियों और संस्कारों के साथ ही कदाचित् उनके आधार पर यशपाल के जीवन की कितनी ही स्थूल घटनाओं और प्रसंगों का साम्य भी उनमें पाया जा सकता है। प्रेमचंद की कहानियों के मुकाबले निजी जीवन की अभिज्ञता का स्वाद उनमें खूब गाढ़ा होकर उतरा है। यही कारण है कि अपनी प्रभाव क्षमता के कारण इस संग्रह की कुछ अच्छी कहानियां आज प्रायः चालीस वर्ष बाद भी उतनी ही आकर्षक लगती हैं। एक लेखक के सरोकारों को लेकर यशपाल इन कहानियों के लिखे जाने के दौरान भले ही बहुत स्पष्ट न हों, कम-से-कम यह तो वह नहीं ही जानते थे कि आगे चलकर अपने अपूर्ण राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह कलम को ही प्रमुख अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करने वाले हैं, लेकिन एक लेखक की हैसियत से उनके सरोकारों का संकेत इस संग्रह की भूमिका में पर्याप्त स्पष्ट रूप से मिल जाता है...हमारी कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकताएं ही होती हैं...। यशपाल की कल्पना अतीत सुख-दुख को अनुभूति के चित्र बनाकर उससे ही संतोष करने को तैयार नहीं है। इन कहानियों की मूलाधार अपनी कल्पना के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए वह स्पष्ट लिखते हैं '...(वह) आदर्श की ओर संकेत कर समाज के लिए नया नक्शा तैयार करने का यत्न करती है।...'

बीस कहानियों के इस संग्रह में शायद आधी से ज्यादा कहानियां ऐसी हैं जो रचनात्मक और प्रभाव-क्षमता की दृष्टि से बेहद साधारण कहानियां लगती हैं लेकिन उसमें पांच-सात कहानियां ऐसी भी जरूर हैं जो एक कहानीकार के रूप में आज की यशपाल की प्रतिष्ठा और गौरव का कारण मानी जा सकती हैं।...इन कहानियों के संदर्भ में निजी जीवन की जिस अभिज्ञता की बात कही गई है वह बहुत कुछ वही

चीज है जिसे 'नई कहानी ' के आंदोलन के जमाने में अनुभव की प्रामाणिकता के नाम पर चलाने की धुआंधार कोशिश की गई थी। वैसे सैद्धांतिक दृष्टि से आगे चलकर यशपाल लेखक के लिए अनुभव की इस सीमाबंदी का विरोध करते हैं। लेकिन उनकी अभिरुचियों और अनुभव की इस सीमाबंदी का विरोध करते हैं। लेकिन उनकी अभिरुचियों और अनुभव के छींटों ने इन कहानियों को निश्चय ही एक मनोहरी सरसता दी है। कश्मीर, अविभाजित पंजाब और जिन दूसरे स्थानों का वर्णन इन कहानियों में है, वे सब सही स्थल हैं जहां यशपाल अपने क्रांतिकारी जीवन और फरारी के दिनों में घूमते-भटकते रहे थे। इनमें से कितनी ही कहानियों में आथिक संपन्नता और वैभव की चकाचौंध से परे दूर-दराज पहाड़ी गांवों की सरलता और निश्छलता सुरक्षित है। आज शायद बहुतों को यह न मालूम हो कि अपने लंबे जेल जीवन से मुक्ति के बाद यशपाल के मन में एक विकल्प एक चित्रकार के रूप में जमने का भी था। अपने कारावास के दिनों में एक ओर यदि वह कलम से अभ्यास करते रहे थे तो दूसरी ओर चित्रकारी का शौक भी उन्हें था और उस जमाने में कई चित्र अभी हाल तक उनके यहां सुरक्षित थे। 'नीरस-रसिक '--और आगे चलकर 'चित्र का शीर्षक ' जैसी कहानियां उनकी तत्कालीन अभिरुचियों और आग्रहों को एक साथ स्पष्ट करती मालूम होती हैं। जीवन और जगत के प्रति निर्मित और सुस्थिर होती दृष्टि का संकेत भी इनकी कितनी ही कहानियों से मिल जाता है।...

'मक्रील' और 'नीरस-रसिक' दोनों ही कहानियों में जीवन से कटे सौंदर्य और तत्संबंधी कल्पना में विरोध प्रकट करके जीवन के स्वीकार का आग्रह स्पष्ट है। 'मक्रील' के कवि की जिस भावुक कल्पना पर संसार मुग्ध है, स्वयं कवि के लिए वह जीवन की वास्तविकता के अभाव में अकेलेपन की यातना का प्रतीक बन जाती है। 'नीरस-रसिक ' की सविता जीवन के प्रति किसी कदर भावुक और रोमानी दृष्टिकोण की शिकार है जो कहीं न कहीं उसकी किताबी समझ का ही नतीजा है। सौंदर्य वह स्वांतः सुखाय और परिवेशगत दबावों से ऊपर मानकर चलती है। कश्मीरी युवती के प्रति उसकी ईर्ष्या, जो प्रदुम्न के लिए उसके चित्रों का मॉडल बनने को आती है, कविता की इसी सोच की देन है जिसके कारण प्रदुम्न के तर्क उसे नीरस और उस कश्मीरी युवती के प्रति उसकी सहानुभूति उसे अकारण पक्षपात जैसी लगती है। सविता के लिए जो प्रदुम्न की नीरसता है वह वस्तुतः उसके संयत आचरण और जीवन एवं जगत के प्रति उसकी सही समझ का परिणाम है जिससे सविता जैसी सोच वाले हजारों लोगों को एक संस्कारगत धक्का जैसा लगता है।..

यशपाल की इन प्रारंभिक कहानियों को लेकर इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है कि इनकी अधिकांश कहानियां भावुकता और रोमानियत का विरोध करके जीवन के प्रति एक यथार्थ और वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाने पर बल देती हैं। इस ओर संकेत किया जा चुका है कि ये कहानियां इसी काल में लिखी गई अज्ञेय की कहानियों की भांति क्रांति की भावुक और रोमानी अवधारणाओं से अपने को मुक्त रखकर चलती हैं। इन कहानियों में कैसी भी क्रांति को लेकर कैसे भी भावुक प्रलाप की जरूरत लेखक को नहीं महसूस होती। इसके विपरीत वह समाज के बदलाव के लिए, एक नया नक्शा तैयार करने में, अपने क्रांतिकारी विचारों का बड़ा संयत और समझदारी भरा उपयोग करता दिखाई देता है। 'प्रेम का सार ' और 'पहाड़ की स्मृति ' जैसी कहानियां नागरिक सभ्यता से अछूते पहाड़ी गांवों में रहने वाले लोगों के भोले विश्वासों को आधार बनाकर लिखी गई कहानियां हैं लेकिन भावुकता के संस्पर्श से वे एकदम अछूती रह सकी हैं। 'प्रेम का सार ' में एक पहाड़ी युवती जवानी से बुढ़ापे तक अपने उस पति की प्रतीक्षा करती रहती है जो कमाई के लिए गांव छोड़कर लाहौर चला गया था और जिसकी वापसी के लिए वह अपनी भैंसें और जमीन बेच-बेचकर पैसा भिजवाती रही है। दूसरों के जवान बेटों को खेतों में काम करते देखकर उसके कलेजे में एक हूक-सी उठती है। जब कितनी ही बार रुपए मंगवाने और वादे करने पर भी वह वापस नहीं लौटता है तो वह स्वयं उसे तलाश करने के लिए लाहौर को चल पड़ती है। अपने पति फज्ज़ा की एक पुरानी वास्कट और एक लंबा छुरा बहुत एहतियात से छिपाकर वह अपने कपड़ों में रख लेती है। उस बूढ़ी औरत को जब चरस की चोरी के शक में थाने ले जाया जाता है तो उसकी तलाशी लिए जाने पर यह सामान बरामद होता है। छुरे के बारे में पूछे जाने पर वह स्पष्ट स्वीकार करती है कि वह उसी का है। और आगे यह पूछे जाने पर कि वह उसका क्या करेगी, वह किसी कदर बिगड़ कर जवाब देती है....'उसने मेरी तमाम उमर बरबाद कर दी, मैंने उसके लिए सब कुछ किया, उसके लिए मैं बांझ बनी। अब वह मेरे साथ नहीं जाएगा तो मैं उसे कत्ल कर दूंगी![2]' जबर्दस्त तलाश के बाद जब जेल में से निकालकर फज्ज़ा को उसके सामने लाकर खड़ा किया जाता है तो वे एक-दूसरे को पहचान सकने की स्थिति में भी नहीं होते हैं...'संभवतः रफिया तेईस-चौबीस बरस के हट्टे-कट्टे फज्ज़ा की बात सोच रही थी। पीर हुसैन ने जब दोनों का परिचय कराया तो कितनी ही देर तक रफिया वज्राहत की भांति दांतों तले उंगली दबाए फज्ज़ा की तरफ देखती रही, मुख से उसके शब्द न निकल सका...वह स्वीकार न कर सकी कि यह वही उसका फज्ज़ा है जिसके लिए उसने आयु भर तपस्या की है।[3] निराशा और

मोहभंग से पैदा हुए धक्के को संभालना उसके लिए मुश्किल होता है। पीर हुसैन के समझाने के बावजूद उसकी आंखों से चिंगारियां झड़ती रहती हैं। क्रोध में, अपनी ज़िंदगी खराब कर देने के लिए वह फज्ज़ा को कितनी ही गालियां देती है और फिर उसकी अब तक बड़े यत्न से संभाल कर रखी हुई वास्कट वहीं छोड़कर, अपनी चादर उठाकर वह स्टेशन की ओर चल देती है। इस कहानी में किसी भी लेखक के लिए भावुक हो जाने का खतरा खूब स्पष्ट है लेकिन प्रेम और समय का लंबा अंतराल जैसे ही भीषण मोर्चों पर भी लेखक अपने को उस स्खलन से बचाकर रख सका है और जीवन की एक बहुत बड़ी वास्तविकता पर बड़े सही ढंग से, पूरी वस्तुपरकता के साथ, संकेत कर सका है। कहानी दरअसल रफिया के स्टेशन की ओर चल देने के लिए ही खत्म हो जाती है। लेकिन भावुकता का विरोध लेखक को एक दूसरे ढंग से जरूर भावुक बना देता है और वह कहानी के अंत में एक फिजूल-सी टिप्पणी जोड़ देता है... 'उस समय कुछ कहने का अवसर न था परंतु ख्याल आया- यह है तीस बरस की प्रेम साधना का सार। '[4] इसी तरह 'पहाड़ की स्मृति ' में भी एक निश्छल पहाड़ी युवती अपनी पांच वर्ष की बेटी को लेकर अपने प्रेमी की राह ताकती है और हर आने वाले आदमी से लाहौर गए परसराम के बारे में पूछती रहती है--इस दुःख के साथ कि उसकी बेटी ने तो बाप की सूरत तक नहीं देखी है क्योंकि वह उसके चले जाने के बाद हुई थी। अब जब वह बड़ी और समझदार होने लगी है उसके पूछे गए सवालों का जवाब उसे देते नहीं बनता है। इन कहानियों में पहाड़ी जीवन की सरलता और प्राकृतिक सौंदर्य के विसादृश्य में शहरी जीवन के दुर्निवार आकर्षण के साथ ही पहाड़ों की आर्थिक विपन्नता और परिवेशगत दबावों को भी पर्याप्त कुशलता के साथ समेट लिया जा सका है। 'दुखी दुखी ' में अभावों और मजबूरी की राह गुजर कर ही दूसरों की पीड़ा को महसूस कर सकने की संभावना पर जोर दिया गया है। 'मृत्युंजय ' में एक ओर यदि डाक्टरी के पेशे को एक मिशन के तौर पर अपनाकर, अपने चारों ओर के अभिशप्त और उपेक्षित तत्वों से जुड़कर ही मृत्युंजय हो सकने का संकेत है तो दूसरी ओर उन सामाजिक रूढ़ियों की प्रच्छन्न भर्त्सना भी खूब स्पष्ट है जिनके कारण नूरी को उस बर्बर हादसे का शिकार होना पड़ता है।

इन कहानियों के संदर्भ में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि इनमें यशपाल की उस व्यंग्य-दृष्टि की कौंध पूरी तरह सुरक्षित है जिसके सहारे वह आगे चलकर सामाजिक विसंगतियों और अंतर्विरोधों के प्रति इस कदर आक्रामक रूख अख्तियार करते दिखाई देते हैं। 'नीर रसिक ' में यह व्यंग्य यदि संस्कारों के तनाव और संघर्ष के रूप में दिखाई देता है तो 'हृदय ' में उस भावुकतापूर्ण रोमानी रवैए पर जो ज़िंदगी की

कीमत पर सौंदर्य के रसास्वादन के प्रति मोहाविष्ट है।....'प्रायश्चित ' इसलिए महत्वपूर्ण मानी जा सकती है क्योंकि वह आर्यसमाजी निषेधात्मकता पर यशपाल की पहली कहानी है जिसमें यशपाल की आगे चलकर विकसित होने वाली आक्रामकता के संकेत देखे जा सकते हैं।....

शुरू में ही इस ओर संकेत किया जा चुका है कि यशपाल के उपन्यासों के मुकाबले उनकी कहानियां राजनीतिक संदर्भों से अपेक्षाकृत अपने को बचाकर चलती हैं। परिदृश्य की व्यापकता और ब्यौरों की सहज सुविधा के कारण यह काम वह अपने उपन्यासों से लेते हैं। अपनी कहानियों के द्वारा वह क्रांति की मानसिकता के निर्माण की बात तो करते हैं लेकिन कुल मिलाकर उस क्रांति का क्षेत्र पूरी तरह से सामाजिक है और नये समाज के निर्माण की इस सक्रिय तत्परता को ही वह संभवतः एक नये समाज का नक्शा तैयार करने की जिम्मेदारी और साहसिकता से जोड़कर देखना चाहते हैं। नये निर्माण की इस तत्परता के लिए वह विचारों की भूमिका पर इतना अधिक बल देने लगते हैं कि कभी-कभी तो उनकी कहानियों में विचार की सत्ता ही सर्वोपरि हो उठती है। विचारों पर इस अतिरिक्त बल का ही परिणाम यह होता है कि कभी-कभी कहानी के खत्म हो जाने पर वह बेजरूरत एक टिप्पणी जोड़कर बाकायदा कहानी का निष्कर्ष दोहराते दिखाई देते हैं।

यशपाल के कहानी-संग्रहों की भूमिकाओं में ऐसे सूत्र पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनके आधार पर कहानी-रचना के उनके उद्देश्य के साथ ही उनकी कहानियों की रचना-प्रक्रिया पर भी रोशनी पड़ती है। 'वो दुनिया' में संग्रहीत कहानियों के बारे में यशपाल लिखते हैं...'इन कहानियों में उस दुनिया की चाह उठती है और इसीलिए दिल पुकार उठता है--'वो दुनिया। '[5] इस वक्तव्य में सामाजिक बदलाव के लिए एक ललक की ध्वनि खूब साफ है। लेकिन यह ललक उन्हें कैसे भी आदर्शवादी रोमानी पलायन की ओर न ले जाकर सामाजिक जड़ता और अंधविश्वासों की परतों को छीलने में तत्पर करती है और इसके लिए वह विचारों और तर्क की भूमिका पर विचार करते हुए कहते हैं.....'कर्म की शक्ति का स्रोत मेरी तर्क की अथवा विचार की शक्ति ही है। मैं मनुष्य समाज का एक औसत प्राणी हूँ। अपनी परख से मैं मानव-समाज के इस गुण को पहचान सकता हूँ और इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि समाज की संचालक शक्ति उसके विचारों की गति में होती है इसीलिए क्रांति के पूर्व सदा तर्क का तूफान आता है या कहिए, क्रांति के बादल तर्क के तूफान पर ही चढ़कर आते हैं।'[6] यशपाल की मान्यता है कि सौंदर्य रचना का एकमात्र उद्देश्य असुंदर का

परिष्कार और बहिष्कार ही हो सकता है। सुंदर और असुंदर का भेद या असुंदर को सुंदर बना सकने का प्रयत्न विवेक और तर्क के बिना असंभव है। इसीलिए वह तर्क और विवेक को ही सौंदर्य के मूल उत्स के रूप में स्वीकार करते हैं। इस कारण ही वह अतीत के प्रति भी एक मोहमुक्त तार्किक दृष्टि अपना सकने में सफल हुए हैं और तत्कालीन सामाजिक वैषम्य और अंतर्विरोधों को वह पर्याप्त गहराई से पकड़ सके हैं। अतीत के प्रति इस विवेक विहीन संस्कारों की जड़ता से ग्रस्त दृष्टि ही मनुष्य की परिस्थितियों से संघर्ष की प्रवृत्ति को कुंठित करके उसे अपनी परिस्थितियों का अवश दास बना देती है। यशपाल कला की सामाजिकता एवं प्रसंगानुकूलता की हिमायत करते हैं....'कलाकार के भाव और कल्पना जीवन के अनुभवों की भूमि पर ही खड़े हो सकते हैं। यदि कला में जीवन की समस्या आना दोष है तो फिर कला का प्रत्यक्ष रूप है क्या? किसी भी कलाकार की कृति जीवन का एक रूप पाए बिना प्रकट नहीं हो सकती। प्रश्न है--कला में प्रकट जीवन का रूप किस समस्या का संदेश देता है? भाव शून्य, संदेश कला को क्या हम कला कह सकते हैं? यहां भी निर्णय का आधार हमारे संस्कार और अभ्यास ही हैं। जिन भावों और संदेशों को हम परंपरा और अभ्यास से स्वीकार करते आए हैं कला में उनका समावेश हमें केवल शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा जान पड़ता है, प्रचार नहीं।'[7] यशपाल चूंकि बदली हुई स्थितियों के अनुरूप बदली हुई नैतिकता के कायल हैं, उनकी कहानियों में संस्कारगत जड़ता और नये विचारों का द्वंद्व का अंकन एक तरह से उनका मूल सरोकार ही लगने लगता है। वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि समाज ने अपने विकास के क्रम में अपने आपको बदल लिया है, इसीलिए परंपरागत मान्यताओं और धारणाओं को लेकर पुनर्विचार की आवश्यकता है...'अनेक पुरानी मान्यताएं और परंपराएं आज की परिस्थितियों में बहुत उखड़ी-उखड़ी लगती हैं। इनसे समाज में अव्यवस्था ही उत्पन्न होती दिखाई देती है। समाज का अंग होने के इन अव्यक्त कारणों को सुझा सकने में बल्कि ज्यादा संतोष अनुभव होता है। इसी ओर मेरी अधिक प्रवृत्ति होती है; यानी असुंदर को प्रकट कर देने की ओर; अपने समाज को अंधविश्वास के धोखे से बचाने की ओर।'[8] ऐसी तीखी सामाजिक चेतना से अपनी यात्रा शुरू करने वाले किसी भी लेखक के लिए स्वाभाविक रूप में सबसे बड़ा खतरा कलात्मक और रचनागत दबावों की उपेक्षा करके उद्देश्यपरकता के नाम पर एक उपदेशक और सुधारक बन बैठने का होता है। यशपाल के अपने सामने भी यह खतरा खूब साफ रहा है। सैद्धांतिक दृष्टि से वह स्वीकार करते हैं....'एक प्रश्न यह है कि कहानी की श्रेष्ठता की कसौटी क्या होनी चाहिए? कहानी की श्रेष्ठता उससे प्राप्त होने वाले उपदेश या आदर्श से आंकी जाए

अथवा उसके निर्वाह और शिल्प चातुर्य से? इसका उत्तर स्पष्ट है। कहानी का प्रयोजन केवल नैतिक मान्यताओं की घोषणा करना नहीं है बल्कि रसोद्रेक द्वारा नैतिकता और मान्यता को ग्राह्य रूप में उपस्थित करना है। इसीलिए प्रेमचंदजी की दो कहानियां 'नमक का दरोगा' और 'कफ़न' में से कला की दृष्टि से 'कफ़न' को ही मान्यता दी जाती है। यह कहानी केवल दलित मानव का चित्रण होने पर भी अत्यंत प्रिय हुई है। '..[9] साहित्य की सामाजिक और क्रांतिकारी भूमिका को अपना मूल सरोकार घोषित करने वाला कोई भी लेखक रचना में शिल्प को प्रमुख और सर्वोपरि मान कर नहीं चल सकता। लेकिन फार्म और कंटेंट की पुरानी बहस में अब मार्क्सवादी आलोचक भी इसे पर्याप्त उदार और खुले तौर पर स्वीकार करते दिखाई देते हैं कि शिल्प के प्रति कैसी भी उपेक्षा या उदासीनता एक गलत या अधूरी मार्क्सवादी समझ का ही परिणाम हो सकती है। यशपाल की एकदम शुरू की कहानियों से लेकर उनकी अंतिम कहानियों में 'लैंप शेड ', 'बिना रोमांस ', 'सच्ची पूजा ' और 'नैतिक बल ' आदि कहानियां मूल रूप से विचारों को आधार बनाकर लिखी हुई कहानियां ही हैं। लेकिन फिर भी प्रभाव की दृष्टि से वे बेहद सामान्य स्तर की रचनाएं बनकर क्यों रह गई हैं? 'लैंप शेड ' में उन्होंने ताजी बर्बरता को अंकित किया है और 'नैतिक बल ' में मज़दूरों के अबाध शोषण पर टिकी सामंती नैतिकता की ले-दे की गई है। इनमें से शैलीगत सहजता के कारण 'नैतिक बल ' पर्याप्त पठनीय रचना बन पड़ी है लेकिन फिर भी इन कहानियों की बेहद सीमित प्रभाव क्षमता का कारण जीवन के अंतरंग और आत्मीय संपर्क से अभाव में ही ढूंढ़ा जाना चाहिए। यह अकारण नहीं है कि अपने अंतिम दौर की इन अधिकांश कहानियो में यशपाल अपने अतीत की ओर मुड़ते दिखाई देते हैं और पुरानी घटनाओं और प्रसंगों को जैसे-तैसे कहानी का रूप देकर उस पर 'प्रयोजन' की चिप्पी सांट देते हैं। उदाहरण के लिए 'नैतिक बल' की यह अंतिम कुछ पंक्तियां देखी जा सकती हैं...'इस नैतिक बल का आधार उसके दोनों चाय इस्टेट पर काम करते अठारह सौ आदमियों का श्रम! इस नैतिक भुगतान में उसके प्रति मज़दूर का पचहत्तर पैसे का भाग...'[10] कहना नहीं होगा कि यह समूचा वक्तव्य मूल कहानी के साथ कहीं कोई संगति नहीं रखता है और इसीलिए कहानी और वक्तव्य के बीच की दरार उसकी प्रभाव क्षमता को लील जाती है।...

यशपाल की कहानियों के क्रमिक विकास को लेकर आलोचकों में गहरा मतभेद रहा है। कुछ लोग हैं जिन्हें उनमें किसी किस्म का कोई विकास दिखाई ही नहीं देता है। लेकिन शांतिप्रिय द्विवेदी ने बहुत पहले यशपाल की कहानियों में उनके क्रमिक

विकास को रेखांकित करने की कोशिश की थी--भले ही यशपाल के तब तक के संग्रहों के कालक्रम को उन्होंने थोड़ा उलट-पुलट दिया हो। उन्होंने 'पिंजरे की उड़ान ' की कहानियों को भावमूलक, 'वे दुनिया ' की कहानियों को समस्यामूलक और 'ज्ञानदान ' की कहानियों को यथार्थमूलक कहकर पहचानने की कोशिश की थी। समग्र रूप से इन कहानियों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा था...'उनमें लेखक केवल चरित्रकार है, प्रचारक नहीं। इन कहानी संग्रहों की भाषा प्रेमचंद की तरह सीधी-सादी, किंतु उनसे अधिक चित्रात्मक है। प्राकृतिक दृश्यों और वातावरण का चित्रण थोड़े में पूर्ण सजीव है। कथानक, चित्रण चरित्रांकन और शैली की दृष्टि से यशपाल, एक शब्द में प्रेमचंद की तिरोहित प्रतिभा की तरुण शक्ति हैं। '11 अपने इसी लेख में शांतिप्रिय द्विवेदी ने गठन की दृष्टि से यशपाल की कहानियों को 'बहुत साफ, सुडौल और संक्षिप्त ' माना है, एक पौधे की तरह।

व्यक्तिगत रूप से मुझे ऐसा लगता है कि यशपाल की कहानियों में कैसे भी विकास की खोज शिल्प के बजाय विचारों को ही आधार बना कर की जानी चाहिए। 'पिंजरे की उड़ान ' से 'अभिशप्त ' तक की- सन् '39 से सन् '44 तक-उनकी कहानियों में विचारों के विकास की गति पर्याप्त धीमी रही है। इन कहानियों में धीरे-धीरे सामाजिक विसंगतियों और अंतर्विरोधों की उनकी पकड गहराती गई है। 'भस्मावत चिंगारी' से 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ'- सन 46 से 54 तक-उनके विचारों में एक विस्फोटक आक्रामकता दिखाई देती है। रचनात्मक दृष्टि से भी इस अवधि में लिखी गई कहानियों की संख्या और दौरों के मुकाबले कहीं ज़्यादा है। इस काल मे उनके वैचारिक विस्फोट का एक सहज कारण देश की अस्थिर और संक्रमणशील स्थिति भी हो सकती है। इसके बाद 'उत्तमी की मां ' से 'भूख के तीन दिन '--सन् 55 से सन् ' 68 तक-और इसके बाद की उनकी अंतिम कहानियों में भी फिर एक उतार की स्थिति दिखाई देती है। यदि इसे बहुत सरलीकृत वक्तव्य न माना जाए तो कहा जा सकता है कि जीवन के आत्मीय और विश्वसनीय अंकन के साथ विस्फोट वैचारिकता का संयत समन्वय ही यशपाल की कहानियों के मामले में एक आदर्श स्थिति ठहरती है। इन दोनों में से जहां एक चुनने की विवशता हो वहां भी कोरी वैचारिकता के बदले जीवन के आत्मीय और अंतरंग अंकन को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर 'पिंजरे की उड़ान ' की कहानियों की तुलना में उनकी अंतिम कहानियों की सीमित प्रभाव क्षमता के कारणों को सही ढंग से समझा जा सकता है। यशपाल की सारी परवर्ती कहानियों के, 'उत्तमी की मां '

से बाद के संग्रहों तक, कलात्मक ह्रास का मूल कारण भी जीवन के तेज बहाव से किसी सीमा तक उनका कट जाना ही रहा है। सैद्धांतिक दृष्टि से इसे स्वीकार करने के बावजूद व्यवहार के स्तर पर इसके अभाव को उनके रचनात्मक दबावों की अपेक्षाकृत शीर्णता के रूप में ही लिया जाना चाहिए।...

'पिंजरे की उड़ान ' के बाद के संग्रहों की कहानियों पर उस रूप में उनकी प्रचारग्रस्तता को लेकर हल्ला भले ही न मचाया गया हो जैसी स्थिति यशपाल के पहले उपन्यास से ही शुरू हो गई थी। लेकिन इन कहानियों को एक साथ पढ़ने पर यह साफ हो जाता है कि लेखक के विचारों में धीरे-धीरे गहराई भी आती जा रही है और विस्तार भी। इन कहानियों में कभी किसी निहायत मामूली बात को हल्की चुटकी लेने के अंदाज में कहा गया है तो कभी समाज की असंगत और अन्यायपूर्ण स्थितियों पर खूब जम कर व्यंग्य किया गया है। इन कहानियों को देखने से एक और बात की ओर ध्यान जाता है--वह यह कि प्रेमचंद के बाद किसी भी दूसरे लेखक ने इतनी बड़ी तादाद में न तो अपने आसपास के विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और संस्कारों के पात्रों के एक जीवंत और विश्वसनीय संसार की रचना की और न ही इतने ज़्यादा मुस्लिम पात्रों को आधार बनाकर कहानियां लिखीं जितनी यशपाल ने। इन कहानियों में पुलिस जुल्म से सताए हुए और आतंकित लोग हैं, रूढ़ियों और अंधविश्वासों में पले शहरी सभ्यता के विकास से अछूते पहाड़ी गांवों में बसे लोग हैं--धर्म, मनौती और देवी-देवताओं के नाम पर आज भी जिनका शोषण होता है। पहाड़ों पर तफरीह को जाने वाले लोग हैं जो परीक्षा की तैयारी की आड़ में सड़कों पर घूमने निकली लड़कियों के नंबर तय करते हैं। पढ़ी-लिखी उपेक्षित महिलाएं हैं, रूढ़ियों और सामाजिक विसंगतियों की शिकार भी हैं और वेश्याएं भी। एक ओर अपनी सफेदपोशी और अभिजात वर्ग के घेरे में बंद लोग हैं जो इंसान की तरह जीना बर्दाश्त नहीं कर सकते और दूसरी ओर शोषित, उपेक्षित, दुखी और सताए हुए लोग हैं जो अपने हक की लड़ाई के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार कर रहे हैं। वे दूसरों की दया और करुणा के बदले आत्मनिर्णय के अधिकार को वरीयता देते दिखाई देते हैं।

'संन्यासी ' में बढ़ी हुई पारिवारिक जिम्मेदारी और उसके परिणामस्वरूप पैदा हुए आर्थिक तनाव देखे गए सपनों की पपड़ी बड़ी निर्ममता से छील देते हैं और उस स्थिति में पलायन ही मोह मुक्ति का पर्याय बन जाता है। 'दो मुंह की बात ' में साधना और जसवंत अपने-अपने स्त्री और पुरुष-वर्गों के प्रतिनिधि पात्र हैं और एक ही घटना की उनकी अलग-अलग व्याख्या संस्कारों में जकड़ी दकियानूसी स्त्री की

मानसिकता पर व्यंग्य बनकर छा जाती है जो पुरुष की हर बात को अकारण शंका की निगाह से देखकर बड़े भोंडे ढंग से उसे रिऐक्ट करती है। 'मोटर वाली कोयले वाली ' में स्त्री की आर्थिक सुरक्षा की भावना को अंकित किया गया है--स्त्री किसी भी वर्ग और स्तर की क्यों न हो इस मामले में कहीं न कहीं सब एक-सी साराचर हैं। आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित बने रहने की इस इच्छा के पीछे कदाचित् कहीं न कहीं हमारे समाज में स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता और उसके लिए जरूरी स्थितियों का अभाव भी रहा है। 'दूसरी नरक ' में पहाड़ी मुस्लिम समाज में, स्त्री को हीन और अपदार्थ समझने वाली सोच तो है ही वे रूढ़ संस्कार भी हैं जो अपनी ही सुंदर बीवी को असुंदर बना देने की मजबूरी पैदा करते हैं ताकि दूसरों की निगाह उस पर न पड़े। इस स्थिति से बचने के लिए जब्बार अपनी बीवी शब्बो की नाक काट लेता है, भले ही फिर स्वयं अपनी जांघ से ताजा गोश्त निकालकर उसकी मरहम-पट्टी भी करता हो, जिसे उसकी जिद के कारण उसके बाप ने ढाई सौ रूपए देकर खरीदा है, जबकि दूसरी औरत साथ में मिल सकती थी, जितने रुपयों में तो, बकौल उसी के, फिरंगी की तोप आती है। 'कुत्ते की पूंछ ' में वर्ग भेद का दर्प भी है और छोटे कहे-समझे जाने वाले लोगों के प्रति घृणा भी जो इंसान की तरह जी सकने की कोशिशों का प्रतिवाद करती है। 'तर्क का तूफान ', 'परदा ', 'गंडेरी ', '80/100 ', 'या साईं सच्चे!' और 'आदमी का बच्चा ' आदि इस काल की कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियों में से हैं। दूसरी ओर यशपाल ने कुछ ऐसी कहानियां भी लिखी हैं जो पूरे अर्थों में ऐतिहासिक न होने पर भी इतिहासबोध की कहानियां ही हैं। इन कहानियों में कभी वह इतिहास को वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं तो कभी वर्गगत रूपांतरण के परिणामस्वरूप साझे स्वार्थों के कारण राजा और पुरोहित-वर्ग के जोड़-तोड़ की कोशिशों पर प्रकाश डालते हैं। 'राजा', 'दासधर्म ' और 'शंबूक ' इस काल में लिखी गई ऐसी ही कहानियों के उदाहरण हैं। 'ज्ञानदान ' में वह अकारण संगम और विवृत्ति की कुंठाओं का संकेत करके जीवन को सारी सांसारिक सहजता में स्वीकार किए जाने की हिमायत करते हैं। 'तर्क का तूफान ' में यशपाल प्रेम को शाश्वत मानने वाली रोमानी अवधारणा का तिरस्कार करते हैं। लता के अपने जीवन में आने की संभावना के बाद अवध शोभना का चित्र फ्रेम से निकालकर फेंक देता है-- 'उस शोभना की तस्वीर जिसे अवध ने पूर्ण विश्वास से अपना हृदय सौंप दिया था। जिस शोभना ने अवध से बिछुड़ने पर प्राण त्याग देने की प्रतिज्ञा की थी और जो शोभना एक दिन अवध की, एक क्षण के लिए एक बार मिलने की प्रार्थना को अनसुनी कर, सब प्रतिज्ञाओं को भूल पिता के परामर्श से एक आई.सी.एस. बांह का सहारा

लेकर, समाचार-पत्र में अपना चित्र छपवा मधुयामिनी मनाने चली गई थी...'[12] अरसे तक अवध उसका गम पीता रहा और इस झटके की तीव्रता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हद दर्जे का खुशदिल और महफिलबाज आदमी लोगों के बीच जाने से कतराने लगता है। लेकिन फिर एक पार्टी में जबरन बुलाए जाने पर लता से उसकी भेंट एक लंबे सिलसिले का रूप ले लेती है और फिर एक दिन लता देखती है कि शोभना के चित्र के बिना उसका फ्रेम खाली पड़ा है। उसके बारे में पूछे जाने पर अवध उत्तर देता है...'चली गई...जो परदा जीवन में आ सकने वाली किरण को रोके है, उस पर जीवन निछावर कर देने से लाभ?...जीवन का द्वार खुला रहना बेहतर है। शायद प्रकाश की दूसरी किरण मिल सके....।'[13] 'परदा ' और 'गंडेरी ' में शोषित वर्ग के लोगों के प्रति लेखक की पक्षधरता बड़े कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति पा सकी है। 'परदा ' मर्यादा के बोझ बन जाने की विडंबना को अंकित कर सकने की दृष्टि से भी एक सार्थक कहानी है।...

'दासधर्म ' विचारों की दृष्टि से ही नहीं, चित्रित पृष्ठभूमि की नवीनता के कारण भी ध्यान खींचती है। इसमें समुद्री व्यापार और सार्थों की चर्चा विस्तार से हुई है। लेकिन कहानी का मूल सरोकार मूल्य के द्वंद्व और नैतिकता के अंतर्विरोध को अंकित करना है। जो आंद्रेकस और दीमा कभी पति-पत्नी थे, एक दूसरे के लिए गहरे और आवेग भरे प्रेम से परिपूर्ण, वे ही समुद्री दस्युओं द्वारा लूटे जाकर दासों की तरह बेच दिए जाते हैं। महाराज सातवाहन जब शिथिल अंग निद्रा में बेसुध हो जाते हैं तो मर्दित शरीर और मर्दित वस्त्र दीमा अवसाद भरा मुख उठाए, भीगे नेत्रों से आंद्रेकस को देखती है जो अभी कल तक उसका प्रेमी और पति था। अवशभाव से वह उसकी बांहों में सिमट आती है। लेकिन एक क्षण में ही यह जो कुछ हो जाता है, बड़े सहज भाव से, वही घोर विनाशकारी स्थिति का कारण बनता है। सशस्त्र सैनिक उन दोनों को घेर लेते हैं। शोर सुनकर महाराज भी उठ बैठते हैं। क्रोध में उनका हाथ कृपाण की मूंठ पर चला जाता है--दास की यह स्पर्धा!..'स्वामी की भोग्य नारी के स्पर्श की?...इतने वीभत्स अनाचार का दंड क्षणिक यातना की मृत्यु से? महापात अपराधियों को विचार के लिए पुनः उपस्थित करने की आज्ञा दे महाराज क्षुब्ध मन को स्थिर करने के लिए अंतःपुर में चले गए...'[14] दोनों के मृत शरीरों को एक साथ समाधि दी जाने की दीमा की प्रार्थना भी धर्माचार्य नीतिविज्ञों को पापमूलक अनाचार की प्रार्थना लगती है क्योंकि उनकी नीतिसंहिता के अनुसार 'स्वामी के प्रति विश्वासघात कर स्वर्ग की आशा करना अधर्म है। दास का केवल एक धर्म है, प्रभु सेवा! '[15] अपराध की गुरुता के अनुरूप ही दंड की व्यवस्था की जाती है--मत्त-गज के पांवों तले कुचले

जाने के बाद उन दोनों के क्षत-विक्षत शरीर राजप्रासाद के द्वार पर लटका दिए जाते हैं ताकि दूसरे दास भी इससे सबक हासिल कर सकें। 'शंबूक ' भी इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतिर्विरोधों को प्रकट करती है। वह उस सोच का एक बेहद तीखा प्रतिवाद पेश करती है जो ब्राह्मण के वचन को ही न्याय मानकर, शूद्र कहकर मनुष्यों से एक बहुत बड़े वर्ग को सामान्य मानवीय अधिकारों से वंचित ही नहीं करती, उन पर निर्मम अत्याचार की स्वतंत्रता भी देती है।....

यशपाल के दूसरे दौर की कहानियों का रचनाकाल सन् '46 से सन् '54 तक का है। इस काल में प्रकाशित कहानी-सग्रहों को लेकर यह आसानी से समझा जा सकता है कि गुणात्मकता और संख्या दोनों दृष्टियों से, कहानी-रचना के क्षेत्र में, यह यशपाल के सर्जनात्मक जीवन का सर्वश्रेष्ठ काल ठहरता है। 'भस्मावृत चिंगारी', 'फूलों का कुरता ', 'धर्म युद्ध', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक' और 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूं!' ये सब कहानी संग्रह इस काल में ही प्रकाशित हुए। किन्हीं अर्थों में इसे उनकी विस्फोटक वैचारिकता का काल भी कहा जा सकता है। अंतर्विरोधपूर्ण लगने पर भी वास्तविक स्थिति यही है कि तब जहां इनमें से कितनी ही कहानियों को लेकर यशपाल का घनघोर विरोध हुआ थ, आज उनकी ही अधिकांश कहानियां, समय के एक लंबे अंतराल के बाद, एक कहानीकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा का मूलाधार बनी हुई हैं।.....

अपनी इन कहानियों में व्यक्त विचारों के प्रति यशपाल का अपना आग्रह भी सामान्य से कुछ ज्यादा ही रहा है। सन् '64 में जब मैं यशपाल के पास गया था तो उन्होंने अपना पुराना संग्रह 'भस्मावृत चिंगारी ' मुझे भेंट किया था और उस पर यह इबारत उन्होंने लिखी थी...'लेखक के प्रयोजन और दृष्टिकोण को समझने के विचार से पढ़ने के लिए...' जाहिर तौर पर प्रकाशन के इतने अरसे बाद अपनी किसी रचना को लेकर ऐसा कोई आग्रह उसी लेखक का हो सकता है जिसे इस बात का अहसास हो कि इस बीच उसके विचारों को कहीं न कहीं गलत समझा गया है और उस विवाद पर अब भी अंतिम परदा नहीं खींचा गया है।

'भस्मावृत चिंगारी ' में यशपाल कला को जीवन से जोड़ने की एक विधायक कोशिश करते हैं। आदमी की बेचारगी और लाचारी का कला के नाम पर इस्तेमाल किए जाने का वह प्रतिवाद करते हैं। अपने जीवन की कीमत पर कला के लिए एक साधन मात्र बने रहने की स्थिति से उस मृतप्रायः व्यक्ति को उभार कर कहानी के 'मैं ' में कला

के प्रति किसी किस्म का कोई अपराध-बोध पैदा नहीं होता है बल्कि कला की कीमत पर किसी के जीवन की रक्षा को वह कहीं श्रेयस्कर समझता है....'मेरा दुर्भाग्य यह कि मुझमें अपने अपराध के लिए पश्चाताप का साहस भी नहीं है...'[16] इस तरह से यह कहानी यशपाल की मान्यताओं और रचना दृष्टि को लेकर काफी कुछ एक घोषणा पत्र की हैसियत रखती मालूम देती है। उनके यहां सब कुछ जीवन की अपनी शर्तों पर ग्राह्य और स्वीकार्य है। यह आग्रह उनके यहां इतना प्रबल है कि वह रूढ़ियों और जर्जरप्रायः परंपरा के बुतों को गहरे आक्रोश और निर्ममता से तोड़ते दिखाई देते हैं। बदली हुई स्थितियों में परंपरागत संस्कार से अपनी तथाकथित नैतिकता की रक्षा के प्रयास मे हमारी स्थिति फूलों की तरह ही हास्यास्पद होती जा रही है।--'...हम फूलों के कुरते के आंचल में शरण पाने का प्रयत्न कर उघड़ते चले जा रहे हैं और नया लेखक हमारे चेहरे से कुरता नीचे खींच देना चाहता है...। '[17] यशपाल जीवन के सहज और स्वाभाविक विकास को कुंठित और अवरुद्ध करने वाली हर चीज़ को अस्वीकार करते हैं। यशपाल पर लिखे गए अपने लंबे संस्मरण में मैंने बहुत विस्तार से उन कारणों के विश्लेषण की कोशिश की है जो आर्यसमाजी संस्कारों की पृष्ठभूमि में उनके लालन-पालन के और शिक्षा-दीक्षा के बावजूद उनके प्रति उन्हें इस कदर असहिष्णु बना देते हैं। इस असहिष्णुता का ही परिणाम यह होता है कि जब भी मौका मिलता है वह उस समूची पृष्ठभूमि का नकारात्मक उपयोग करते दिखाई देते हैं। आर्यसमाज उनके लिए अकारण संयम, कुंठा और निषेध का पर्याय जैसा बन जाता है। इस काल की उनकी कितनी ही विवादास्पद कहानियां उनकी इसी सोच का परिणाम हैं। एक जमाने में यशपाल की रचनाओं में श्लील-अश्लील को लेकर जो एक बेमकसद तबील बहस उठाई जाती रही थी उसके मूल में भी जहां एक ओर उस बहस को उठाने वालों के लिए उनके संस्कारों पर चोट से पैदा हुई तिलमिलाहट थी वहीं यशपाल एलर्जी की सीमा तक पहुंची अपनी असहिष्णुता के कारण उस ओर कुछ अधिक ही उत्साही भी थे। आज इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि हिंदी कथा साहित्य में सेक्स को जिस सहजता से यशपाल ने लिया उस दृष्टि से वह एक अकेले और महत्त्वपूर्ण अपवाद ठहरते हैं। उस क्षेत्र में अकेले ही उन्होंने एक जबर्दस्त क्रांति उपस्थित की। भले ही उत्साह के अतिरेक में वह कभी कहीं डिरेल भी कर गए हों। 'फूलों का कुरता ' की अपनी बहुत लंबी समीक्षा में, जो 'हंस ' के दो अंकों में क्रमशः छपी थी, अमृतराय ने कहानियों पर साम्राज्यवाद के विषैले कीटाणु फैलाने की तोहमत लगाई थी। आज अमृतराय की उस समीक्षा का हश्र है...'श्री अमृतराय मार्क्सवादी समीक्षक कहे जाते हैं। परंतु इस संदर्भ में उनकी

मान्यता घोर प्रतिक्रियावादी है। वे तथाकथित मर्यादा और नैतिकता के मानदंडों के मोह से ग्रस्त हो जाते हैं। क्या 'आतिथ्य ' की घटना तथ्यहीन है? क्या 'प्रतिष्ठा का बोझ ' समाज में घटित नहीं होता? क्या 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ। ' की माया जैसी पीड़ित नारियों का इस संसार में कुछ अपना नहीं होता? क्या 'धर्म रक्षा ' के नाम पर नारी जाति पर अत्याचार नहीं किया गया?...यशपाल ने इन कहानियों से एक दिशा दी है, इतिहास के अवमूल्यित पक्ष को नकारा है और इन घटनाओं के जनक वर्ग-चरित्र का पर्दाफाश किया है...। '[18]

यौन प्रसंगों के अंकन को लेकर यशपाल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह उन्हें सामाजिक समस्याओं और अंतर्विरोधों से जोड़कर देखने पर बल देते हैं। 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ! ' के मूल उत्स की चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। यहां सिर्फ़ एक बात की ओर संकेत करना काफी होगा। अश्क की 'बेबसी ' की तरह इस कहानी में भी स्त्री में पुरुष-संसर्ग की प्रबल इच्छा को अंकित किया गया है। लेकिन यशपाल माया की इस अतृप्त उत्तेजना के कारणों को सामाजिक और व्यवस्थागत विसंगतियों से जोड़ कर देखते हैं। उसका विवाह अपने से कहीं अधिक उम्र के व्यक्ति के साथ हुआ है जहां अपनी सूनी कोख के बावजूद वह कई जवान बच्चों की जबरन मां बना दी जाती है। उसकी कुंठा में, अभाव और कुढ़न ही शायद उसकी बीमारी के कारण हैं। उस अवस्था में उसकी ऐसी किसी इच्छा के संदर्भ में वह उन सामाजिक परिस्थितियों को अनदेखा नहीं करते जो इस समूची स्थिति के मूल में हैं। दूसरे और किसी किस्म के शोषण की तरह यशपाल स्त्री के यौन शोषण को भी एक सामाजिक अपराध मानते हैं और उस हालत में वह उन स्थितियों के बदलाव पर बल देते हैं जो इस सबके लिए जिम्मेदार ठहरती हैं।

आर्यसमाजी निषेधात्मकता और अर्थहीन संयम की ही तरह दूसरी जिस चीज़ के प्रति यशपाल इतने असहिष्णु दिखाई पड़ते हैं वह है गांधीवादी आचार और दर्शन। उन्हें जब भी मौका मिलता है वह उनके समर्थकों के सिद्धांत और आचारगत वैषम्य को अंकित करते हैं। ऐसे अवसर पर वह खासतौर से व्यंग्य का सहारा लेते हैं और कभी हल्के उपहास के साथ तो कभी किंचित् आक्रोश के साथ वह छत की परतें छीलते दिखाई देते हैं। 'धर्मयुद्ध ' में वह सत्याग्रह की समूची पद्धति का ही मजाक उड़ाते हैं। 'कंबलदान '—और आगे चलकर 'सत्य का द्वंद्व ' आदि कहानियों में भी—उन्होंने आचारगत ऐसे ही अंतिर्विरोधों को स्पष्ट किया है।

पहाड़ों का यशपाल के जीवन में एक विशेष आकर्षण रहा है। बचपन के यह संस्कार जीवन-भर उन्हें प्रभावित करते दिखाई देते हैं। स्वस्थ रहने और दूसरी जरूरी सुविधाएँ मिलने पर कभी वह नियमित रूप से हर वर्ष कुछ महीनों के लिए पहाड़ों पर जाते रहे थे। वैसे तो इस काल के और संग्रहों में भी पहाड़ी जीवन को लेकर लिखी गई उनकी कहानियां शामिल हैं लेकिन 'उत्तराधिकारी ' की प्रायः सारी की सारी कहानियां पहाड़ी जीवन को ही आधार बन कर लिखी गई हैं। ये कहानियां कृश्न चंदर की कश्मीर पर लिखी गई कहानियों से मूलतः भिन्न हैं। इन कहानियों में यदि एक ओर यशपाल पहाड़ों की सादगी और सरलता को बड़ी आत्मीयता से अंकित करते हैं ता दूसरी ओर वहां की गरीबी,अंधविश्वास और रूढ़ियों पर चोट भी करते हैं। 'मंगला ', 'उत्तराधिकारी ', 'कोकल्ला डकैत ', 'अमर ', 'डिप्टी साहब ' आदि कहानियां यदि एक ओर पहाड़ों की सादगी और भोलेपन, उनकी परंपराप्रियता और अंधविश्वासों को हमारे सामने लाती हैं तो दूसरी ओर वह उन तत्त्वों को भी उद्घाटित करती हैं जो इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं और उसका भरपूर लाभ भी उठाते हैं। और दुर्भाग्य से इन दोनों की ही शिकार स्त्री सबसे अधिक होती है...।

यशपाल की कहानियों का तीसरा और अंतिम दौर '55 से प्रारंभ होकर अंत तक चलता है। इस दौर की कहानियों को लेकर जिस ह्रास की बात पहले कही गई है उसका मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि इन कहानियों में दूसरे दौर की कहानियों वाली विस्फोटक और आक्रामक विचारशीलता अपेक्षाकृत काफी कम दिखाई देती है। 'उत्तमी की मां', 'ओ भैरवी!', 'सच बोलने की भूल', 'खच्चर और आदमी' तथा 'भूख के तीन दिन ' इस काल में प्रकाशित संग्रह में संकलित नहीं हैं। यशपाल चूंकि सामाजिक विसंगतियों और अंतर्विरोधों की प्रतिक्रिया से अपनी कहानियां बुनते हैं, कथ्य की दृष्टि से वह हमेशा ही एक सुरक्षित भूमि पर खड़े दिखाई देते हैं। समाज में जब तक उत्पीड़न, अन्याय और दूसरी विसंगतियां शेष हैं, उनकी कहानियों के स्रोत सूखने का सवाल ही पैदा नहीं होता। लेकिन कहानी की संभावना और एक सार्थक रचना के रूप में कहानी की उपलब्धि दो एकदम अलग बातें हैं। यही कारण है कि यशपाल को न तो कभी अज्ञेय की तरह कहानी से संन्यास लेने की बात सोचनी पड़ी और न ही जैनेन्द्र की तरह वह इस हद तक अप्रासंगिक हो गए कि आगे की कहानी की चर्चा उनके विरोध से शुरू करने की मजबूरी पैदा हो सके। दूसरे सब लेखकों की तरह यशपाल के यहां भी बहुत अच्छी और बहुत मामूली कहानियां एक साथ मिल जाती हैं और करीब-करीब हर दौर की कहानियों के साथ स्थिति कमोबेश ऐसी ही है। उनके दूसरे दौर की कहानियों को रचनात्मक उन्मेष की दृष्टि से अलग

करके देखे जाने का आग्रह केवल इसी आधार पर कोई औचित्य रखता है कि इस काल की कहानियों में उनके विचारों की आक्रामकता और विवादास्पदता तो महत्त्वपूर्ण है ही, रचनात्मक दृष्टि से उसका प्रतिफलन भी इस काल की कहानियों को जो संश्लिष्टता देता है वह अनुपात उन्हीं की दूसरे दौरों की कहानियों से कहीं ज्यादा ठहरता है।

इस तीसरे और अंतिम दौर की कहानियों में यशपाल को पौराणिक संदर्भों की ओर मुड़ते देखकर अपने एक लेख में डॉ. नामवर सिंह ने इस स्थिति पर किसी कदर आश्चर्य प्रकट किया था कि आखिर क्या कारण है कि यशपाल और अज्ञेय दोनों की ही परिणति एक जैसी होती है? लेकिन अज्ञेय और यशपाल की यह परिणति एक जैसी हर्गिज नहीं है।

अज्ञेय के पौराणिक आख्यानों की ओर मुड़ना उनके पास कथ्य के अभाव की मजबूरी का परिणाम है जबकि यशपाल पौराणिक संदर्भों की ओर परंपरा की सामयिक और युगानुकूल व्याख्या की खातिर मुड़ते हैं। रचनात्मक स्खलन की शिकार ये कहानियां हो सकती हैं लेकिन अज्ञेय की कहानियों की परिणति से इनकी परिणति निश्चय ही भिन्न है। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद 'अप्सरा का शाप ' यशपाल की अभिरुचियों और सरोकारों को स्पष्ट कर सकने में सफल होती है। यशपाल की इन कहानियों को भी इसी रूप में लिया जाना चाहिए। इस काल की कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियों में 'उत्तमी की मां', 'पतिव्रता', 'करवा का व्रत', 'पाप की कीचड़', 'सच बोलने की भूल ', 'एक हाथ की उंगलियाँ ', 'सत्य का द्वंद्व ', 'खच्चर और आदमी' तथा 'दाग ही दाग ' आदि कहानियों के नाम लिए जा सकते हैं। प्रायः इन सभी कहानियों में यशपाल अपनी ही परंपरा की रक्षा में सक्रिय दिखाई देते हैं। 'उत्तमी की मां ' और 'पाप की कीचड़ ' में वह फिर जीवन की सहजता पर अकारण कुंठाओं और निषेधों से मुक्त होकर, बल देते दिखाई देते हैं। धर्म कोई भी हो सकता है लेकिन धार्मिक संस्कारों से पैदा हुई जड़ता और अज्ञान सब कहीं एक-सा है जो मनुष्य की सहज प्रगति में बाधक बनकर खड़ा होता है। 'पाप की कीचड़ ' में रोजेरियो लंबे वैवाहिक जीवन के बावजूद अपनी पत्नी मार्था से कोई संबंध इसलिए नहीं रखता ताकि निर्दोष वह भगवान के पुत्र की शरण में पहुंच सके। धर्मपिता सेबिल की सलाह पर वह एक दिन शराब पी कर पत्नी से लड़ता है और बाद में वह सब भी होता है जिससे अब तक वह यत्नपूर्वक बचता रहा था। अरसे बाद फादर सेबिल से जब उसकी दुबारा भेंट होती है तो वह उसे अपराध-बोध से ग्रस्त पाते हैं। उस दिन की

घटनाओं और उनके परिणामों के लिए आज जैसे उसे दुःख है और तब फादर सेबिल उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं...'प्रसन्नता की बात है। अब तुम भगवान की दया के पात्र हो गए हो।...उस सांझ की लड़ाई ने तुम्हारे हृदय पर से दंभ का ढकना उतार कर तुम्हें पृथ्वी का मनुष्य बना दिया।...अब तुम पुण्य का अहंकार छोड़कर संसार के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहे हो...'पतिव्रता' और 'करवा का व्रत' आदि में वह प्रचलित नैतिकता के दोहरे प्रतिमानों की आलोचना करते हैं। 'कलाकार की आत्महत्या ' में कला के नाम पर समाज के प्रति उत्तरदायित्वहीन रवैए की आलोचना की गई है।...इस दौर की बहुत सी कहानियों में वह बड़े स्थूल ढंग से कहानी के आशय को कहानी पर आरोपित कर देते हैं और तब एक रचना रूप के तौर पर उसकी संश्लिष्टता को निश्चय ही क्षति पहुंचती है।

यशपाल की कहानियों का रचनाकाल प्रायः चालीस वर्षों में फैला हुआ है। उनकी कहानी-यात्रा प्रेमचंद के जीवन काल में शुरू हो चुकी थी--भले ही कहानियों का प्रकाशन थोड़ा विलंब से शुरू हुआ हो। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपने को प्रेमचंद के प्रभाव से मुक्त ज़रूर किया, लेकिन एक बहुत बड़ी कीमत देकर। उनके उस सचेष्ट मुक्ति-प्रयास ने ही आगे चलकर कहानी की मूलधारा से ही काट कर उन्हें अलग कर दिया। यशपाल की अपनी कहानियां भी प्रेमचंद के अभाव से मुक्त और अछूती हैं और इसीलिए शायद वे इतनी तेजी से अपने लिए जगह बना सकने में सफल हुई थीं। लेकिन ऊपरी तौर पर उनके प्रभाव से बचकर चलने की सफल कोशिश के बावजूद वे कहीं न कहीं उनसे जुड़ती भी जरूर हैं। अपने ऊपर प्रेमचंद के प्रभाव की संभावना पर टिप्पणी करते हुए यशपाल ने लिखा है... 'मैंने सचेत रूप में कभी प्रेमचंद की परंपरा निबाहने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। प्रेमचंद की सप्रयोजन लिखने की प्रवृत्ति और कथा-कौशल का मेरे मन में बहुत आदर है।...हो सकता है उनकी सशक्त शैली ने अचेतन रूप से मुझे प्रभावित किया हो। उनके और मेरे आदर्शों में भेद स्पष्ट हैं। मेरे विचार में वह पाठक की सहृदयता को छूना चाहते हैं और मैं न्याय-बुद्धि को। '[20]

प्रेमचंद ने कहानी के क्षेत्र में स्वयं एक बहुत लंबा रास्ता तय किया था। विचारों की विकास की दृष्टि से उनकी स्थिति यशपाल से पर्याप्त भिन्न थी। 'पूस की रात ' और 'कफन' जैसी कहानियों को मात्र सहृदयता के खाते में डाल देने से उनके प्रति अन्याय की संभावना बढती है। सहृदयता का रास्ता हृदय परिवर्तन और सुधारवाद की ओर जाता है। प्रेमचंद की ये बाद की कहानियां हमारी न्यायबुद्धि को छूकर इन

स्थितियों के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज की बेचैनी पैदा करती हैं। यशपाल को वैचारिक विकास की इतनी मंजिलों से नहीं गुजरना पड़ा, इसीलिए वैचारिक एकरूपता उनमें अपेक्षाकृत अधिक है।

वैचारिक एकरूपता, निषेधों और वर्जनाओं से मुक्त सहज जीवन की ललक और सामाजिक विसंगतियों की तीखी पहचान के साथ ही उसके बदलाव की बेचैनी आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं जो यशपाल से चलकर आज की कहानी तक आते हैं। इसीलिए अपनी सारी सीमाओं के बीच और बावजूद यशपाल का महत्त्व अक्षुण्ण है। आज की कहानी की सोच की जो दिशा है उसमें यशपाल की कितनी ही कहानियां बतौर खाद इस्तेमाल हुई हैं। वर्तमान और आगत फसल की संभावनाओं को देखते हुए शायद उनकी सार्थकता भी है। '...

संदर्भ

1. पिंजरे की उड़ान की भूमिका
2. वही, पृ. 51
3. वही, पृ. 52
4. वही पृ. 53
5. वो दुनिया, भूमिका, पृ. 6
6. तर्क का तूफान, भूमिका, पृ. 5
7. भस्मावृत चिंगारी, भूमिका, पृ. 6
8. मैं कहानी कैसे लिखता हूँ?, 'कहानी ' वार्षिकांक : 55, पृ. 389 .
9. 'कथा में शिल्प' शीर्षक लेख की टंकित प्रति से उद्धत
10. 'नैतिक बल' शीर्षक कहानी की टंकित प्रति से उद्धत
11. सामयिकी, पृ. 284
12. तर्क का तूफान, पृ. 39
13. वही, पृ. 40
14. अभिशप्त, पृ. 18
15. वही, पृ. 19
16. भस्मावृत चिंगारी, पृ. 18
17. फूलों का कुरता, पृ. 7
18. यशपाल और मानिक वंद्योपाध्याय : सदाशिव द्विवेदी, पृ. 83
19. उत्तमी की मां, पृ. 120
20. यशपाल के पत्रः मधुरेश, पृ. 48

8. सांप्रदायिकता और हिंदी कहानी

सांप्रदायिकता साम्राज्यवाद की कोख से जन्मी उसकी अवैध संतान है जिसका एकमात्र उद्देश्य साम्राज्यवाद के हितों को पोषित करके जनतंत्र और स्वाधीनता की चेतना एवं संघर्ष को कुंद करना होता है। 1857 की राज्य क्रांति को दबाने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद जैसे-तैसे सफल अवश्य हुआ लेकिन उसी के अनुभवों से यह निष्कर्ष भी वह निकालता दिखाई देता है कि इस उपमहाद्वीप में आगे भी अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उस जातीय एकता और सद्भाव को नष्ट करना होगा जिसका परिचय भारतीय जनता द्वारा उसे इस संघर्ष में मिल चुका था। हिन्दू और मुसलमान को दो विरोधी संप्रदायों के रूप में आमने-सामने खड़ा कर देने की उसकी साजिश वस्तुतः इसी कूटनीति का एक अनिवार्य परिणाम थी क्योंकि इसी में उसके हित और अस्तित्व सुरक्षित थे। भारतेंदु-युग में लेखकों द्वारा इस जातीय सद्भाव के पोषण और संवर्धन के प्रयास अवश्य हुए लेकिन मुसलमानों के प्रति लंबे समय से चलते रहे अविश्वास और विद्वेष के फलस्वरूप इस प्रयास की सीमाएँ तथा अंतर्विरोध भी बहुत स्पष्ट हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी असामयिक मृत्यु से कुछ पूर्व सन् 1884 में 'पंच पवित्रात्मा' शीर्षक से एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें 'मुसलमानी मत के मूलाचार्य महात्मा मुहम्मद, आदरणीय अली, बीबी फातिमा, इमाम हसन और इमाम हूसैन की संक्षिप्त जीवनी' प्रस्तुत की थी। इससे भी पूर्व वे मुसलमान बादशाहों एवं सुलतानों का संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत कर चुके थे। निश्चय ही यह उस जातीय सद्भाव के संवर्धन की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास था जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कूटनीति को विफल करने के लिए जरूरी था। लेकिन मुसलमानों की भूमिका को लेकर अनेक हिंदू लेखक पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे। अंग्रेजों द्वारा उन्हें हिंदुओं के विरुद्ध उकसाकर और विद्वेष की भावना को हवा देने के कारण यह अविश्वास कम होने के बजाय और बढ़ने की संभावना ही अधिक थी। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के बाद देवकीनंदन खत्री ने अपने कथा-साहित्य में मुसलमान पात्रों की सृष्टि काफी संख्या में की है। लेकिन उनके यहाँ इस संबंध में क्रमशः विकास और परिष्कार होता दिखाई देता है। यदि 'चंद्रकांता' में मुसलमान पात्र षड्यंत्रप्रिय, अविश्वसनीय और कलह-प्रेमी हैं तो परवर्ती रचनाओं - 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' आदि में - उनकी स्थिति और भूमिका को लेकर एक आधारभूत अंतर विकसित होता दिखाई देता है। धीरे-धीरे लेखकों को यह लगने लगता है कि स्वाधीनता की लड़ाई एक साझा लड़ाई है जिसे इस आंतरिक सद्भाव को बनाए रखकर ही सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता

है। जिस सीमा तक इस सद्भाव को पोषित किया जा सकेगा उसी अनुपात में स्वाधीनता और जनतंत्र की भावनाओं का विकास संभव होगा और उसी के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों एवं अस्तित्व पर आक्रमण किया जा सकता है। अपने छोटे-छोटे स्वार्थों में लिप्त रहने के कारण अंग्रेजों को प्रायः हमेशा ही ऐसे लोग यहाँ मिलते रहे जो अपने तात्कालिक लाभ के लिए राष्ट्रीय हितों को जबर्दस्त आघात पहुँचाते रहे। अपने लक्ष्य में पूर्णतया कृतकार्य न हो पाने पर भी कालांतर में मुस्लिम लीग की स्थापना और उसके परिणामस्वरूप दो विभाजन की घटना उस साम्राज्यवादी षड्यंत्र के ही अनिवार्य परिणाम थे जिसके असफल हो जाने से उनका पूरा अस्तित्व ही असुरक्षित बना हुआ था।

भारतीय कथा-साहित्य में प्रेमचंद कदाचित् पहले लेखक हैं जिन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में इस जातीय सद्भाव के महत्त्व को समझा और भारी जोखिम उठाकर उसके विकास का रास्ता तैयार किया। सन् 1909 में उर्दू में प्रकाशित उनके प्रथम कहानी-संग्रह 'सोज़ेवतन' की कहानियाँ मुस्लिम परिवेश और पृष्ठभूमि की ही कहानियाँ हैं जिनमें स्वाधीनता की चेतना पर दिया गया बल ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियों को 'सिडीशन' लगा था। लेकिन इस 'सिडीशन' - राजद्रोह - के अतिरिक्त एक और खतरा भी उसमें उन्हें दिखाई दे रहा था। वह खतरा था उस जातीय सद्भाव का संवर्धन जो साम्राज्यवादी कूटनीति की विफलता के लिए कटिबद्ध था। एक हिंदू लेखक द्वारा मुस्लिम पात्रों और उनकी संस्कृति को ऐसे आत्मीय सद्भाव से चित्रण के दूरगामी परिणामों को समझना और उससे आशंकित होना वस्तुतः उस कूटबुद्धि एवं विवेक का ही हिस्सा था जो उसके समूचे अस्तित्व से जुड़ा था। इसीलिए 'सोज़ेवतन' की जब्ती का फरमान और एक लेखक के रूप में प्रेमचंद पर लगाई गई बंदिश के पीछे के वास्तविक आशय को समझ पाना मुश्किल नहीं है। आगे चलकर प्रेमचंद अपनी इस मुहिम के प्रति और भी अलग होते दिखाई देते हैं। इस जातीय सद्भाव के लिए एक ओर यदि वे 'कर्बला' लिखकर उनके इतिहास एवं संस्कृति की जड़ों तक जाते हैं तो वहीं दूसरी ओर वे अपने उपन्यासों और कहानियों में मुस्लिम जनजीवन के अंकन द्वारा उससे आत्मीयता का एक ऐसा रिश्ता कायम करते हैं स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में जिसके महत्त्व के प्रति उदासीन बने रहना लगभग असंभव था। वस्तुतः इस तथ्य में ही अपने अन्य समकालीनों के बीच, प्रेमचंद की वास्तविक महानता दिखाई देती है। जयशंकर प्रसाद ने भी इतिहास और वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि में अनेक मुस्लिम पात्रों को लेकर कहानियाँ लिखीं लेकिन उनकी भूमिका को लेकर उनमें एक द्वंद्व का भाव भी स्पष्ट

है। उनकी लगभग अंतिम दौर की कहानी 'गुण्डा' में मुसलमान अंग्रेजों की सरपरस्ती में हिंदुओं के प्रति विरोध एवं विद्वेष का भाव रखते देखे जाते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में प्रेमचंद मुसलमानों की भूमिका को लेकर निश्चित रूप से एक बेहतर समझ का परिचय देते हैं। 'ईदगाह' और 'पंच-परमेश्वर' जैसी कहानियों में मुस्लिम जनजीवन का अंकन करके यदि एक ओर वे जातीय सद्भाव को विकसित करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर भाषा-संस्कृति और स्वाधीनता के लिए किए गए संघर्ष में साझा हिस्सेदारी और विरासत की बात करते हैं जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपने लिए खतरे की घंटी सुनाई देती है। चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष' पर जैनेन्द्र कुमार को लिखे पत्र में की गई उनकी टिप्पणी प्रेमचंद के उन रचनात्मक सरोकारों पर भी टिप्पणी है जिनके प्रति वे जीवन-भर बहुत सजग रहे और जिनके लिए कोई भी खतरा उनके लिए बहुत बड़ा नहीं था।

कांग्रेस की सत्ता लोलुपता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से गलत समझौतों के परिणामस्वरूप देश की स्वतंत्रता के साथ जिस राष्ट्रव्यापी विभीषिका का सामना देश की जनता को करना पड़ा उस पृष्ठभूमि पर भारतीय भाषाओं में अनेक कहानियाँ लिखी गईं। लेखकों ने एक ओर यदि स्वाधीनतापूर्व भारत में हिंदू-मुस्लिम सौहार्द और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए दोनों के संयुक्त संघर्ष का अंकन किया तो विभाजन की त्रासदी के दौरान और पश्चात् मानवीय यातना और हताशा के बावजूद उस मानवीय तत्त्व के संरक्षण पर ज़ोर दिया जिसे अभी भी पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सकता था। अमृतलाल नागर की कहानी 'आदमी नहीं! नहीं!!' इसी तलाश का एक पीड़ापूर्ण साक्ष्य बन सकी है। संक्षिप्त पुस्तिका के रूप में अलग से उसके प्रकाशन पर लेखक ने उसे सुमित्रानंदन पंत और जोश मलीहाबादी के 'देश' को समर्पित किया था जो की एक वास्तविकता होने पर भी अब सपने की तरह टूटकर बिखर चुका था। अवध की साझा-संस्कृति के प्रतीक स्वरूप नागर जी ने 'तस्लीम लखनवी' के छद्म नाम से अनेक कहानियाँ और रेखाचित्र लिखे जो लखनऊ की मुस्लिम जन-संस्कृति की बड़ी जीवंत एवं यथार्थ झांकी प्रस्तुत करते हैं। विभाजन की पृष्ठभूमि में इसी सांप्रदायिक सद्भाव और राजनीति के क्षेत्र में समान कार्यभारों का अंकन यशपाल ने अपने 'झूठा-सच' में बहुत विस्तार से किया। लेकिन उन्होंने मुस्लिम जनजीवन की समस्याओं पर अनेक कहानियाँ भी लिखी। 'प्रेम का सार' 'परदा' और 'गमी में खुशी' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द के बाद वस्तुतः प्रगतिवादी लेखकों ने ही इस सांप्रदायिक सद्भाव के महत्त्व को ठीक तरह से समझा और मुस्लिम जीवन पर उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखीं। लेकिन स्थिति की गंभीरता और विभीषिका के प्रति

किसी भी संवेदनशील लेखक का उदासीन बने रहना मुश्किल था। स्वयं अज्ञेय ने 'शरणदाता' और 'बदला' जैसी कहानियाँ लिखीं। 'बदला' में वे विशेष रूप से इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि अपना सब कुछ खोकर भी आदमी मानवीय विवेक एवं सदाशयता से भलाई में अपने विश्वास को टूटने से बचा सकता है। जिस धर्म के लोगों ने उस बूढ़े सिख का सब कुछ छीनकर आज उसे इस हालत में पहुँचा दिया है, उसी धर्म के लोगों की रक्षा वह एक मिशनरी उत्साह से करता घूमता है। हर आने-जाने वाली गाड़ी पर वह दिल्ली के लोगों को अलीगढ़ पहुँचाता है और अलीगढ़ के लोगों को दिल्ली। उसके अपने साथ शेखूपुरे में जो कुछ गुजरा है उसका बदला यही हो सकता है कि फिर और किसी के साथ वह सब कुछ न हो। उसके लिए एक स्त्री का अपमान हिंदू या मुसलमान से अधिक इंसान की माँ की बेइज़्ज़ती का सवाल बन जाता है। विष्णु प्रभाकर ने भी विभाजन की पृष्ठभूमि और मानवीय सौहार्द का अंकन करने वाली अनेक कहानियाँ लिखीं। बाद में इसी विषय पर उनकी कहानियों का एक संग्रह 'मेरा वतन' नाम से प्रकाशित हुआ। स्थितियों का भावुकतापूर्ण अंकन और पात्रों पर अपनी भावनाओं को आरोपित कर देने के परिणामस्वरूप इन कहानियों का प्रभाव सदैव एक सा नहीं पड़ता परंतु उनमें उस मानवीय सौहार्द की अंर्तधारा को हमेशा देखा जा सकता है जो हताशा के इन क्षणों में भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ती।

इसी दौर में कृशन चंद की कहानियों का एक संग्रह 'हम वहशी हैं' अमृतराय की भूमिका के साथ हिंदी में प्रकाशित हुआ। मंटो की 'खोल दो' और 'टोबा टेक सिंह' तथा ख्वाज़ा अहमद अब्बास की 'सरदार जी' आदि कहानियाँ मानवीय यातना का अत्यंत करुण और विडंबनापूर्ण साक्ष्य होने के साथ ही उस मानवीय सद्भाव पर विशेष रूप से बल देने वाली कहानियाँ हैं जो घोर अंधकर और हताशा में भी मनुष्यता का दिशा-निर्देशन करता है।

देश की स्वाधीनता और एक नए राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान के अस्तित्व की उद्घोषणा के बावजूद आम आदमी की यातना और हताशा में कोई अंतर नहीं आया - सिवाय उसके अपनी जड़ों से कटने और सदियों से बसे-बसाए जीवन के उजड़ने के। इस तथ्य को कृष्णा सोबती की अनेक कहानियाँ बड़े प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती हैं। 'सिक्का बदल गया', 'डरो मत', 'मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' और 'आज़ादी शम्मोजान की....' आदि उनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'सिक्का बदल गया' में अपनी साझा जड़ों से कटने का दर्द सि[illegible]ाहनी का ही न होकर दूर तक फैलता दिखाई देता है। ' डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा' में मिट्टी के मिट्टी में मिल जाने के

बावजूद पथराई आंखों के बीच यह विश्वास कहीं दृढ़ता के साथ चिपका रह जाता है कि रक्षा के लिए उठी ड्राइवर की स्थिर हो गई बांहें, मानवीय सद्भाव का अमिट आवासन बनकर, हमेशा उसके साथ हैं। बदीउज्जमां ने अपने संग्रह 'अनित्य' की अनेक कहानियों में बिहारी मुसलमान की उस भावात्मक पीड़ा का अंकन किया है जो अपनी जड़ों से कटकर रेत में पड़ी मछली की तरह छटपटाता है और हताश होकर फिर अपनी जड़ों की ओर लौटता है।

भीष्म साहनी की कई कहानियाँ इस सांप्रदायिक सौहार्द और मानवीय व्यवहार की गरिमा का बखान करती हैं। 'सलमा आपा', 'सरदारनी', 'जहूर बख' और ' झुटपुटा' जैसी कहानियाँ कठिन और हताशापूर्ण स्थितियों में मानवीय व्यवहार की गरिमा को सहज रूप में बचाकर रख पाने वाली कहानियों के उदाहरण हैं। परदेश में कोई भी अपरिचित इसी नेकी और सद्भाव के रिश्ते से सलमा आपा का भाई बन सकता है और तब राजनीतिक जटिलताओं और दो देशों के लंबे ऐतिहासिक विद्वेष का भी कोई अर्थ नही रह जाता है। 'जहूर बख' नाम और व्यक्ति से अधिक एक प्रतीक की हैसियत हासिल कर लेता है - सांप्रदायिक कटुता और दुर्भावना के विरुद्ध एक आम ईमानदार और संवेदनशील आदमी की नियति का प्रतीक। अपनी सुप्रसिद्ध कहानी 'अमृतसर आ गया' में भीष्म साहनी इस सांप्रदायिक उन्माद के उद्भव और विस्फोट की समूची प्रक्रिया को उद्घाटित करते हैं। गाड़ी जब रवाना होती है तो डिब्बे में वैसी कोई बात नहीं है। हंसोड़ पठानों द्वारा मरियल से हिन्दू बाबू की खिंचाई में कहीं कोई दुर्भावना नहीं है पंजाबी जीवन का बेतकुल्लफ खुलापन उनके पोर-पोर में बसा है। वे जिस तरह से बाबू से बात करते हैं, 'दालखोर' कहकर उसके दुबले होने का मजाक उड़ाते हैं वह सब उसे स्वयं भी बुरा नहीं लगता। पोटली खोलकर खाते समय वे मांस की बोटी और रोटी उसकी ओर बढ़ाकर खाने का आग्रह करते हैं ताकि वह अपनी बीवी को खुश कर सके और उसके न खाने पर हंसते हुए छिपकर खा लेने का सुझाव देते हैं ताकि किसी को पता न चले। इस सारी बातों में उनके व्यवहार का खुलापन ही प्रकट होता है। उनकी बातों से खीझकर बाद में बाबू मन में बुरा भले ही मानता हो लेकिन जाहिर तौर पर वह भी उनके साथ हँसता और मजा लेता है। बाबू के लिए कई बार 'खंजीर का तुख्म' कहना गाली न होकर तकिया-कलाम जैसा है जिसका ताल्लुक दुर्भावना से न होकर आदत से है। माला जपती बूढ़ी औरत डिब्बे में चढ़ने वाले हिंदू परिवार के प्रति सहानुभूति से विचलित हो उठती है। उस परिवार के आदमी से, जो मैले और चिकनाई आलूद हलवाई जैसे कपड़े पहने है, शहर में हुए दंगे की बात सुनकर डिब्बे में जैसे एकाएक गर्म और संक्रामक हवा का पहला झोंका

आता है। आदमी की घबराहट और बदहवासी के बावजूद पठानों द्वारा उसके परिवार को डिब्बे से उतार देने के पीछे भी सांप्रदायिक विद्वेष नहीं, सुविधा का ख्याल ही अधिक है। आवेश में आकर उस आदमी को पठान द्वारा मारी गई लात महज एक आकस्मिक क्रिया है जिसके लिए बूढ़ी औरत तक पठान की मजम्मत करती है। लेकिनं उसके बाद गाड़ी चल देने पर, शहर में दंगे में लगाई गई आग की लपटें जो गाड़ी में से दीखती हैं और जगह-जगह दंगाइयों की भीड़ का शोर डिब्बे में एक विशेष प्रकार का तनाव पैदा कर देता है। थोड़ी देर पहले का हंसी-मजाक वाला खुशनुमा माहौल एक बोझिल सन्नाटे में तब्दील हो जाता है। थुलथुल शरीर वाले सरदारजी पठानों के पास से उठकर हिंदू मुसाफिर के पास बैठ जाते हैं और नीचे बैठा हुआ एक पठान ऊपर चढ़कर अपने साथियों में जा मिलता है। डिब्बा बाकायदा 'हिंदू' और 'मुसलमान' में बंट जाता है। इसके बाद फ़िजा पर ऐसा कुछ हावी होता जाता है कि तनाव और आशंका की भाषा को आसानी से पढ़ा जा सकता है। जैसे ही हरवंसपुरा निकलता है और गाड़ी अमृतसर की ओर बढ़ती है उस मरियल से बाबू में जैसे कोई सोया हुआ जिन जाग जाता है। अब पठानों को लेकर उसकी कटुता अपनी प्रकृति मे पूरी तरह 'हिंदू' है - जैसे वह हिंदू मुसाफिर को डिब्बे से ढकेले जाने का बाकायदा बदला ले रहा हो। जब थुलथुला सरदार बाबू की प्रशंसा करता है और लेखक की टिप्पणी है.....'बाबू जवाब में मुस्कराया - एक वीभत्स सी मुस्कान और देर तक सरदार के चेहरे की ओर देखता रहा.....'[1] उसकी मुस्कान की यह वीभत्सता ही इस सांप्रदायिक उन्माद पर लेखक की अपनी टिप्पणी है।

सन् 1857 में स्वाधीनता प्रेमी भारतीय जनता की एकजुटता को जैसे-तैसे अपने निरंकुश आतंक से दबा देने के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए यह अस्तित्व-रक्षा का सवाल बन गया। उसके प्रतिनिधियों ने परिवर्तित स्थितियों में जनता को विभाजित करके राज्य करने के विचार को अधिक कारगर पाया। देश भर में बड़े पैमाने पर जातीय दंगे उनकी इसी रणनीति का परिणाम थे। अपनी इसी योजना को ब्रिटिश साम्राज्यवाद कितने स्थूल और क्रूड ढंग से क्रियान्वित कर सकता था इसके उदाहरण के रूप में बचपन की कुछ स्मृतियाँ आज भी बहुत स्पष्ट हैं। ट्रेन में सफ़र करते समय बीच में पड़ने वाले स्टेशनों पर, जगह-जगह 'हिंदू पानी', 'मुसलमान पानी' और इसी तरह 'हिंदू मिट्टी', 'मुसलमान मिट्टी' वाली इबारत के नीचे पानी के मटके और हाथ धोने के लिए मिट्टी रखी रहती थी। सांप्रदायिक दंगों के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आधिकांशतः दंगे तभी हुए और उन्हीं क्षेत्रों में हुए जहाँ स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष जोर पकडता

दिखाई देता था। साम्राज्य अंग्रेजों का हो या कांग्रेस का उनके वर्गहितों और कार्यनीति में कोई अंतर नहीं पड़ा है। स्वाधीन भारत में जब-तब सांप्रदायिक दंगे होते रहते हैं और इनकी पृष्ठभूमि में भी प्रायः वे और वैसे ही कारण होते हैं जो स्वाधीनता के लिए संघर्ष के दौर में थे। बंबई, भिवंडी, अहमदाबाद, दिल्ली, अलीगढ़ और मुरादाबाद आदि शहरों में हुए दंगे अपनी प्रकृति में एक से इसलिए हैं कि कहीं-न-कहीं वे सत्ता के निजी हितों से जुड़े हैं और प्रायः ही उनकी भूमिका विपक्षी जनांदोलन के उभार से बचने के लिए एक पूर्व नियोजित रणनीति की तरह रही है। विपक्ष में फूट डालकर राज्य करने में ही उसे अपने हित ओर अस्तित्व सुरक्षित दिखाई देते हैं। यह फूट चाहे हिंदू और मुसलमान के बीच हो, हिंदू और सिख के बीच हो या फिर असामियों और बोडो जन जाति के बीच हो - उसका उद्देश्य सब कहीं एक है। जनता की एकजुटता अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए खतरा बनकर सामने आती है और एकजुटता के इस गढ़ में सांप्रदायिक विद्वेष एक ऐसी सेंध का काम करता है जो चोर-दरवाजे से अपनी कार्रवाई करके उसके हितों और अस्तित्व को सुरक्षा की गारंटी देता दिखाई देता है। धर्म निरपेक्षता की घोषित नीतियों को एक ओर रखकर व्यवहार में सरकार अपने तात्कालिक लाभ के लिए वह सब कुछ करती है जो इस सांप्रदायिकता को बढ़ावा देता है। 'धर्म निरपेक्षता और भारतीय राज्य व्यवस्था' पर आयोजित सिंपोज़ियम की सुब्रत बैनर्जी द्वारा संपादित रपट सांप्रदायिकता के इन खतरों को विस्तार से उद्घाटित करती है और उसमें कला एवं संस्कृति के हस्तक्षेप की संभावनाओं को भी उजागर करने की कोशिश की गई है।

सांप्रदायिक उन्माद का एक दौर स्वाधीनता के पूर्व दिखाई देता है, जिसका चरमोत्कर्ष देश विभाजन और जनसंख्या की अदला-बदली के समय प्रकट हुआ, तो दूसरा दौर स्वाधीनता के बाद अनेक शहरों में हुए हिंदू-मुस्लिम दंगे तो हैं ही, दूसरे लेकिन अपेक्षाकृत लघु चरमोत्कर्ष के रूप में, सन् '84 में इंदिरा गांधी की हत्या के अवसर पर दिल्ली और दूसरे शहरों में हुए हिंदू-सिख दंगे हैं। पंजाब में आतंकवाद स्वयं सरकार की अपनी नीतियों का परिणाम था और जिस तरह उसके अपने हितों में उसे इस्तेमाल करने की कोशिश की उसमें इससे भिन्न किसी परिणाम की संभावना मुश्किल थी। दिल्ली में हुए इन दंगों की पृष्ठभूमि पर अनेक कहानियाँ लिखी गई हैं। सुरेंद्र तिवारी के संपादन में प्रकाशित 'काला नवंबर' की अनेक कहानियाँ इन दंगों की पृष्ठभूमि और मानवीय व्यवहार के विभिन्न रूप उद्घाटित करती हैं। अपनी संक्षिप्त भूमिका में सुरेंद्र तिवारी ने लिखा है....'इस संग्रह की उपयोगिता इतनी ही है कि हम उन चेहरों की पहचान करें जो हमें आदमी से पशु बनाते हैं, जो ऐसे कार्य

करते हैं जिनको स्मरण कर हमारा चेहरा खुदशर्मिंदा हो उठता है और जब हम सोचने को विवश होते हैं कि क्या हमारे इन कर्मों के लिए आने वाली पीढ़ी हमें अपराधी समझेगी ?.....'[2] लेकिन जो इस सब में लिप्त हैं वे तात्कालिकता से कुछ इस बुरी तरह ग्रस्त हैं कि भविष्य के बारे में सोचने की उन्हें कुछ ज़रूरत ही महसूस नहीं होती। दिल्ली के दंगों में जिम्मेदार व्यक्ति आज भी सत्ता में भागीदार हैं और सफलता के उन्माद में वे अपने से तीन गज दूरी पर भी देख पाने में असमर्थ हैं।....

संतोष और आशा की बात सिर्फ़ यही है कि इस विद्वेष में सामान्य जनता की न सिर्फ कोई भूमिका नहीं होती, भरसक वह पारस्परिक सौहार्द बनाए रखकर संकट के समय एक-दूसरे की सहायता भी करती है। हिंदी कहानी में सक्रिय प्रायः सभी पीढ़ियों के कहानीकारों की कहानियां इस संकलन में हैं और इन कहानियों की मूल संवेदना जिन कुछ कहानियों में केंद्रित हैं उनमें भीष्म साहनी की 'झुटपुटा', हृदयेश की 'अफ़वाहें', वीर राजा की 'अरथी', यादवेंद्रशर्मा 'चंद्र' की 'किस पर', मृदुला गर्ग की 'अगली सुबह', पुन्नी सिंह की ' शोक' और स्वयं प्रकाश की 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा है?'.... आदि का उल्लेख सहज ही किया जा सकता है। इन कहानियों में वे संदर्भ भी उभरते हैं जिन्हें लक्ष्य करके संकलन के पहले पृष्ठ पर श्रीकांत वर्मा की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। खतरा उठाकर भी सिख ड्राइवर का दूध पहुँचाना, स्त्रियों और बच्चों पर ढाए गए अत्याचार, मित्रों और पड़ोसियों की सहायता की छोटी-बड़ी कोशिशें, पीड़ित सिखों की जिजीविषा और सद्भाव बनाए रखने वाला विवेक और सबसे अधिक सत्ता के कर्णधारों की भूमिका जिसके संदर्भ में ही शायद चेहरों की पहचान कोई अर्थ रखती है - यही सब इन कहानियों में संवेदना और गहरी समझ के साथ अंकित हुआ है।

इस सांप्रदायिक उन्माद का शिकार बूढ़ा पिता एक आदमी से बहुत अधिक क्रुद्ध है। वीर राजा की 'अरथी' में उठने वाली अरथी केवल इस पिता की ही न होकर उन सारे मानवीय और प्रगतिशील मूल्यों की भी है जिनकी पहचान भी आज विरल हो चुकी है। पुन्नी सिंह की 'शोक' एक कांग्रेसी नेता के घर पर इंदिरा गांधी की हत्या पर मनाए जाते शोक के बहाने पार्टी और सत्ता के वर्ग चरित्र को ही उद्घाटित नहीं करती बल्कि इस वहशी उन्माद के मूल कारणों और उसके पीछे सक्रिय चेहरों को भी बहुत सफाई और कलात्मक निपुणता के साथ पहचानती है। व्यंग्य का ऐसा सधा हुआ उपयोग कहानी को अतिरिक्त रूप से उल्लेखनीय बनाता है। - 'शोक की दरी बिहारीजी के मकान के बाहरी बरामदे में बिछाई गई थी। एक कोने में मेज पर रेडियो

रखा गया था और दूसरे में टी.वी.।एक कोने में इंदिराजी का फोटो सजाकर रखा गया था और महात्माजी का फोटो सामने की दीवाल पर लटका दिया गया था। उसी फोटो के नीचे बिहारीजी एक मसनद के सहारे बैठे थे। सुरेश की अम्मा और मोरा भी वहीं बैठना चाहती थीं। लेकिन नहीं। बिहारीजी ने साफ मना कर दिया। शोक है तो क्या मर्जादा का ध्यान नहीं रखा जाएगा? बाहर से तमाम तरह के लोग आएंगे, उनके सामने घर की औरतों को बिठा के लोकहंसाई नहीं कराई जाएगी.....'[3] कहानी के एकदम शुरू में ही 'मर्जादा' और नैतिक-मूल्यों में अर्थ परिवर्तन के मुखर संकेतों द्वारा लेखक इस परिवर्तन की भौतिक उपलब्धियों की चर्चा करता है। पिता तांगा चलाते थे और बिहारीजी तीस साल की उम्र तक स्वयं उसी विरासत को संभाले रहे। इस विरासत में मिली ठेठें सारी मालिश-मलाई के बावजूद धोती के नीचे आज भी मौजूद हैं। लेकिन आज पार्टी के भीतर और बाहर उनका सम्मानपूर्ण आतंक है....शोक में आने वाले लोग जब उन्हें शहर में मचे हाहाकार और सिखों के मकान, दूकानें जलाए जाने की खबर देते हैं तो वे बड़े निस्पृह भाव से कहते हैं....'ये सब भगवान की लीला है। जिसको लुटना है सो लुटेगा, बचना है सो बचेगा[4] पार्टी के ही कुछ लोग जब बताते हैं कि अपने ही कुछ लोग आग में लूटजनी में शामिल हैं उन्हें रोकना चाहिए तो वे इसे उनकी जल्दबाजी बताकर वैसा करने से रोक देते हैं। शोक के लिए आने वालों में प्रायः सभी जातियों और वर्गों के लोग हैं। प्रो. गोयल जब सिखों को गाली देकर उत्तेजनापूर्ण ढंग से 'गद्दार' घोषित करते हैं तो बिहारीजी को लगता है कि शोक में हिंसा की बातें नहीं होनी चाहिए। जब बिहारीजी महात्माजी के दरबार में शोक में आए लोगों को हिंसा, लूट-पाट और विद्वेष के विरुद्ध अहिंसा और भाईचारे का महत्त्व बतला रहे होते हैं तभी उनका बेटा सुरेश पीठ पर एक सोफा लादे, लोगों के बीच से होकर घर के अंदर चला जाता है। बरामदे में बैठे लोगों में सन्नाटा छा जाता है। लोग कभी एक दूसरे को देखते हैं, कभी बिहारीजी को। कहता कोई किसी से कुछ नहीं है, लेकिन धीरे-धीरे वे खिसकने लगते हैं। दूसरी बार लड़के के मशीन लाने पर उन्हें लगता है कि साला सब अधूरा सामान ला रहा है। अगली बार कोई भारी चीज़ सुरेश के कंधे पर उठाए देखकर उन्हें तरस आता है। वे पश्चाताप भी करते हैं कि बेकार ही शोक का झमूला लेकर बैठ गए। जब सुरेश पहले झपट्टे में ही सोफा-सेट और मशीन ले आता है तो उन्हें आगे के लिए भी उम्मीद बंधती है। वर्षों से उनके मन में उसकी आवारागर्दी और निठल्लेपन के लिए जो गिला था, वह पिघलता-सा मालूम देता है। अकबर के द्वारा लूटी गई रम की बोतलों में उनकी जबरन हिस्सेदारी नैतिक दृष्टि से अकबर को एक बेहतर दलाल साबित करती है जो पड़ोसियों को लूटकर घर

भरने को एक घृणित काम समझता है। अपने ही वकील और बीस वर्ष के साथी जुनेजाजी की फ्रिज थोड़ी देर को उन्हें एक अनाम-सी नैतिक परेशानी में डाल देती है। उन पर उनके बहुत-से अहसान रहे हैं। लेकिन इस धर्म संकट से उन्हें उबारने के लिए सुरेश की मां आगे आती है। बेटा जुनेजाजी का फ्रिज पर लिखा नाम सफेदा से मिटाने का सुझाव देता है और तब उन्हें भी लगता है कि फ्रिज तो ऊपर अंदर के कमरे में रखी जाएगी - वहाँ देखने कौन जाएगा। फिर बिहारीजी जुनेजा की मृतात्मा की शांति के लिए प्रार्थना करते हैं और फिर सुरेश, सबेरे को तुम सुंदरसिंह के यहाँ चले जाना। उससे कहना, कल से शोक की दरी पार्टी कार्यालय में ही बिछेगी.....' सत्ता द्वारा नियोजित और पोषित इन सांप्रादायिक उन्माद से सिखों को दोहरा नुकसान हुआ है। एक ओर यदि उन्हें जान-माल का भारी नुकसान सहना पड़ा है तो दूसरी ओर अपने निजी स्वार्थों के लिए उन्हें राष्ट्र की मूलधारा से काट भी दिया गया है। पिछले दिनों 'हंस' में प्रकाशित तेजिंदर की कहानी 'मेरा अपना चेहरा' इस भावात्मक पीड़ा को बड़े संवेदनशील ढंग से उद्घाटित करती है।

'काला नवंबर' की कहानियों के संदर्भ में श्रीकांत वर्मा की कविता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसमें निर्दोष, गरीब स्त्रियों और बच्चों में से कुछ भी न बच पाने पर शोक प्रकट किया गया है। दिल्ली के इन्हीं दंगों की पृष्ठभूमि पर रामदरश मिश्र की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ इस वहशी उन्माद के बीच भी ऐसा कुछ बचे रहने का सोल्लास उल्लेख करती हैं जिसके अभाव में इस दुनिया में रह पाना कदाचित् असंभव होता :

उसकी आंखों में आग थी,
और हाथ में तलवार,
लोग डर कर भाग गए थे।
एक छूटा हुआ शिशु
उसे देखते ही मुस्कराने लगा।

संदर्भ

1. पटरियां और अन्य कहानियां, पृ. 33
2. काला नवंबर - भूमिका, पृ. 7
3. वही, पृ. 119
4. वही, पृ. 121

9. मन्नू भंडारी

नयी कहानी आंदोलन के संदर्भ में अपनी भूमिका को लेकर, अजित कुमार के साथ अपने साक्षात्कार में मन्नू भंडारी ने स्वीकार किया है, 'कहानी आंदोलन के केंद्र में क्या, मैं तो किनारे पर भी नहीं थी। यह महज़ संयोग की बात है कि मैंने जब लिखना शुरू किया तो 'नयी कहानी' के सूत्रधार अपने पूरे चढ़ाव पर थे। उन सभी से मेरा घनिष्ठ संबंध-संपर्क था, सो मेरा नाम भी जुड़ गया। इसे मेरी मासूमियत मत समझिए, सच्चाई यह है कि मुझे तो आंदोलन का क-ख-ग भी नहीं आता था उस समय... '[1] मन्नू भंडारी के इस वक्तव्य पर अविश्वास का कोई कारण नहीं है। घोषित और योजनाबद्ध तरीके से वह भले ही इस आंदोलन में सक्रिय न रही हों लेकिन यह सच है कि रचनात्मक स्तर पर वह इस आंदोलन और उसकी उपलब्धियों से बहुत सीधे तौर पर जुड़ी रही हैं। अपनी इस सर्जनात्मक सक्रियता के माध्यम से जुड़ने का ही परिणाम यह निकला कि वह आंदोलन की राजनीति और आंतरिक अंतर्विरोधों से अपने को मुक्त रखकर न सिर्फ यह कि अपने स्तर को बनाए रख सकी हैं वरन् विकास की नयी दिशाओं का अन्वेषण भी करती रह सकी हैं। अपने ही बहुत से समकालीनों और समानधर्माओं की रचनात्मक पंगुता के कारणों की सही समझ का परिचय भी मन्नू भंडारी ने अपने इसी साक्षात्कार में दिया है। लेखन की अपेक्षा सांसारिक सुख-सुविधाओं और पद-सम्मान की चिंता-आकांक्षा में ही बहुतों के लिए भटकाव को देखा जाना चाहिए। लेकिन इस भटकाव को देखने-समझने के लिए भी वह तत्कालीन परिवेश और सामाजिक स्थितियों को मद्दे नजर रखने की हिमायत करती हैं।

नयी कहानी के कथित सूत्रधारों की तरह, नयी कहानी के स्वरूप विश्लेषण के लिए, भले ही मन्नू भंडारी का कोई वक्तव्य उपलब्ध न हो, उन्होंने सन् 57 में प्रकाशित अपने पहले कहानी-संग्रह 'मैं हार गयी' में कोई भूमिका भी नहीं दी है, लेकिन इस संग्रह की कई कहानियाँ जहाँ घटित गुणात्मक अंतर को रेखांकित करती हैं, वहीं 'पंडित गजाधर शास्त्री' और 'दो कलाकार' शीर्षक कहानियाँ नयी कहानी के वैचारिक संघर्ष के साथ ही उसकी सामाजिक भूमिका पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। किंचित् अतिरंजना के बावजूद 'पंडित गजाधर शास्त्री' के कथाकार नायक पुरानी पीढ़ी के उन बहुत से सीमित रचनात्मक पूंजी के आधार पर कहानी के ' मैं' के रूप में एक पूरी की पूरी संभावनाशील पीढ़ी को नकारने की असफल कोशिश कर रहे थे।

अपनी एक कहानी की तुलना में 'मैं' के तीन प्रकाशित संग्रहों की ओर से वह पूरी तरह उदासीन ही नहीं बने रहते हैं, बिना देखे और पढ़े ही वह उन्हें नकारने की कोशिश भी करते हैं। उपेक्षितों और उत्पीड़ितों के प्रति संवेदनशीलता की सारी कथित और प्रचारित मुद्रा के बावजूद अपने व्यवहार और आचरण में वह क्या कुछ करते हैं यह होटल के नौकर के प्रसंग में उनकी कारगुजारी से स्पष्ट हो जाता है। रचना की महानता के नाम पर, चोर पर लिखी जाने वाली अपनी प्रस्तावित कहानी में, वह ह्यूगो के 'ला मिज़रेबल' के चोरी वाले प्रसंग को पूरे का पूरा खपा देने के बावजूद सराहना और साधुवाद की अपेक्षा रखते हैं। इसके साथ ही नारी के प्रति भोगवादी स्वेच्छाचारी रवैया और दोहरे प्रतिमानों का आग्रह उन्हें सारी वास्तविकता के साथ सामने ले आता है। वह 'मैं' में भले ही इसकी पात्रता न देखते-पाते हों कि अपनी आगामी कहानी में, जो शायद कभी नहीं लिखी जाएगी, उसे केंद्रीय पात्र की स्थिति दे सकें लेकिन 'मैं' पहाड़ से लौटकर उन्हें केंद्र में रखकर एक कहानी अवश्य लिखता है क्योंकि उन्हें मुख्य पात्र की हैसियत में रखे बिना उनके साथ न्याय कर पाना संभव नहीं था। 'पंडित गजाधर शास्त्री' यदि अस्वीकार और आलोचना की मुद्रा में पुरानी पीढ़ी के कई प्रतिनिधि रचनाकारों की भूमिका को, नयी कहानी के संदर्भ में, स्पष्ट करती है तो वह प्रकारांतर से वह स्त्री के प्रति एक परिवर्तित दृष्टि के आग्रह को भी रेखांकित करती है - एक ऐसी दृष्टि जो समग्रतः पंडित गजाधर शास्त्री वाली दृष्टि से भिन्न ही नहीं, उसकी विरोधी भी है। इसके साथ ही वह पढ़े-सुने के आधार पर 'महान' कहानियाँ बनाने का सिद्धांत रूप में विरोध करती हैं और सीधे एवं प्रत्यक्ष परिचय के आधार पर लिखने की हिमायत का संकेत देती है जिसे ही आगे चलकर, नयी कहानी का सौंदर्यशास्त्र तैयार किए जाने पर, अनुभव की प्रामाणिकता कहा गया। कहना न होगा कि 'मैं' के लिए पंडित गजाधर शास्त्री एक ऐसा ही विषय और पात्र हैं। यही कारण है कि प्रचारित घोषणा पत्र या सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतों में उलझे बिना भी 'पंडित गजाधर शास्त्री' नयी कहानी की आधारभूत विशेषताओं को रेखांकित करने के साथ ही, अतिरंजनापूर्ण होते हुए भी, पुरानी की निर्मम आलोचना का जोखिम भी उठाती है।

इसी तरह 'दो कलाकार' एक गढ़ी और बनायी हुई कहानी होने के बावजूद, जीवन में रचना और कर्म की एकता पर जोर देती है। भिखारिन की मृत्यु के बाद करुणा-प्लावित होकर चित्रा उसका चित्र बनाती है -- मृत मां की लाश से चिपके दो अबोध और अनाथ बच्चों का चित्र। फिर कला के अध्ययन के लिए वह विदेश चली जाती है जहाँ उसे इस 'अनाथ' नामक चित्र के लिए विशेष ख्याति मिलती है। लोगों को

लगता है कि एक और अमृता शेरगिल का जन्म होने को ही है। उसकी अभिन्न सखी अरुणा चित्रा के विदेश जाते समय उसे विधिवत विदा भी नहीं कर पाती है; उसकी प्रतीक्षा में आंखें बिछाये ही चित्रा को चला जाना होता है। चित्रा की वापसी पर, उसके चित्रों की प्रदर्शनी पर अरुणा से जब उसकी भेंट होती है तो उसके साथ दो सुंदर और बहुत प्यारे बच्चों को देखकर वह अभिभूत रह जाती है। भले ही अरुणा अब विवाहित हो लेकिन निश्चय ही इतने बड़े बच्चे उसके नहीं हो सकते। बच्चे बहुत प्यार और आत्मीयता से उसके साथ पेश आते हैं और बहुत बाद में चित्रा को पता चल पाता है कि ये वस्तुतः उस भिखारिन के वे ही बच्चे हैं जिनका चित्र बनाकर वह देश-विदेश में बहुत ख्याति अर्जित कर चुकी है। लेकिन रचना और कर्म का यह कृत्रिम विभाजन अंततः क्या व्यंजित करता है ? जो चित्रा अरुणा के सेवा-कर्म का मज़ाक उड़ाती रही थी, उसके कर्म के आगे अपनी सारी रचनात्मकता को लेकर वह आज बौनी-सी लगती है। जीवन में कर्म के प्रति चित्रा की तरह उदासीन रहने वाले लोग ही वस्तुतः रचना में कलावाद का सहारा लेते हैं। चित्रा के चित्र 'कन्फ्यूजन' में अमूर्तता और प्रतीक-बाहुल्य को लेकर अरुणा की टिप्पणी प्रकारांतर से नयी कहानी में घुसपैठ करती प्रतीक-बहुलता और कलावाद के विरोध में की गई टिप्पणी ही लगती है।....

नारी के प्रति जिस स्वेच्छाचारी सामंती दृष्टि के विरोध का एक हल्का-सा आभास 'पंडित गजाधार शास्त्री' में मिलता है, 'मैं हार गयी' और 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' की कितनी ही कहानियों में लेखिका अपनी स्वीकृतिमूलक दृष्टि को विस्तार देने की सजग कोशिश करती है। 'घुटन' और 'ईसा के घर इंसान' जैसी सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक वर्जनाओं के नाम पर स्त्री के अपने व्यक्तित्व के कुंठित होते जाने की कहानियाँ हैं। ' घुटन' की मोना की बढ़ती उमर और प्रेम की सुकोमल भावनाएं पेट के आगे इतनी धुंधली पड़ गई हैं कि माँ की दिनोदिन कमजोर होती आँखों से किसी भी तरह दिखाई नहीं देता। यदि विवाहिता प्रतिमा अपने विपरीत और भौंडी रुचियों वाले पति के कारण इस घुटन की शिकार है तो मोना अरूप की बांहों में आकर अपने को पीस न पाने की घुटन में कसमसा रही है। परिवार के भविष्य से जुड़ी माँ की सहज बुद्धि के कारण अरुण के साथ भाग जाने की उसकी योजना सफल नहीं हो पाती है। कमरे की उमस और घुटन से बचने के लिए जब प्रतिमा बाहर आती है तो मोना को दूर से देखने पर भी यह समझने में उसे परेशानी नहीं होती कि वह आंखों पर हाथ रखे रो रही है ...'बाहर सब कुछ शांत था - ऐसा शांत, ऐसा सन्नाटा जैसे सब कुछ डूब गया हो। पेड़ों की दीवालों की आड़ी-तिरछी काली

छायाएँ मौन भाव से लॉन पर पड़ी थीं। वातावरण की घुटन अपने चरम पर पहुंची हुई थी। और उससे भी अधिक घुटन थी प्रतिमा के मन में, जो पति की जरूरत से ज्यादा मजबूत बांहों में जकड़ी हुई तड़प रही थी मुक्ति के लिए और शायद उससे भी ज्यादा घुटन थी मोना के मन में, जो अपनी खाट पर पड़ी-पड़ी सिसक रही थी और जिसके अलसाये अंग तड़प रहे थे, कसमसा रहे थे किसी की बांहों में जकड़ जाने के लिए....'[2] 'ईसा का घर इंसान' में ये घुटन चर्च और उससे संबद्ध कॉलेज के कथित अनुशासन और धार्मिक वर्जनाओं से पैदा हुई घुटन है जो लूसी और एंजिला को कुंठा और उन्माद की अंधी गलियों की ओर मोड़ देती है। कॉलेज के ठीक सामने बनी जेल की इमारत कहानी में कुंठित और अवरुद्ध जीवन का प्रतीक बन जाती है। कॉलेज में नई आई हिंदी प्राध्यापिका रत्ना, जो कहानी की नैरेटर है, निषेध और वर्जनाओं - भरी इस दृष्टि की भर्त्सना करके सहज जीवन की स्वाभाविक ललक को रेखांकित करती है, बड़े-बड़े पतितों को जादू की किसी छड़ी से सुधार देने के लिए चमत्कार की सीमा तक ख्यात फादर के घमंड को एंजिला अंततः तोड़ ही देती है। सहज जीवन की उसकी ललक उसके उन्माद के रास्ते बाहर निकलने की कोशिश करती है। एंजिला की इस घटना से पूरे वातावरण की शांत झील जैसे एक भारी पत्थर फेंक दिए जाने से आलोकित हो उठती है। तीन दिन पहले कक्षा में, कीट्स की एक कविता पढ़ाते-पढ़ाते, एक लड़की को चूम लेने के हंगामे की शिकार लूसी भी एंजिला की घटना से मन ही मन बहुत खुश होती है। इस घटना से उत्साहित होकर तीसरे दिन ही वह भाग जाती है और जीवन के सहज प्रवाह से अपने को जोड़ लेती है।.....'एक तो चर्च जैसी पवित्र जगह, फिर लड़कियों का कॉलेज, क्या असर पड़ेगा इस घटना का लड़कियों पर!' और तब बाहर की दूषित हवा को रोकने के लिए अधिकारियों द्वारा जो उपाय किया जाता है, वह यह है... 'दो दिन बाद ही चर्च और कॉलेज के चारों ओर की दीवारें ऊँची उठने लगीं और देखते ही देखते चारों ओर से ऊँची-ऊँची दीवारें खिंच गई।[3].....' इन निषेधों और वर्जनाओं के अनुरूप जीवन को ढाल लेने की उपलब्धि भी अंततः क्या है ? 'एक कमजोर लड़की की कहानी' की रूप आखिर क्या हासिल करती है ? अपने जीवन के छोटे से छोटे निर्णय को भी वह कभी पिता तो कभी चाचा-चाची और ललित के कारण स्थगित-परिवर्तित करती रहती है। जीवन की राह पर बहुत आगे निकल जाने पर, जब वह ललित के साथ पीछे मुड़कर एक नई शुरुआत के लिए फिर जैसे-तैसे अपने को तैयार करती है तो इस बार उसके पति वकील साहब ही अपने एक पुराने मित्र की मुसीबत की कहानी सुनाकर उसके निर्णय को गड़बड़ा देते हैं। मित्र की पत्नी वही करके पति की

जगहंसाई और परेशानी का कारण बनी है जो आज रात वह ललित के साथ करने जा रही है। और तब उसका सारा निर्णय, एक पुरानी और पोली इमारत की तरह पहली बरसात में ही धड़धड़ा कर गिर पड़ता है।... 'रात का एक बजा था। रूप की आंखों से एक-एक करके आंसू टपकते जा रहे थे और उसके सूटकेस से एक-एक करके कपड़े बाहर निकलते जा रहे थे.....'[4] 'जीती बाजी की हार' की मुरला नारी की मूलभूत स्वाभाविक आकांक्षाओं के आगे परास्त होकर ही सुख महसूस करती है। संस्कारों और प्रवृत्ति के विरुद्ध किया गया लंबा संघर्ष उसे स्वयं ही अर्थहीन लगने लगता है। जीवन-भर कुंवारी रह सकने के पुरस्कार के रूप में अपनी सखी से वह उसकी बेटी को ही मांगकर ऐसे किसी पुरस्कार की निःसारता पर जैसे मुहर लगा देती है। 'गीत का चुंबन' की कनिका अपनी सहज वृत्ति से हाड़-माँस की एक जीती-जागती युवती है जो निखिल द्वारा किताबी स्त्री की भावुक परिकल्पना के विरोध में तीखा आक्रोश प्रकट करती है। इन कहानियों में मन्नू भंडारी ने पर्याप्त संयत ढंग से एक ऐसी नारी गढ़ने की कोशिश की है जो क्रमशः एक जीवंत और आत्म-सजग स्त्री के रूप में ढलती जाती है, अर्थहीन विधि-निषेधों के लिए जीवन बरबाद करने की अपेक्षा जो अपना जीवन अपने ढंग से जीना चाहती है। लेकिन अपने ढंग से जीने के लिए उसके इस आग्रह के पीछे कैसा भी स्वेच्छाचार या उच्छृंखलता प्रदर्शन का भाव नहीं है।

मन्नू भंडारी की पढ़ी-लिखी आत्म-सजग स्त्री में घटित इस परिवर्तन के संकेत 'दीवार, बच्चे और बरसात' तथा 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' में देखे जा सकते हैं। 'हार' पुरुष की सारी कल्पित उदारता के बावजूद स्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता के दुःपरिणामों की ओर संकेत करती है। 'दीवार, बच्चे और बरसात' में मुहल्ले की औरतों के जरिए, उनके अपने ही मुहावरे में, इस आत्म-सजग युवती के संकेत मिलते हैं जो रूढ़ और परंपरागत मान्यताओं की कसौटी पर कसी जाकर बहुत आसानी से कुलटा भी प्रमाणित की जा सकती है। ऐसा करने में, बतास की शौकीन वे औरतें कुछ उठा भी नहीं रखती हैं। लेकिन उन्हीं की बातों से बहुत सहज ढंग से ऐसे संकेत उभरते चलते हैं जो स्त्री की आत्म-सजगता, कलात्मक अभिरुचियों, व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास आदि के विरोध में पति को निरंकुश और दकियानूस प्रमाणित करते हैं। स्त्री का विद्रोह वस्तुतः पुरुष की सामंती दृष्टि को लेकर ही है। इस कहानी को पढ़कर ज्ञानरंजन की प्रसिद्ध कहानी 'फेंस के इधर और उधर' के प्रेरणास्रोतों का अनुमान भी सहज ही लगाया जा सकता है। बच्चों के रोने, अम्मा के चिल्लाने और भाभी की डांट-फटकार से पैदा हुए कोहराम की ओर से पूरी तरह से उदासीन, पुरानी दीवार

फोड़कर निकला छोटा-सा पौधा अपने अस्तित्व की घोषणा कर ही देता है। गिरने वाली यह दीवार वस्तुतः ईंट-मिट्टी की ही नहीं है। इससे कहीं अधिक वह सामाजिक रूढ़ियों की दीवार है, जिसे गिराकर नई रोशनी का कल्ला, सारी हाय-हाय और कोहराम के बावजूद, फूटकर बाहर आ ही गया है। 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' दर्शना की तस्वीर है जो नैना, हरीश और स्वयं दर्शना के अपने आत्मकथ्य को मिलाकर पूरी होती है। दर्शना मौसी ने आखिर ऐसा क्या कर डाला कि सगी बहन होकर भी नैना की माँ से उसे ऐसी लांछना और तिरस्कार मिलता है - वस्तुतः यह जिज्ञासा ही नैना को मरणासन्न मौसी के पास ले आई है। किस तरह क्षय-ग्रस्त पति की उन्होंने सेवा-टहल की है, उसके लिए अपने जीवन को उसने होम कर दिया है, उस सबको अनदेखा करके, हरीश के प्रति उसके सहज मानवीय आकर्षण को ही आधार बनाकर उसे कुलटा और वेश्या तक बता दिया जाता है। एक प्रबुद्ध और आत्म-सजग युवती के रूप में नैना इस रूढ़ मूल्यांकन का प्रतिवाद करती है और स्वयं अपनी माँ के विरोध में खड़ी होकर दर्शना मौसी को उसकी समग्रता में देखने और तब कोई निर्णय लेने के आग्रह को रेखांकित करती है। यही वस्तुतः प्रचार और विभ्रम से मुक्त आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि है। 'अनथाही गहराइयाँ' की सुनंदा इसी कारण गलती का एहसास हो जाने पर सामाजिक लोक-लाज और भय के कारण उसे ढांकने-तोपने की कोशिश नहीं करती है। उसके पश्चाताप और परिवर्तित आचरण में स्वीकार का असाधारण साहस है जो भलाई-बुराई के तैयारशुदा प्रतिमानों का प्रत्याख्यान करता है। यही नहीं, प्रसंगवश लेखिका ने कपड़ों और ऊपरी रख-रखाव वाली छद्म आधुनिकता पर व्यंग्य भी किया है। 'खोटे सिक्के' की लक-दक, फैशनेबुल किस्म की छात्राओं को लेकर सधे और संचय व्यंग्य का कौशल आश्वस्त तो करता ही है, मन्नू भंडारी की उस विशेषता की ओर भी संकेत करता है जहाँ अपनी समकालीन कथा लेखिकाओं के बीच वह लगभग अकेली है। यह प्रेमचंद और यशपाल से प्राप्त रचना-दृष्टि है जिसका भरपूर उपयोग, महिला कथाकारों में, चंद्रकिरण सौनरेक्सा के यहाँ मिलता है। नयी कहानी के रोमानी आत्मग्रस्तता के दौर में इस दृष्टि का समुचित विकास नहीं हो सका। मन्नू भंडारी को यह श्रेय सहज ही दिया जा सकता है कि इस रोमानी आत्मग्रस्तता से बाहर आकर अपनी प्रारंभिक कहानियों में भी, वह रचना-वस्तु के वैविध्य और विस्तार का एक प्रतिकार प्रभाव छोड़ सकने में सफल होती है। 'सयानी बुआ', 'अकेली' और ' मजबूरी' आदि कहानियों में उन्होंने वृद्धाओं की ममता और व्यापक संवेदनशीलता को केंद्र में रखा है। 'अभिनेता' और 'मैं हार गयी' में मूल्यों के ह्रास के संकेत स्पष्ट हैं। मन्नू भंडारी की

ये कहानियाँ लेखिका की सामाजिक चिंता का साक्ष्य सहज ही बन सकी हैं जो उनके परवर्ती लेखन में वृहत्त संदर्भों से जुड़ने की आकांक्षा के रूप में प्रतिफलित होती है।...

अपने समय-संदर्भों के प्रति एक अबाधित खुलापन मन्नू भंडारी की कहानियों को उनकी समकालीन कथा-लेखिकाओं से तो अलग करता ही है, बहुत से पुरुष कहानीकारों से भी अलग करता है। पूंजीवादी समाज में तेजी से उभरते और पनपते नवधनाढ्य वर्ग की मूल्यमूढ़ता के संदर्भ में नये मूल्यों के संकेत उनकी बहुत सी कहानियों में उभरे हैं। इस प्रसंग में एक और भी उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ इस दौर में आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़े बहुत से लोग रचनाशीलता से क्रमशः कट कर सर्जनात्मक अवरोध का शिकार हुए, मन्नू भंडारी उन लोगों में से हैं जिन्होंने कम लिखने के बावजूद निरंतर विकास किया है। 'मैं हार गयी' की कथालेखिका नायिका निर्धन और संपन्न दोनों वर्गों से ही अपने नायक की अपेक्षा संभावनाएँ उसे अपने विपन्न और साधनहीन नायक में ही दिखायी देती है। भले ही उसके सारे कथित नायकत्व के विरोध में उसकी आत्यंतिक गरीबी सुरसा की तरह मुँह बाये खड़ी है। जब और जहाँ भी वह अपने इस नायक को नौकरी दिलाने की कोशिश करती है, उसे अपने ही पिता के सगे-संबंधी और नाते-रिश्तेदार कुर्सियों और गद्दियों पर छाये मिलते हैं। यह नायक अपनी पूरी संभावनाओं के साथ भले ही उभर न सका हो, लेकिन शीर्षक से संकेतित इस कथा-लेखिका की पराजय की स्वीकति यह तो स्पष्ट कर ही देती है कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में उसके नियामकों से कोई आशा नहीं की जानी चाहिए। 'क्षय', 'नकली हीरे', 'सज़ा' और 'अ-लगाव' आदि कहानियाँ एक सुनिश्चित क्रम में, इस वर्तमान व्यवस्था के अंतर्विरोधों को गहराई में जाकर उद्घाटित करती हैं और ह्रासशील मूल्यों के सार्थक संकेत देती हैं।... 'क्षय' में क्षय क्या कुन्नी के पापा को ही है? यह क्षय वस्तुतः इस पूरी व्यवस्था को है जो अपने लिए चुने गए शिक्षण कार्य को लेकर कुंती के सारे आदर्शों को जर्जर कर देती है। जो काम वह अपने एकमात्र भाई टुन्नू के लिए कभी नहीं कर सकी, सिफ़ारिश और भाग-दौड़ का, पापा के आग्रह और टुन्नू के उलाहने के बावजूद, वही सब उसे दो रुपयों की ट्यूशन के लिए करना होता है। नवधनाढ्यता का फूहड़ संस्कारहीन दंभ मास्टर साहब सेठानी का सामान रिक्शे पर लदवा देता है। क्या फ़र्क पड़ता है मास्टर साहब सेठानी का सामान रिक्शे पर लदवा कर लाते हैं और वह उनके बच्चों को जूता पहनाने मोटर पर चली जाती हैं क्योंकि इस समय सेठानी अपनी गरज में बावली हैं - उन्हें अपनी बेटी सावित्री को दसवीं कक्षा तक पहुँचाना ही है ताकि ऊँची जगह तय

किया हुआ रिश्ता हो सके। कुंती अकेले ही बहुत से मोर्चों पर लड़ती है - स्कूल की नौकरी, टुन्नू का भावात्मक लगाव, पापा की संक्रामक और महंगी बीमारी और सबसे अधिक सावित्री की ट्यूशन। शिक्षा के पवित्र क्षेत्र में समझौते पर भ्रष्टाचार के लिए जो कुंती, टुन्नू के प्रसंग में, पापा को दृढ़ता से बरज चुकी है, धीरे-धीरे वह वे ही सारे समझौते करती चलती है क्योंकि क्षय की तर्कातीत संक्रामकता किसी के साथ रू-रियायत नहीं बरतती। पापा की खांसी से कहीं अधिक संक्रामक इस क्षय के कीटाणु हैं, और न चाहते हुए भी उसे लगता है कि वह पूरी तरह से उसकी गिरफ्त में आ चुकी है। सेठानी के आग्रह पर सावित्री की सिफ़ारिश के लिए उसके स्कूल जाने पर अपने प्रति बरती गई उपेक्षा से अधिक पीड़ा उसे अपने पतन और परिवर्तन पर होती है। चपरासी से पानी माँगकर पीते समय पूरा गिलास वह एक बार में ही खाली कर देती है और पता नहीं जल्दी पीने के कारण या क्यों देर तक उसे जोर की खांसी आती रहती है। उसका मुंह लाल हो जाता है और आंखों से पानी निकलने लगता है। बड़ी मुश्किल से एक हाथ छाती पर दबाए और दूसरे से रूमाल मुंह पर रखे वह गाड़ी की ओर बढ़ती है.... 'एकाएक कुंती को लगा कि उसकी यह खांसी, यह खोखली आवाज, पापा की खांसी से कितनी मिलती-जुलती है .... हू-ब-हू वैसी ही तो है! सहमकर उसने गाड़ी के शीशे में देखा, कहीं उसके चेहरे पर भी तो वैसा कुछ नहीं जो उसके पापा के चेहरे पर.....'[5] 'नकली हीरे' की मिसेज़ सरन भी इस नवधनाढ्य संस्कृति की पोषक हैं जो, अपनी मर्जी से एक मामूली मास्टर से शादी कर लेने के कारण विवाह के बाद पहली बार आ रही अपनी छोटी बहन इंदु को लेने स्टेशन इसलिए नहीं जाती क्योंकि इससे उनकी हैसियत और पोजीशन बिगड़ने की आशंका है। नौकर और ड्राइवर के सामने थर्ड या हद को सेकिंड क्लास के डिब्बे से मामूली कपड़ों में उतरने वाली बहन क्या उसकी हैसियत नहीं बिगाड़ेगी? लेकिन हैंडलूम की मामूली साड़ी और आभूषणों के नाम पर मात्र एक मंगलसूत्र पहनने वाली इंदु घर में घुसते ही उनसे गले लिपटकर वही दृश्य खड़ा कर देती है जिसे अब तक बड़ी सतर्कता से वह बचाती रही थीं। लेकिन इंदु और मिसेज़ सरन तथा उनकी क्लब की सखियों की रुचियों, संस्कारों और सोच का विसादृश्य धीरे-धीरे जिस ढंग से उभरता है, उससे अंततः मिसेज़ सरन को सत्तर हजार का हीरों का हार भी व्यर्थ और बेमानी लगने लगता है - बिलकुल सादे काँच के टकड़ों के हार जैसा। बंबई में पति द्वारा खड़ी की गई तीन-तीन मिलों का सुख ट्रंक पर पति के अनिता मेमसाब के साथ डांस पर जाने की सूचना से मोम की तरह पिघलकर बह जाता है। अपने पति के प्रति इंदु का पारस्परिक आकर्षण, जौहरी की दूकान पर मिसेज़ सरन के आग्रह पर हीरों के हार देखने के बदले उठकर सामने किताबों की दूकान में उसका चला जाना और

और फाथत सासारिक वैभव और संपन्नता को ठुकराकर अपनी इच्छा से अपने जीवन-साथी के चुनाव का सुख इंदु को एक ऐसी जागरूक और जिम्मेदार युवती के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो मूल्यों के भयावह ह्रास की स्थिति में नए मान-मूल्यों का सार्थक संकेत बनकर सामने आती है। अपनी और वैभव के फूहड़ प्रदर्शन की आड़ में इंदु के प्रति दिखाई गई उनकी शाब्दिक सहानुभूति इंदु के लिए ही नहीं, अंततः उनके अपने लिए भी अर्थहीन लगने लगती है। बहुत थोड़े समय में ही अपनी आस्था और आचरण से इंदु ने उन्हें वह महसूस करा दिया जो वैसे शायद वह जिंदगी में कभी नहीं कर पातीं। ' सज़ा' में अपनी सारी ईमानदारी के बावजूद सजा क्या घूसखोरी में सजा पाए पापा को ही मिलती है? बाद में निर्दोष माने जाकर उस सजा से वह बरी भी हो जाते हैं लेकिन पूरे परिवार और आत्मीय संबंधियों को इससे जो सजा मिलती है उससे कौन-सा कानून बरी कर सकता है?... इन कहानियों में लेखिका किसी वैकल्पिक व्यवस्था का संकेत न देकर केवल समाज की बनावट, उसके जटिल अंतर्विरोध और पूंजीवादी व्यवस्था की विकृतियों को ही उद्घाटित करके रह जाती है। लेकिन किसी स्पष्ट विकल्प के बिना भी इस व्यवस्था के बदलाव की आकांक्षा यहाँ स्पष्ट है। 'तीसरा हिस्सा' अस्तित्व के लिए सारे विवश समझौतों के बावजूद ऐसा कुछ खास अपने लिए बचाए रखने की कोशिश और इच्छा का प्रतीक है जिसे पत्नी या बॉस कोई भी छू नहीं सकता। अपने इसी तीसरे हिस्से को शेरा बाबू बहुत एहतियात से बचाकर रखे रहे हैं, एक पत्रिका शुरू कर सकने के सपने के साथ, जिसमें वह अभी भी भ्रष्ट नेताओं और नौकरशाही के तिलिस्म को तोड़ने की आकांक्षा पाले हुए हैं। 'तीसरा हिस्सा' से 'अ-लगाव' तक की यात्रा वस्तुतः आकांक्षा से कर्म की दिशा में एक सार्थक संतरण का उदाहरण है। सुमेरा के मुँह से बिसेसर के आत्महत्या करने के कारण नरक भोगने की बात सुनकर हीरा के कलेजे से निःश्वास निकलता है और वह धीरे से कहता है, 'का बतायी उसकी तकदीर में शायद नरक ही लिखा रहा था। मरने के बाद भी अब नरक ही भोगेगा हमारा बिसेसर...'[6] मरने के बाद नरक भोगेगा या नहीं, यह अलग बात है लेकिन अपनी जिंदगी में वह नरक भोगता रहा, यह हीरा की टिप्पणी से साफ है। इंदिरा सरकार ने युवा राजनीतिकर्मियों के साथ नक्सलवाद के नाम पर जो सलूक किया, उसकी एक संक्षिप्त झांकी मेरा टाइलर की आपबीती में मिल जाती है। बिसेसर के साथ भी वही सब कुछ होता है - अर्थात् चार साल बिना मुकदमे के ही उसे जेल में रखा जाता है। जेल से लौटकर उसके हाथ-पैर से खून टपकता था क्योंकि इस पूरे समय उसके हाथों-पैरों से हथकड़ी-बेड़ी खोली ही नहीं गई थी। उसका पाचनयंत्र पूरी तरह बिगड़ चुका था।

उसका गुनाह केवल यह था कि बेगार, कम पगार या जरूरत से अधिक सूद के विरोध में वह हरिजन टोली में चलने वाली पाठशाला में लोगों को वस्तुस्थिति समझाने की कोशिश करता था। अपने इस काम के लिए उसे पागल और सिरफिरा घोषित किया जाता है। उसकी हत्या हमारी वर्तमान राजनीति और उसके नियामकों पर तीखी और सार्थक टिप्पणी है। चुनाव का मौका होने के कारण प्रदेश के मुख्यमंत्री भी इस हत्या में दिलचस्पी लेते हैं। पुलिस उन्हीं की बिछायी बिसात पर अपनी शतरंज खेलती है। गाँव के अशिक्षित हों या शहर के शर्मा और अखिलन जैसे युवक जो अपने शोध-प्रोजेक्ट के लिए गाँव आते हैं लेकिन सच्चाई को कमिट करने या उस पर टिप्पणी करने को अपने कार्य क्षेत्र से बाहर समझाते और बताते हैं ! समाज में गहरे पैठी इस असंलग्नता और अ-लगाव का ही परिणाम यह होता है कि नेता और पुलिस अपना समीकरण सफलतापूर्वक बनाए रख पाने में सफल होते हैं और जिनके हक़ की लड़ाई बिसेसर लड़ता रहा, वे ही सब कुछ जानते-समझते हुए भी कुछ करना नहीं चाहते। कहानी में बिसेसर के क्रियाकलापों और उसकी समूची सोच को उसकी अनुपस्थिति में, पुलिस की कथित तफ्तीश के जरिए उभार कर, बड़े कलात्मक और विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया जा सका है। मध्यवर्गीय जड़ता और कर्म के निषेध पर 'अ-लगाव' एक बेहद तीखी टिप्पणी जैसी है।....

थोड़ा आश्चर्यजनक लगते हुए भी यह सच है कि नारी-मन की अनथाही गहराइयों को थाहने तथा नारी को उसकी अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किए जाने के आग्रह के बावजूद मन्नू भंडारी ने प्रचलित अर्थ वाली प्रेम-कहानियाँ बहुत कम लिखी हैं। अपनी पीढ़ी में कदाचित् वह अकेली लेखिका हैं जिन्होंने नारी का विभिन्न पारिवारिक रिश्तों और व्यापक सामाजिक संदर्भों में अंकित किया है। उनके यहाँ दादी, माँ, बुआ, पत्नी, पुत्री और प्रिया आदि के विविध रूपों में स्त्री मिलती है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों और सामाजिक स्थिति के प्रति सजग होती युवती को बेशक मन्नू भंडारी ने बहुत ममता से गढ़ा है लेकिन वह अपने में कहीं भी अकेली न होकर विभिन्न पारिवारिक-सामाजिक संदर्भों में ही अपने होने को सार्थक करती है। एक भिन्न प्रसंग में मन्नू भंडारी ने लिखा है, 'आज नारी अपने को हर स्थिति में मिसफिट महसूस करती है क्योंकि उसका विकास समाज के स्वस्थ संदर्भ में न होकर अभी तक समस्या के रूप में ही हुआ है। किसी को हमेशा समस्या के ही रूप में देखते रहना यों भी नॉर्मल नहीं रहने देता, क्योंकि वह देखना डॉक्टर का देखना है, जहाँ व्यक्ति केवल विभिन्न बीमारियों को अभिव्यक्त करने का माध्यम भर होता है। मैं समझती हूँ कि नारी अलग खड़ी हुई कोई ऐसी थ्योरम या प्रॉब्लम नहीं है, जिसे चार आदमी बैठकर हल कर लेने

का संतोष पाए। यदि समाज के प्रति उसके कर्त्तव्य और अपेक्षाएँ पुरुष के ही समान हैं, तो उसकी कोई समस्या अकेली उसकी अपनी समस्या नहीं है, वरन् समग्र जीवन की समस्या है। एक दूसरे के लिए समान रूप से समस्या और समान हल होते हैं।....'[7] इसी आग्रह के कारण मन्नू भंडारी अपनी कहानियों में नारी के पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अंकित करती हैं। कहानी विशेष के संदर्भ में उसके लिए प्रयुक्त कोई भी सामाजिक-पारिवारिक संज्ञा उसका एक अंश मात्र होती है, उनकी पूरी नारी उन विभिन्न संदर्भों को जोड़ने और मिलाने से ही बनती है। 'संख्या के पार' और 'रानी मां का चबूतरा' की स्त्रियाँ केवल माँ हैं जो किसी के साथ भाग जाने या ऊपरी गाली-गलौज के बावजूद अपनी संतान के लिए गहरी ममता रखती हैं जो कभी-कभी फल्गुधारा की तरह बहुत आसानी से दिखायी नहीं भी दे सकती। 'संख्या के पार' में प्रमिला की भागी हुई माँ सारे लांछन और दुत्कार के बावजूद उससे मिलने और उसे देखने के लिए तब तक रुकी रहती है जब तक वह सचमुच उससे मिल नहीं लेती है। ससुर समझते हैं कि वह रुपया वसूलने के लिए यह सारा नाटक कर रही है जबकि वह उनके दिए एक के आगे चार बिंदुओं वाली राशि के चेक को देखती भी नहीं। अपने कपड़ों में से निकाला गया पाँच रुपये का मुसा-मुसाया नोट प्रमिला को थमाकर वह चली जाती है। 'रानी माँ का चबूतरा' की गुलाबी हाड़-तोड मेहनत से अपने बच्चों को पालती है। कैसी भी सहायता को वह भीख समझती है जिसे किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं करती। बच्चों को कोठरी में बंद करके काम पर जाने और गाहे-बगाहे लड़की की मार-पीट को लेकर मुहल्ले वालों की शाब्दिक सहानुभूति का उत्तर गुलाबी हमेशा ही खरखरे ढंग से देती है - गाली-गलौज की सीमा तक पहुँचकर। ऐसा नहीं है कि 'शिशु-सुरक्षा केंद्र' के महत्त्व को वह समझती नहीं लेकिन उसके लिए भी पाँच रुपए वह अपनी कमाई से ही इकट्ठे करना चाहती है और जब वह ऐसा नहीं कर पाती है, उसे लेकर वह कटु बनी रहती है। एक दिन बेहोशी की हालत में जब उसे घर लाया जाता है तो उसके कपड़ों से कुछ और मामूली चीजों के साथ 'शिशु सुरक्षा केंद्र' की पाँच रुपए वाली रसीद भी निकलती है। 'नशा' की आनंदी मूलतः एक पत्नी है जो सिलाई-पिसाई करके भी अपने शराबी पति को, लड़के बहू से छिपाकर, रुपए भिजवाती है - अपनी बीमारी की हालत में भी 'नशे की आदत केवल उसके पति को ही नहीं है, उसकी माँगों को पूरा करना जैसे उसका अपना नशा भी है।' 'बाँहों का घेरा' की कम्मो पत्नी है, चौबीस बरस की जवान और सुंदर युवती, जो व्यापारी पति के कारण, उसके एक बच्चे की माँ हो जाने पर भी, अतृप्त ही बनी रही है। उसके जीवन की यह लालसा कभी पूरी नहीं हो सकी कि वह

किसी की सबल बांहों के घेरे में अपने की पीस दे। पति इस ओर से एकदम उदासीन, शेयर मार्केट के उतार-चढ़ाव, तेजी-मंदी को लेकर व्यस्त है। प्रथम यौवन का उसका प्रेम और शैलेन के पत्रों की स्मृति उसकी अतृप्ति को बढ़ाते हैं। जेठ की लड़की और उसका मंगेतर कुछ समय को आकर जैसे उसकी आग को और कुरेद देते हैं। सब ओर से निराश होकर वह अपने दो साल के पुत्र की बांहों के घेरे में ही अपने को भुला देने की कोशिश करती है। अपनी उद्वेलनकारी अतृप्ति के कारण जो कम्मो कई दिन से सो नहीं सकी है, जेठ की लड़की और उसके मंगेतर के कारण, वह डरे हुए शोन को चिपटा कर लेटते ही सो जाती है - 'किसी तरह वह चुप तो हुआ पर घिघियाया हुआ कम्मो से ही चिपटा रहा। कम्मो सोई तो वैसे ही गले में बांहें डाले शोन उसकी छाती से लिपट कर ही सोया... लेटने के थोड़ी देर बाद ही कम्मो की आँख लग गयी' ... [8] 'स्त्री-सुबोधिनी' में उन लोगों को लेकर गहरे तक छीलने वाला व्यंग्य शुरू से आखिर तक बना रहता है तो अपनी पत्नी को घर की दीवारों में सुरक्षित छोड़कर स्वयं मनमानी करने को स्वतंत्र हो जाते हैं और फिर स्त्री की यह कथित सुरक्षा अनजाने ही एक गहरी जड़ता में बदल जाती है - 'मैं उसकी बीवी को त्रस्त करने गयी थी, पर खुद त्रस्त और परस्त होकर लौटी। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि यह औरत है या माँस का लौंदा? इसका आदमी तीन साल से एक दूसरी लड़की के साथ मस्ती मार रहा है और इसे न कोई तकलीफ़ न कष्ट। इसके शरीर पर चमडी लिपटी है या गेंडे की खाल? यह तो मुझे बहुत बाद में अपने अनुभव ने सिखाया कि अधिकतर शादीशुदा औरतें ऐसी होती हैं, जिन्हें अपने घर की दीवारों से बेशुमार लगाव होता है। इतना ज्यादा कि धीरे-धीरे उन दीवारों को ही अपने शरीर के चारों ओर लपेट लेती हैं। फिर मान-अपमान के सारे हमले उनसे टकराकर बाहर ही ढेर हो जाते हैं और वह उनसे बेअसर सती-सावी सी भीतर सुरक्षित बैठी रहती हैं।'[9] 'आते-जाते यायावर' की मिता-मीताली एक ऐसा आत्म-सजग और प्रबुद्ध युवती है जो कृत्रिम दुलार और छद्म आधुनिकता की वास्तविकता को समान रूप में समझती है। अपने-अपने ढंग से ये दोनों चीजें ही स्त्री के भटकाव और शोषण के माध्यम रहे हैं। इसीलिए चाहे मृणाल दी के पति हों या नारी से अपने अंतहीन संपर्कों के कारण अपने को जिप्सी समझता नरेन, वह दोनों से ही अपने को बचाती है। उसके लिए ये और ऐसे दूसरे सारे लोग यायावर हैं जो उसके जीवन के किनारों को छूकर लौट जाते हैं - अपने किनारों के अंदर किसी गहरी शांत झील की तरह वह वैसी ही सुरक्षित और अनछुई बनी रहती है।....

मन्नू भंडारी की प्रेम-कहानियों में, प्रचलित अर्थ में, जिन कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है, उनमें 'यही सच है', 'एक बार और' तथा 'ऊँचाई' प्रमुख हैं। इन कहानियों के संदर्भ में सबसे मुख्य बात यह है कि महज़ आक्रामक या बोल्ड होने के लिए वे अकारण शोखी से काम नहीं लेती हैं। ये कहानियाँ विचार और संवेदना का एक ऐसा घोल प्रस्तुत करती हैं जिसके तत्त्वों को, वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए भी, अलग करके देख माना खासा मुश्किल काम है। इन कहानियों में प्रथम प्रेम की उत्कटता और आवेग-संकुलता को वह विशेष महत्त्व देती दिखाई देती हैं। इसके लिए नायिकाएँ अपने सुनिश्चित और सुरक्षित वर्तमान को भी दाँव पर लगा देने में संकोच नहीं करती हैं। ये कहानियाँ नैतिक - अनैतिक के सवाल से उतना नहीं टकरातीं जितना एक परिस्थिति विशेष के अंतर्द्वंद्व को अंकित करती हैं। संयोग से इन तीनों ही कहानियों की नायिकाओं के जीवन में दो पुरुष हैं, जिनमें से किसी को लेकर भी, मात्र सती-साध्वी समझी जाने के लिए, वे अपने को छलती नहीं है। इनमें 'यही सच है' का वैचारिक आधार अपेक्षाकृत कमजोर है। यहाँ दीपा का अंतर्द्वंद्व ही प्रमुख है जो अलग-अलग क्षणों में निशीथ और संजय दोनों को ही सच के अतिरिक्त कुछ और मानने से इनकार कर देती है। दीपा संजय के संपर्क में आकर निशीथ को एक तरह से भूल गई थी। कारणों का बहुत स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी वह उसके प्रति काफी कटु है। कानपुर में वह रिसर्च कर रही है और संजय को लेकर शीघ्र ही नए जीवन की शुरुआत की सोचती है। लेकिन एक इंटरव्यू के सिलसिले में कलकत्ता जाने पर उसकी इच्छा के विरुद्ध निशीथ से उसकी अचानक ही भेंट हो जाती है। उसके नए संपर्क और इंटरव्यू के सिलसिले में मिली सहायता के क्रम में अपने प्रति उसके गहरे लगाव को देखकर उसे उसके साथ का पिछला समय याद हो आता है। इन नयी भेंटों से वह कल्पना में बहुत कुछ देखती सोचती रहती है और निशीथ के कोई पहल न करने पर पीड़ित भी होती है। निशीथ उसे भूला नहीं है, यह इसी से स्पष्ट है कि तीन साल बाद भी वह अकेला है और दीपा के कलकत्ता आ जाने की संभावना उसे नए उत्साह और उमंगों से भर देती है। निशीथ के इस नए संपर्क से वह यह सोचे बिना नहीं रहती है कि जीवन का पहला प्यार ही वस्तुतः सच्चा है, वास्तविक है। संजय के प्रति प्यार से अधिक वह कृतज्ञता-बोध से बंधी है क्योंकि उसने उसे ऐसे समय में सहारा दिया था जब निशीथ की ओर से हताश होकर वह टूट जाने की स्थिति में आ चुकी थी। निशीथ से मिलने के बाद कल्पना में संजय को संबोधित करके वह कहती है, 'पर प्यार की बेसुध घड़ियां, वे विभोर क्षण, तन्मयता के वह पल जहाँ शब्द चुक जाते हैं .... हमारे जीवन में कभी नहीं आए। तुम्हीं बताओ, आए

कभी? तुम्हारे असंख्य आलिंगनों और चुंबनों के बीच भी, एक क्षण के लिए भी तो मैंने कभी तन-मन की सुध बिसरा देने वाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया ? आज यह बात जान गयी हूँ कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है। बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास मात्र होता है!'...[10] कानपुर लौटकर संजय के बाहर होने की खबर से उसे राहत मिलती है कि इस बीच वह अपने को संभाल सकेगी। लेकिन संजय के लाए रजनीगंधा फूलों के बिना सूना फूलदान उसके मन के सूनेपन को और भी बढ़ा देता है। संजय की अनुपस्थिति का लाभ लेकर वह अपने को सहेज पाए, इसके पहले ही निशीथ का एक पत्र उसे मिलता है - नियुक्ति और मेहनत की सफलता पर बधाई का पत्र - जिसकी सूचना इरा के तार से वह पहले ही भिजवा चुका है। लौटकर संजय उसे गुमसुम देखकर सोचता है कि शायद कलकत्ता वाली नौकरी न मिल पाने के कारण ही इसकी ऐसी हालत है। संजय को सामने देखकर वह उसे यों अचानक चले जाने का उलाहना देती है और अनायास ही उसकी आंखों के आंसू बह चलते हैं... 'पर मुझसे कुछ बोला नहीं जाता। बस मेरी बांहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगंधा की महक धीरे-धीरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के अधरों का स्पर्श महसूस करती हूँ, और मुझे लगता है कि स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सच है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था' .... हम दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बंधे रहते हैं - चुम्बित-प्रतिचुम्बित!...[11] नैतिक-अनैतिक से परे वह वस्तुतः वर्तमान को पकड़ और भोग लेने वाला वह क्षणवादी दर्शन है, अस्तित्ववाद के अंतर्गत जिसके महत्त्व को खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया गया है। अतीत और भविष्य से कटकर दीपा पूरी तरह से इस वर्तमान को ही समर्पित है, इसलिए जो भी उसके सामने होता है, वह निशीथ हो या संजय, वही एकमात्र सच लगता है। लेकिन जीवन को इस निर्णयहीनता और अंतर्द्वंद्व के सहारे ही तो नहीं बिताया जा सकता। कहानी इस दिशा में दीपा के सोच पर कोई प्रकाश नहीं डालती है। विचार के स्तर पर दीपा एक बेहद दुर्बल स्नायुओं की युवती है जो मन्नू भंडारी की दूसरी नायिकाओं से मेल नहीं खाती।.... 'एक बार और' की बिन्नी और कुंज के बीच औपचारिकता ऐसे पसर जाएगी, कुंज का साथ यों भारी लगेगा, यह क्या कभी सोचा जा सकता था? लेकिन यह सच है और इसका प्रमाण उसकी अप्रत्याशित वापसी है। कुंज के साथ वह कई दिन रहने का कार्यक्रम बनाकर आयी थी, उसके पास से उसे कल ही चला जाना होगा, किसने सोचा था। मधु का पत्र कुंज ने शायद बिन्नी को दिखाने के लिए ही ड्रेसिंग टेबल पर छोड़ दिया था जिससे वह सारी स्थिति स्वयं समझ ले। उसके बाद

कुंज का स्पर्श उसे सर्द और नितांत अनुभूतिहीन लगने लगता है।... 'यह स्पर्श...होश संभालने के बाद पुरुष-स्पर्श से उसका परिचय इस स्पर्श ने ही कराया था। इसी स्पर्श ने भीतर तक गुदगुदाकर और रोम-रोम में बसकर उसे उठते यौवन का एहसास कराया था। आज एकाएक ही कितना अपरिचित हो उठा है यह स्पर्श - सर्द और निर्जीव.... [12] इसके बाद कुछ अपने को सहेजने के लिए और कुछ सुषमा तथा दिनेश भैया के आग्रह के कारण वह नंदन के संपर्क में आती है। नंदन से मिलने जाने के लिए चंदेरी की चटक बैंगनी बार्डर वाली हलकी पीली साड़ी उसे सुषमा ने ज़िद करके पहना दी थी.... बहुत पहले मेरठ में कुंज से मिलने जाते समय भी अपनी चीजें ऐसी ही ज़िद करके पहना देती थी.... सुषमा के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता, वह कुंज हो या नंदन... लेकिन उसके लिए? ... वस्तुतः यह सवाल ही उसे कुंज से दूर जाने के बाद भी दूर नहीं होने देता। हर बात में, नंदन के सामने होने पर, अनजाने ही वह कुंज को उसके आमने-सामने रखकर देखे बिना नहीं रह पाती। कुंज ने जो सांचा बना दिया है, उसे तोड़ पाना तो मुश्किल है ही, किसी दूसरे को उसमें फिट कर पाना भी उतना आसान नहीं है। इसीलिए नंदन के विदा होने पर पेड़ की आड़ में खड़ी बिन्नी उसे जाते देखती रहती है। अंधेरे में उसकी आकृति एक बड़े धब्बे में बदलकर धूमिल और छोटी होते-होते पेड़ों के झुरमुट में अदृश्य हो जाती है... 'सड़क के दोनों ओर दूर-दूर तक मैदान फैले थे। सिरे के ऊपर साफ नीला आकाश तना हुआ था जिन पर सप्तऋषि मंडल का प्रश्नवाचक दिप्-दिप् करके चमक रहा था।...'[13] सप्तऋषि मंडल का दिप्-दिप् चमकता यह प्रश्नवाचक क्या बिन्नी के भविष्य पर लगा प्रश्नवाचक भी नहीं है, क्योंकि अपनी इच्छा और दूसरों के आग्रह के बावजूद कुंज को अनहुआ करके वह नंदन के प्रति वैसी उत्कटता और आवेशजनित उत्साह नहीं दिखा सकी जैसा उसे दिखाना चाहिए था?.....' ऊँचाई' की शिवानी ग्यारह वर्ष बाद अतुल से मिलती है। पुरी में अचानक हुई यह भेंट क्रम को आगे भी बढ़ाती है। शिवानी अब विवाहित है, माँ है। लेकिन अतुल को उसके निर्जन बांधवहीन घर में अकेले देखकर उसे पीड़ा होती है। क्या वह इतने बरसों उसके कारण ही रुका बैठा रहा है? प्रिटी को हॉस्टल में छोड़कर वह दूसरी बार भी इलाहाबाद उतरकर अतुल के पास पहुँच जाती है, काफी कुछ उसे हतप्रभ करती हुई। घर की इस निर्जनता और अपने अकेलेपन को लेकर पूछे गए सवाल के उत्तर में अतुल इससे अधिक कुछ नहीं बोल पाता.... 'सब कुछ होता है शीनू.... सब कुछ होता है.... पर उससे क्या... उससे...' और तब शिवानी कहती है...'मेरे प्यार की लाश ने तुम्हें जीती-जागती लाश बना दिया है, मेरा प्यार ही तुम्हें नया जीवन भी देगा... मेरे इस अधिकार को मुझसे

कोई नहीं छीन सकता है...'[14] ऐसा करके वह अपने पति शिशिर को न तो धोखा देती है और न ही पीड़ा पहुँचाना चाहती है। वह सिर्फ अपने को पीड़ा से बचाना चाहती है - दूसरे आदमी के उसके कारण टूट जाने के अपराध-बोध की पीड़ा से। अतुल के पत्र से सारा कुछ मालूम हो जाने पर शिशिर को एक संस्कारगत धक्का लगता है। वह बर्दाश्त न कर पाने के कारण घर छोड़कर चला जाता है। अपने का सहेज लेने के बाद वह आशा करता है कि शिवानी अपने किए पर पश्चाताप करेगी और क्षमा मांगेगी। पर ऐसा कुछ नहीं होता.... 'शिशिर के कान एक मर्म-विदारक सिसकी सुनने के लिए और उसकी बांहें शिवानी की निर्जीव देह को संभालने के लिए अधीर हो रही थीं। पर वैसा कुछ नहीं हुआ - न शिवानी रोई, न कटे पेड़ की तरह उसकी बांहों में ही आ गिरी। उसने बिना पलक उठाए केवल इतना ही कहा, यदि हमारे संबंधों का आधार इतना छिछला है, इतना कमजोर है, कि हलके झटके को भी संभाल नहीं सकता तो सचमुच उसे टूट ही जाना चाहिए...'[15] और तब वह सचमुच नहीं टूटता क्योंकि अब आगे का संबंध नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्वीकृति और पारस्परिक समझदारी का आधार पा लेता है। गरम पानी के कुंड में डाले गए पैर की तरह एक-दो बार पानी गरम लगता है, फिर आराम मिलने लगता है और सारी थकान मिटने लगती है।... मन्नू भंडारी की इन कहानियों को नैतिक-अनैतिक की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। परंपरागत रूढ प्रतिमानों को आधार बनाकर इनका मूल्यांकन करने पर आसानी से इन नायिकाओं को कुलटा घोषित किया जा सकता है। लेकिन इन कहानियों का महत्त्व इसमें है कि ये नारी-मन के अंतर्द्वंद्वों और सोच को बड़ी बेबाकी और गंभीरता से उद्घाटित करती हैं। न वे स्त्री के आगे पुरुष को हीन और छोटा साबित करती हैं और न ही प्रेमी के आगे पति को। ये बड़े संयत और संतुलित ढंग से नारी को उसके पूरी पारिवारिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखती हैं और भरसक उसकी सोच और आचरण की एकता पर बल देती है। अपने प्रथम प्रेम के प्रति प्रगाढ़ता और उत्कटता का भाव इनमें पूरी तरह सुरक्षित है।

मन्नू भंडारी के संदर्भ में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अपनी समकालीन महिला कथाकारों की ही नहीं, बहुत से पुरुष कहानीकारों की तुलना में भी उनकी कहानियाँ भावुकता और रोमानी आत्म-ग्रस्तता से प्रायः मुक्त हैं। उनकी भाषा बेहद पैनी और तराशदार है जिसकी सादगी ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। अपने कथ्य के अनुरूप ही वह काव्य उपकरणों के गैरज़रूरी इस्तेमाल से बचती हुई चलती हैं। वह व्यर्थ की शोखी और प्रदर्शन-प्रियता से भी अपने को बचाती हैं, जिसके कारण ही परवर्ती दौर की बहुत-सी लेखिकाएँ बोल्ड समझी जाने का भ्रम बनाए रखना चाहती

हैं, अपनी सारी सादगी के बावजूद अर्थ-संकेतों की दृष्टि से बेहद सक्षम होना ही इस भाषा की प्रमुख विशेषता है। व्यंग्य का इतना संयत और कलात्मक इस्तेमाल तो इस दौर के बहुत कम कहानीकार कर सके हैं।... लेकिन इस दौर के प्रभावों से अपने को पूरी तरह बचा पाना मन्नू भंडारी के लिए भी हमेशा संभव नहीं हो सका है। कुछ कहानीकारों में शिल्प संबंधी प्रयोगों के प्रति अकारण मोह इस पूरे दौर की ही प्रमुख प्रवृत्ति रही है। 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' में दर्शना की डायरी के अंश या 'यही सच है' में शहरों के आधार पर खंडों का विभाजन आदि इसी प्रभाव के उदाहरण हैं। 'कील और कसक' में आरोपित प्रतीक-विधान का आग्रह भी स्पष्ट है। घर छोड़ते समय रानी के तांगे पर बैठने पर तांगे में कील को होना ही था ताकि कैलाश के विसादृश्य में शेखर के, ऐसे ही एक अवसर पर, रूमाल बांधने वाले दृश्य की याद करके रोया जा सके। कैलाश समझता है कि वह कील की चोट से रो रही है जबकि चोट कील से ज्यादा कसक की है!... लेकिन यह कुछ अपवाद मात्र हैं। सामान्यतः इस दौर में प्रयोग चेतना के कलावादी अतिरेक के विरोध में मन्नू भंडारी की कहानियाँ आज भी एक जरूरी साक्ष्य की तरह उपयोग में लाई जा सकती हैं।....

संदर्भ

1. 'त्रिशंकु' में संकलित, मन्नूजी के तमाम रंग, पृ. 17
2. तीन निगाहों की एक तस्वीर, पृ. 85
3. मैं हार गयी, पृ. 23
4. वही, पृ. 67
5. यही सच है, पृ. 26
6. त्रिशंकु, पृ. 176
7. नयी कहानियाँ, मई 1963, मन्नू भंडारी द्वारा संपादित विशेषांक, संपादकीय, पृ. 5
8. एक प्लेट सैलाब, पृ. 115
9. त्रिशंकु, पृ. 73
10. यही सच है, पृ. 155
11. वही, पृ. 159
12. एक प्लेट सैलाब, पृ. 61
13. वही, पृ. 90
14. वही, पृ. 144
15. वही, पृ. 137

10. हरिशंकर परसाई

नई कहानी की अंतर्वस्तु के विस्तार की दृष्टि से अपने समकालीन कहानीकारों के बीच हरिशंकर परसाई की स्थिति कुछ ज्यादा ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देती है। इस दौर के बहुत से कहानीकारों की तरह न तो कहीं वह स्त्री–पुरुष संबंधों के अंकन में उलझते हैं और न ही शिल्प की बारीकियों को लेकर परेशान मालूम होते हैं। इससे भिन्न उनकी कहानियां पतनशील बुर्जुआ समाज में मूल्यगत संक्रमण, विपर्यय और स्खलन की स्थिति में एक नैतिक हस्तक्षेप की हैसियत रखती दिखाई देती हैं। राजनीतिक भ्रष्टाचार और सामाजिक विसंगतियों की जितनी स्पष्ट और प्रमाणिक पहचान हरिशंकर परसाई की कहानियों में मिलती है उतनी उस दौर के कदाचित् किसी दूसरे कहानीकार में नहीं मिलती है। अपने साहित्यिक सरोकार और सामाजिक चिंता की दृष्टि से वह अमरकांत के निकट लगते हैं लेकिन कहानी का विधागत अनुशासन और प्रच्छन्न एवं सूक्ष्म व्यंग्य के उपयोग का कौशल अमरकांत को उनसे काफी अलग भी कर देता है।...

हरिशंकर परसाई अपने लेखन को एक सामाजिक कर्म के रूप में परिभाषित करते हैं। उनकी मान्यता है कि सामाजिक अनुभव के बिना सच्चा और वास्तविक साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता। साहित्यकार और सामाजिक अनुभव के अंतर्संबंधों की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं...'साहित्यकार का समाज से दोहरा संबंध है। वह समाज से अनुभव लेता है, अनुभवों में भागीदार होता है। बिना सामाजिक अनुभव के कोई सच्चा साहित्य नहीं लिखा जा सकता, लफ्फाजी की जा सकती है साहित्यकार सामाजिक अन्वेषण भी करता है। उन छिपे अंधेरे कोनों का अन्वेषण करता है जो सामान्य चेतना के दायरे में नहीं आते। वह इन सामाजिक अनुभवों का विश्लेषण करता है, कारण और अर्थ खोजता है, उन्हें संवेदना के स्तर तक ले जाता है और उन्हें, रचनात्मक चेतना का अंग बनाकर रचना करता है। फिर समाज से पाई इस वस्तु को रचनात्मक रूप देकर फिर समाज को लौटा देता है। इस तरह साहित्य एक सामाजिक कर्म हो जाता है।' 'लेखन को सामाजिक कर्म के रूप में परिभाषित करने के बाद अपने समय की राजनीति के साथ लेखक का रिश्ता काफी कुछ खुद–ब–खुद तय हो जाता है। इस मुद्दे पर परसाई ने और भी साफ ढंग से लिखा है...'राजनीति मनुष्य की नियति तय कर रही है। बुद्धिजीवी जो यह कहते हैं कि हमें राजनीति से क्या मतलब, वे वास्तव में बड़ी गंदी देशद्रोही राजनीति में फंसे हैं। मैं यह नहीं कहता कि हम किसी पार्टी के सदस्य हो जाएं। पर मैं यह जरूर चाहूंगा कि इतनी समझ हो और निष्ठा भी हो कि यह राजनीति समाज को

प्रगति के रास्ते पर ले जा रही है, और यह राजनीति प्रतिगामी और यथास्थितिवादी है'।[2]

यही कारण है कि हरिशंकर परसाई यूरोप की पतनशील साहित्यिक प्रवृत्तियों के अनुकरण में लिखे जा रहे साहित्य की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि ऐसा सारा साहित्य अनेक केंद्र से सामाजिक चिंता और कर्म को नकार कर आगे बढ़ता है। 'हारर', 'फ्रस्टेशन', 'मृत्युबोध' और 'संकट' के दर्शन को वह अपरिवर्तनीय मानकर नहीं चलते। केवल फैशन के लिए इन चीजों को ओढ़ लेने का कोई अर्थ नहीं हो सकता है। वस्तुत: इस सब को वह रचनाकार के अपने परिवेश से कटे होने या फिर अंशत: जुड़े होने के अनिवार्य परिणाम के रूप में लेते और स्वीकार करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि ऐसा करने वाले लेखक गलत ढंग से अपनी कुंठाओं और हताशा को साहित्य में प्रोजेक्ट कर रहें हैं। सारे लोगों के लिए वह हिदायत करते हुए लिखते हैं—"अहंकार के घोंघे से आप बाहर आइए और अपने को व्यापक संपर्क से जोड़ दीजिए।"[3] इस संदर्भ में जो लोग संत्रास और अजनबीपन की बातें करते हैं उनके बारे में किंचित कड़ा रुख अपनाते हुए वह लिखते हैं...'यह एक प्रकार की बौद्धिक स्नाबरी होती है। अपने को परिवेश से कटा हुआ और अकेला मानने वाला उस आदमी की तरह हो जाता है, जो किसी विशाल इमारत में बंद हो। वह बोलता है तो उसे अपनी ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, तब वह घबराता है और उसे भय आशंका और मौत की अनुभूति होने लगती है।'[4] और ऐसी हालत में अपनी स्थिति और भूमिका का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—'अपने परिवेश से मैं अपने को पूरी तरह जुड़ा हुआ पाता हूं। सहयोगी हूं, दर्शक नहीं।'[5]

'हंसते हैं रोते हैं' में अपनी प्रारंभिक कहानियों में परसाई अपने आसपास की ज़िंदगी से जुड़कर चलते दिखाई देते हैं। इन कहानियों में निम्न मध्यवर्गीय अभावों और विडंबनाओं को उभारा गया है लेकिन उनमें तराश का वह पैनापन और सामाजिक विरूपताओं को लेकर वह तल्खी नहीं है जो आगे चलकर परसाई की एक खास पहचान बनती है। 'सेवा का शौक' और 'भीतर का घाव' जैसी कहानियां इस संग्रह में अपवाद जैसी लगती हैं, जो मानवीय पीड़ा के संदर्भ में नैतिक—सामाजिक मान्यताओं की विकृतियों को पर्याप्त विश्वसनीय और प्रभावशाली ढंग से अंकित कर सकी हैं। इस संग्रह की अधिकांश कहानियां या तो भावुकता की शिकार हैं या शिल्प के कच्चेपन की, जिसके कारण उनका संश्लिष्ट प्रभाव बहुत प्रीतिकर नहीं होता। इन कहानियों को आधार बनाकर हरिशंकर परसाई के भावी विकास को समझना भी किस कदर मुश्किल होता है। आगे चलकर, एक लेखक की हैसियत से वह अपना जो सरोकार तय करते हैं ये कहानियां सिर्फ़ आंशिक रूप से ही उसका संकेत दे पाती

हैं। इन्हें पढ़कर इतना पता अलबता चल जाता है कि वे लोग ही सबसे अधिक हैं जो सरल और ईमानदार किस्म के लोग हैं। और इसी संकेत के सहार कदाचित् यह अनुमान भी लगाया जा सके कि इन लोगों के सार्थक ढंग से जीने की इच्छा और संघर्ष को लेखक अनदेखा करके नहीं चल सकेगा।

सामाजिक विकृतियों के चक्रव्यूह में फंसे साधारण आदमी की यातनाओं को केंद्र में रखकर चलने वाला लेखक शाश्वत साहित्य का प्रभामंडल बनाकर नहीं चल सकता। इसीलिए हरिशंकर परसाई की यह घोषणा एकदम विश्वसनीय लगती है...'मैं शाश्वत साहित्य रचने का संकल्प करके लिखने नहीं बैठता। जो अपने युग के प्रति ईमानदार नहीं होता, यह अनंतकाल के प्रति कैसे हो लेता है, मेरी समझ से परे है।'[6] यही कारण है कि परसाई की परवर्ती कहानियां जो अधिकांश जैसे 'उनके दिन फिरे' और 'सदाचार का ताबीज' में संकलित हैं—अपने समय की विडंबनाओं और कुरूपताओं को बड़ी सहजता के साथ अंकित करती हैं। हरिशंकर परसाई की इन कहानियों के आधार पर आजादी के बाद के भारत की एक मुकम्मिल तस्वीर आसानी से तैयार की जा सकती है जिसमें राजनीति, शासनतंत्र, शिक्षा पद्धति, नौकरशाही, और साहित्य एवं कला की विकृतियों के साथ शायद ही ऐसा कोई पक्ष होगा जो छूटा हो। 'गनी नागफनी की कहानी' को वैसे एक व्यंग्य उपन्यास की संज्ञा दी गई है लेकिन उसके कितने ही अंश स्वतंत्र कहानियों के रूप में भी उतने ही स्वीकार्य हैं और कदाचित् इसी का लाभ उठाकर लेखक ने उनमें से कुछ अलग से कहानियों के तौर पर प्रकाशित भी कराए हैं। क्रोधी और विद्रोही पीढ़ी का दर्शन, सरकारी कार्यालयों की कार्यपद्धति, लड़के को उद्योग की श्रेणी में रखकर विवाह के टेंडर की सिफारिश आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनसे मौजूदा समाज की बनावट समझने में मदद मिल सकती है, लेकिन हमारे समय का राजनीतिक जगत लेखक के लिए एक ऐसा स्थायी सरोकार है जिसे लेकर उसकी तल्खी की कोई सीमा नहीं है। जब मुफतलाल के साथ राजकुमार अस्तमान राजा राखड़ सिंह के अमात्य के पास जाता है तो बदले में ये लोग उसके लिए भी कुछ करने की इच्छा प्रकट करते हैं। बताने में उसे संकोच करते देख मुफतलाल उसे उत्साहित करते हुए पूछता है कि कौन—सा काम करना है—भ्रष्टाचार समाप्त करना है? अफसरों को समय पर दफ्तर बुलाना है? भत्ते के सच्चे बिल बनाने की आदत डालनी है? तो इन सारी बातों को अमात्य यह कहकर नकार देता है कि यह तो शासन की शोभाएं हैं। वह अपने विरोधी विधायक के 'जीव' की मांग करता है और उसके लिए अपनी ओर से की जाती रही कोशिशों का हवाला देते हुए कहता है...'गुप्तचर विभाग तो सालों से इसी काम में लगा है। आप तो जानते हैं कि

प्रजातंत्र में गुप्तचर विभाग राजनैतिक विरोधियों के पीछे पड़े रहने का ही काम करता है। अपराधियों का पता लगाना तो एक बहाना है।'[7] हमारे देश की इस तथाकथित जनतांत्रिक राजनीति में जनता और नेताओं का संबंध भेड़ और भेड़िए से बहुत बेहतर नहीं रहा है। अभी तक जैसी स्थितियां रही हैं उनमें हमारे चुने हुए प्रतिनिधि बाकायदा नियम से दिन में तीन बार हमारा भोजन और नाश्ता करते रहे हैं और गीदड़ों—झूठे प्रशासकों और चाटुकारों का एक दल उनसे हमेशा जुड़ा रहकर जनविरोधी नीतियों का समर्थन बेशर्मी के साथ करता रहा है।... वास्तविकता यह है कि समूची नई कहानी में परसाई अकेले लेखक हैं जो राजनीतिक भ्रष्टता और सत्ता की विकृतियों को इतनी दूर तक जाकर उद्घाटित करने का जोखिम उठाते दिखाई देते हैं।...

हरिशंकर परसाई की कुछ प्रमुख कहानियों को आधार बनाकर उनके रचना संसार और सरोकारों का अन्वेषण उपयोगी हो सकता है। 'मौलाना का लड़का', 'राग—विराग', 'सदाचार का तावीज़', 'भोलाराम का जीव', 'मुंडन', 'एक तृप्त आदमी की कहानी', 'मैं हूं तोता प्रेम का मास' और 'सत्य साधक मंडल' आदि कहानियां अपने आशयों और अंतर्वस्तु की व्यापकता की दृष्टि से कमोबेश परसाई के समुचे लेखन के प्रतिनिधि—अंश के रूप में ली जा सकती हैं। इन कहानियों में यदि एक ओर राजनीति और शासनतंत्र की विकृतियों एवं कार्य पद्धति की आलोचना की गई है तो दूसरी ओर साधारण आदमी की यातनाओं और महत्त्वकांक्षा शून्य मानसिकता के निर्माण की विंडबना को भी रेखांकित किया जा सकता है। इस पूंजीवादी समाज में धर्म और आध्यात्म प्राय: हमेशा ही धूर्त्तता, छद्म और ढोंग का पर्याय बनकर उपस्थित होता है अत: स्वाभाविक ही परसाई गहरे कंसर्न के साथ उसकी वास्तविकता के उद्घाटन में दिलचस्पी लेते दिखाई देते हैं। स्त्री—पुरुष संबंधों वाली कहानियों का परसाई के यहां प्राय: एकांत अभाव—सा है लेकिन कुछ कहानियों में उन्होंने हमारे सामंती और अर्धसामंती समाज में स्त्री की स्थिति पर बड़े सार्थक और अधिकार सम्मत ढंग से टिप्पणी करने की कोशिश की है।...

'भोलाराम का जीव', 'सदाचार का ताबीज', और 'मुंडन' जैसी कहानियां राजनीति, शासन और सरकारी तंत्र की वास्तविक पहचान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं। इन कहानियों को पढ़कर जिस वास्तविकता से हमारा साक्षात्कार होता है वह इतिहास और सरकारी आंकड़ों से अलग नहीं, उस सबके विरोध में भी पड़ता है। 'भोलाराम का जीव' देश की समूची व्यवस्था पर एक रनिंग कमेंटी जैसी है। भोलाराम ऐसे देश का वासी है जहां दोस्त को भेजी

गई चीज़ें रेलवे वाले उड़ा लेते हैं और हौजरी के पार्सलों के मौजे रेलवे अफ़सर पहनते हैं। जहां राजनीतिक दलों के लोग विरोधी नेता को उड़ाकर बंद कर देते हैं ताकि विरोध की आवाज़ को दबाया जा सके। अपनी विशेष योग्यता और कार्यक्षमता के लिए जो लोग नरक में सहायता और नवनिर्माण के लिए भेजे जाते हैं वे अधिकांश में इमारतों के ठेकेदार हैं जो पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनाते हैं। बड़े–बड़े इंजीनियर हैं जो पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाते हैं या फिर ओवरसीयर हैं जो उन मजदूरों की मजदूरी हड़पते हैं जो कभी काम पर आते ही नहीं। लेकिन खासतौर से कहानी दफ्तर तंत्र को उद्घाटित करती है। जहां रिटायर होने के पांच वर्ष बाद भी भोलाराम की पेंशन नहीं खुलती है। क्योंकि उनकी अर्जियां उड़ती फिरती हैं– इसलिए कि उन पर दबाने के लिए 'वजन' नहीं रखा गया था। इस हकीकत का पता नारद को दफ्तर की कितनी ही भूल–भूलैया घूमकर चलता है। नारद के पास और कुछ न होने की स्थिति में संबंधित अधिकारी को पसंद आ जाने पर उसकी लड़की के उपयोग के लिए अपनी वीणा से बाकायदा भोलाराम के कागज़ दबाकर अर्थात् 'वजन' रखकर जब वह रूकी हुई पेंशन के लिए कुछ करना चाहते हैं, तभी नाम सुनकर भोलाराम का जीव उस फाइल में से बोलने लगता है–वह जीव जिसने गरीबी की बीमारी से पांच दिन पहले शरीर छोड़ा था और जिसके अपने गंतव्य पर न पहुंचने के कारण तरह–तरह की अटकलें लगाई जाने लगी थीं।

'सदाचार का ताबीज' वास्तविक आर्थिक सुरक्षा के अभाव में भ्रष्टाचार निरोधक प्रयासों की असफलता की ओर संकेत करती है। महीने के शुरू के दिनों में जो व्यक्ति भ्रष्टाचार निषेध के लिए एक मजबूत रूटैंड ले सकता है, महीने के आखिरी दिनों में आर्थिक तंगी के कारण वह बदली हुई स्थिति में भी हो सकता है। इसीलिए इस प्रकार की कहानियां, स्वयं परसाई के अनुसार, किसी ऊपरी सुधार की जगह, समूची व्यवस्था के बदलाव पर जोर देती हैं। इसी कहानी पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं...'संकेत में यह कहना चाहता हूं कि बिना व्यवस्था में परिवर्तन किए, भ्रष्टाचार बिना खत्म किए और कर्मचारियों को बिना आर्थिक सुरक्षा दिए, भाषणों, सर्कुलरों, उपदेशों, सदाचार समितियों, निगरानी आयोगों के द्वारा कर्मचारी सदाचारी नहीं होगा। इसमें कोई उपदेश नहीं है सिर्फ़ विरोधाभासों को सामने लाया गया है और कुछ संकेत दिए गए हैं। 'मुंड़न' शासन और सरकारी तंत्र की उन व्यावहारिक जटिलताओं को सामने लाती है जो आंख के आगे की चीज़ के लिए चीज़ों को टालकर, समय का लाभ लेकर, विरोधियों की सारी चिल्ल–पों के बावजूद, समितियों और आयोगों के गठन की प्रक्रिया अपनाकर चीज़ों को कितने ही लंबे समय तक अनदेखा किया जा सकता

है क्योंकि अंतत: फैसला सत्तारूढ़ दल के पक्ष में ही किया जाना है।...

और यह सारी स्थितियां देश के आदमी को कैसे और किस सीमा तक प्रभावित कर सकती हैं? अभावों से भरा एक लंबा जीवन तिल–तिल करके आदमी को कैस तोड़ता रहता है और फिर चीज़ों के न होने के पक्ष में तर्क जुटा सकने की एक मानसिकता विकसित होती जाती है। 'एक तृप्त आदमी की कहानी' के एन. एल. मास्टर एक सोलहोआने तृप्त आदमी इसी प्रकार के जीव हैं जो अपने रोजमर्रा के हर अभाव के लिए रेडीमेड तर्क की ढाल कसे दिखाई देते हैं। लेखव ने आज से अस्सी वर्ष पहले, अपने देश में, अध्यापकों की जिस स्थिति को गहरी व्यथा और संवेदना के साथ महसूस किया था– एक आत्मघाती तृप्ति और महत्वकांक्षाहीन जीवन की विडंबनाओं को– हमारे देश में वही स्थिति अभी भी ज्यों की त्यों बरकरार है। उस हालत में कहानी का अंत स्वयं ही एक ऐसी टिप्पणी का काम करता है जिसके बाद कुछ और कहने या जोड़ने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है...और मुझे याद आता है कि पिछले साल जब मैं बीमार पड़ा था तब मेरी भूख भी मर गई थी। अच्छे पकवान मेरे सामने रखे रहते थे और मैं मुंह फेर लेता था।'[9] फर्क सिर्फ़ इतना है कि 'मैं' की बीमारी व्यक्तिगत थी जबकि मास्टर की बीमारी पूरे समाज और व्यवस्था से जुड़ी है और इतिहास गवाह है कि पिछले बत्तीस वर्षों में उसमें कही कोई हेर–फेर नहीं हुआ है।

'राग–विराग' और 'सत्य साधक मंडल' जैसी कहानियां धर्म के नाम पर पलने वाली धूर्त्तताओं को उद्घाटित करती हैं। 'राग–विराग' में बस यात्रियों की व्यवहारगत विचित्रताओं के साथ चुस्त जुमलों और उपमाओं के द्वारा पाखंड और छद्म के विस्फोटक उद्घाटन की कोशिश की गई है। लेकिन उसमें साधु के व्यवहार की स्थूलता और पूरी कहानी का सरलीकृत निष्कर्ष कहानी के प्रभाव को इतना तीव्र नहीं कर पाता है जितना कि सत्य साधक मंडल के संकेत और व्यंग्य विधायक व्यंजना के द्वारा मुमकिन होता है। सत्य साधक मंडल का सबसे बड़ा आकर्षण क्या है? वहां व्यापारी और अच्छे नौकरी पेशा लोग इसलिए आते हैं कि इन्कम–टेक्स और सेल्स–टेक्स अधिकारियों के आने की संभावना बनी रखती है। भले ही वे अपनी एकांत साधना के कारण अब तक आ न सके हों।

'कालेज की एक युवा सुंदरी अध्यापिका मिस सक्सेना आती थीं। पर उनका तबादला हो गया और वे अपने सामान के साथ हमारे–चार साधकों का सत्य बांधकर ले गईं। चारों ने आना छोड़ दिया...।'[10] इगो, अहं और सेल्फ को गलाने का उपदेश देने वाले चोपड़ा साहब जो आज तक किसी शनिवार को बीमार नहीं पड़े और प्रसाद के रूप में मिठाई बांटने के बाद नियमित

रूप से आधा घंटा प्रवचन देते रहें हैं, एक दिन शुक्लाजी के द्वारा प्रसाद ले आने पर और उत्तेजना में उनसे पहले ही बांट देने पर यकायक अस्वस्थ महसूस करने लगते हैं। उस दिन फिर न तो वे प्रसाद ही बांटते हैं और न ही प्रवचन दे पाते हैं जैसे उनका एकाधिकार किसी ने जबरन छीन लिया हो। उसके बाद कई शनिवारों तक मुतबातिर उनकी प्रतीक्षा रही लेकिन फिर धीरे–धीरे लोगों ने समझ लिया कि वह अहं को जलाने की साधना में लग गए हैं।...

'मौलाना का लड़का : पादरी की लड़की' और 'मैं हूं तोता प्रेम का मारा' के सरोकार निश्चय ही भिन्न प्रकार के हैं, मौलाना का लड़का...में धार्मिक कट्टरता और धर्मोन्माद का संघर्ष प्रगतिशील वैज्ञानिक आग्रहों से होता है। मौलाना और पादरी दोनों ही का एतराज बच्चों के प्रेम विवाह को लेकर इतना नहीं है जितना कि यह आग्रह है कि वे अपने–अपने धर्म में उनका बाकायदा मत परिवर्तन कर पुण्य हासिल करें। लेकिन रफीक और बेला आध्यात्मिक प्रेरणा से शुरू कर क्रमशः भौतिक आवश्यकताओं से अनुशासित होने लगते हैं। उनके अपने इस निजी अनुशासन का टकराव जब उनके अपने पिता के अनुशासन से होता है तो बहुत सोच विचार कर जो रास्ता वे चुनते हैं वह वही है, जिसके लिए उनके पिता अलग–अलग, अपने–अपने प्रभुओं से प्रार्थना करते हैं–उन नादानों को माफ करके सही रास्ता दिखाने की प्रार्थना। और यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि दोनों की प्रार्थना का असर एक ही होता है. ..'दोनों के अलग–अलग प्रभुओं ने उनकी संतानों को सही गस्ता दिखाया। लगभग दस बजे वे दोनों एक तांगे में बैठे उस रास्ते पर जा रहे थे। उस रास्ते का नाम था अल्बर्ट रोड, जिसके उस छोर पर सिविल मैरिज के रजिस्ट्रार का दफ्तर था।'[11]

'मैं हूँ तोता प्रेम का मारा' बड़े सहज ढंग से हमारे सामाजिक अंतर्विरोधों की पोल खोलकर रखती है। भारतीय समाज में पत्नी, आर्थिक निर्भरता के अभाव में, न तो तोते की मादा जैसा व्यवहार कर सकती है और न ही उस काछिन की तरह जो अपने पति को किसी और से फंसा देखकर अपनी जमा पोटली बांधकर और चार खरी–खोटी सुनाकर अपने घर चल देती है। इसके विपरीत पढ़े–लिखे और सभ्य माने जाने वाले लोगों में पहले तो यह आंख–मिचौली चलती है कि पड़ोसी की लड़की को भरसक अपनी बहन न बनाकर अपने पति की बहन बनाना ही संस्कारों की दृष्टि से सुरक्षित स्थिति मालूम पड़ती है। फिर भी यदि होनी हो के ही रहती है तो अपनी खीझ और हताशा वह किसी और पर उतारने पर विवश है क्योंकि पति कमाऊ जीव है और उसके प्रति संचित सारी घृणा और आक्रोश के बावजूद उससे विनम्र समर्पण के साथ पेश आने के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं है। तोते की निश्छल जिज्ञासा

हमारे सामाजिक अंतर्विरोधों की कितनी ही परतें छील देती है...'मगर यह सरला भी अजीब है। प्रोफेसर साहब ने प्रेम ही तो किया है न? लड़ाई तो नहीं की। किसी से लड़ाई करते तो बुरा मानती, पर प्रेम तो बुरी चीज नहीं है। और अगर प्रेम दंडनीय है, तो उसे दंड दो जिन्होंने प्रेम दिया है। पर उनकी तो हंस–हंसकर चाकरी करती है। और मुझ बेकसूर को दंड देती हो। मैंने तो किसी से प्रेम नहीं किया?...'[12] और यदि एक विवाहित स्त्री की स्थिति यह है तो अविवाहित की स्थिति तो और बुरी है। उमा तो प्रोफेसर साहब को लिखे गए अपने पत्र में स्वयं ही स्वीकार करती है कि प्रेम करके उसकी स्थिति पिंजरे में बंद उस तोते से बेहतर नहीं है जिसे अपने प्यार का प्रतीक मानकर उसकी अनुपस्थिति में, वह उसके लिए छोड़ आई है।.

हरिशंकर परसाई मूलरूप से एक व्यंग्यकार हैं। यही कारण कि कहानीकार के रूप में उन्हें प्राय: अनदेखा किया जाता रहा है।...आज किसी लेखक की व्यंग्य क्षमता दूसरी तथाकथित रचनात्मक विधाओं के मुकाबले दूसरे दर्जे की चीज़ समझी जाकर उपहास और उपेक्षा की चीज़ बने यह स्थिति अपने में विशेष रूप से विडंबनापूर्ण है। सच्चाई यह है कि सामाजिक विसंगतियों के प्रति गहरा कंसर्न रखने वाला कोई लेखक ही व्यंग्य की जमीन पर उतरता है। स्थितियों, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों पर व्यंग्य करके वह सामाजिक विसंगतियों के प्रति अपने गुस्से का इजहार तो करता ही है, अपने लेखन को वह एक नैतिक हस्तक्षेप के रूप में भी इस्तेमाल कर रहा होता है। एक व्यंग्य लेखक को लेकर यह शिकायत प्राय: ही दोहराई जाती है कि वह मूलरूप से निगशावादी होता है जो हर कहीं बुराई की 'तलाश' में परेशान दिखाई देता है। लोग यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होते कि व्यंग्य का आस्था से कोई वास्ता हो सकता है। जबकि सच्चाई यह है कि व्यंग्य का आस्था से गहरा संबंध है। सामाजिक परिवर्तन में गहरी आस्था रखने वाला लेखक ही सार्थक व्यंग्यकार हो सकता है क्योंकि सामाजिक बुराइयों के प्रति उसके आक्रोश और कटुता के बावजूद अपने पात्रों के प्रति उसके मन में गहरी ममता और सहानुभूति भी होती है।...

हरिशंकर परसाई व्यंग्य को गंभीरता से लेते हैं और इच्छा करते हैं कि दूसरे भी ऐसा ही करें। सामाजिक विसंगतियां और उनसे पैदा हुई स्थितियां, उनके व्यंग्य की प्रधान उपजीव्य हैं। वह स्वयं इस बात को लेकर पर्याप्त सचेत दिखाई देते हैं कि महत्त्वपूर्ण सामाजिक विसंगतियां ही व्यंग्य को अपेक्षित गहराई और व्यापकता दे सकती हैं। इसी ओर संकेत करते हुए वह लिखते हैं, 'मगर विसंगतियों के भी स्तर और प्रकार होते हैं आदमी कुत्ते की बोली बोले–यह एक

विसंगति है और वन महोत्सव का आयोजन करने के लिए पेड़ काटकर साफ किए जाएं जहां मंत्री महोदय गुलाब के वृक्ष की कलम रोपें—यह भी एक विसंगति है। दोनों में भेद है, या दोनों से हंसी आती है। मेरा मतलब—विसंगति की क्या अहमियत है, वह जीवन में किस हद तक महत्त्वपूर्ण है, वह कितनी व्यापक है, उसका कितना प्रभाव है—ये सब बातें विचारणीय हैं।[13]...इस चेतना के बावजूद 'चार बेटे', 'मन्नू भैया की बारात' और 'भगत की गत' जैसी कहानियां विसंगतियों की व्यापकता के निषेध के कारण ही एकदम सतही कहानियां बनकर रह गई हैं। किसी सामाजिक या राजनीतिक विसंगति के बदले जब परसाई निजी संबंधों की जमीन पर उतर आते हैं तो उनके चार बेटों में से दो धन के मोह में मां को कुलटा तक बना देते हैं। इसी तरह 'मन्नू भैया की बारात' भारतीय समाज में लड़के वालों की काटू प्रवृत्ति के बदले अर्थहीन अतिरंजनाओं में उलझ कर रह जाती है। 'भगत की गत' में लाउडस्पीकर पर पूजा और कथा को एक सामाजिक समस्या के रूप में लेने के बावजूद उसका ट्रीटमेंट एकदम स्थूल है। इसके विपरीत जब वह पूरी कहानी या उसमें पिरोए गए चुस्त जुमलों के जरिए सामाजिक विसंगति की ओर संकेत करते हैं तो उसकी मार कहीं गहरी और दूर तक छीलने वाली होती है। 'प्रेमियों की वापसी' नामक कहानी में स्वर्ग का सिपाही प्रेमेंद्र से कहता है. ..तुम्हारे पुराने संस्कार अभी छूटे नहीं हैं तभी तो हत्या के लिए पुलिस से सलाह मांगते हो. ..'[14] या 'मन्नू भैया की बारात' में ही बारात के लिए जरूरी सामान की सूची तैयार करते हुए चाचा मामा से कहते हैं...'दो चोर और दो डाकू भी चाहिए। मैंने अपने दोस्त दरोगा श्यामसिंह से कह दिया है वे प्रबंध कर देंगे।...'[15] इस प्रकार वे बड़े सहज ढंग से हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था में पुलिस के चरित्र और भूमिका की ओर संकेत कर देते हैं।...

आकार की दृष्टि से परसाई की कहानियां बहुत छोटी होती हैं। वह कथानक की पुरानी मर्यादाओं को नकार कर आगे बढ़ती हैं। अपने कथ्य की सघनता के कारण वे शिल्प की मोहताज नहीं हैं बल्कि उसी कथ्य के अनुरूप अपना शिल्प भी वे स्वयं खोज लेती हैं। इतिहास, पुराण, लोककथा, लोकवार्ता और फेंटेसी ये सारी चीज़ें उनके यहां उनकी अपनी शर्तों पर उपस्थित हैं। परसाई जैसे चाहते हैं काम लेते हैं। काल की त्रिआयामिता यहां स्थगित हो जाती है और सब कुछ एक विराट वर्तमान पर आकर स्थिर हो जाता है। बात चाहे वह दो हजार वर्ष पहले की हो या दो हजार वर्ष आगे की—समय की दूरी का यह बोध उनके यहां महज एक रचना कौशल बनकर रह जाता है। जबकि अपने आशयों और सरोकारों में वह पूरी तरह से वर्तमान को समर्पित हैं।...

संदर्भ

1 पूर्वग्रह अंक 10, पृ 2

2 वही, पृ 5

3 ज्ञानोदय फरवरी 66, कलकत्ता कथा सामारोह की एक गोष्ठी में दिया गया अभिभाषण, पृ 126

4 नई धारा कमलेश्वर द्वारा संपादित समाकलीन कहानी अंक, पृ 120

5 वही,

6 गनी नागफनी की कहानी की भूमिका, पृ 5

7 वह, पृ 91

8 सदाचार का ताबीज, कैफियत, पृ 9

9 हंस अर्द्धवार्षिक संकलन, अक्तूबर 57, पृ 152

10 साग्रिका–1 अक्तूबर 78, पृ 54

11 जैसे उनके दिन फिरे, पृ 54

12 ज्ञानोदय दिसंबर 66' जनवरी 70, श्रेष्ठ संचयन अंक, पृ 275

13 सदाचार का तावीज, कैफियत, पृ 6

14 वही, पृ 18

15 वही, पृ 39

11. नयी कहानी: सफलता और सार्थकता

'छोटे मुँह बड़ी बात' कहनेवाली कहानी के बारे में प्राय: 'बड़े मुँह छोटी बात' कही जाती है। कहानी का दुर्भाग्य है कि यह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है। और शिल्प के रूप में आलोचित होती है। मनोरंजन उसकी सफलता है तो शिल्प सार्थकता! कहानी में अनेक आलोचकों की दिलचस्पी इतनी ही है कि वह साहित्य का एक 'रूप' है। इसलिए कहानी की ओर ध्यान जाता है या तो इतिहास (जिसमें साहित्य के वार्षिक और दशाब्दिक विवरण भी सम्मिलित हैं) लिखते समय या फिर साहित्य–रूपों का शास्त्रीय विवेचन करते समय। जहाँ साहित्य के मान और मूल्यों की चर्चा होती है, वहाँ कहानियों के हवाले नहीं मिलते। हवाले मिलते हैं प्राय: कविताओं के और कभी–कभी उपन्यासों के। यदि शास्त्रीय आलोचक कहानी को केवल साहित्य–रूप समझते हैं तो मूल्यवादी आलोचक उसे जीवन की सार्थक अनुभूतियों के लिए असमर्थ मानते हैं। संभवत: जीवन के लघु प्रसंगों को लेकर लिखी जानेवाली कहानी स्वयं भी 'लघु' समझी जाती है। इसलिए 'व्यापक जीवन' पर दृष्टि रखने वाले स्वभावत: कहानी–जैसी छोटी चीज़ को नज़रअन्दाज़ कर जाते हैं। आलोचकों की कुछ ऐसी धारणा है कि केवल कहानियाँ लिखकर कोई लेखक महान् नहीं हो सकता। बहुत–से लोगों के यह कहने पर भी कि प्रेमचन्द उपन्यासकार से अधिक सफल कहानीकार हैं, डा॰ रामविलास शर्मा जैसे आलोचक ने ज़ोर देकर कहानियों की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही उनकी महानता का आधार माना है। कहानी की लघुता के सम्बन्ध में यह धारणा मोपासाँ, चेखव, ओ'हेनरी तथा रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द, यशपाल, कृष्णचन्द्र जैसे कहानीकारों के रहते हुए भी बनी हुई है।

दूसरी ओर, जिन लोगों ने हर तरह की 'लघुता' को 'सार्थकता' प्रदान करने का झंडा उठाया है, उनके यहाँ भी छोटी कहानी की सार्थकता नहीं दिखायी पड़ती। मूल्यों की विस्तृत चर्चा करते समय जहाँ वे नितान्त वैयक्तिक और अनुभूति–क्षणों के लघु–लघु 'प्रयोगों' को हवाला देते चलते हैं, वहाँ भूलकर भी किसी कहानी का ज़िक्र नहीं आता। यह विस्मरण क्या एकदम आकस्मिक है? यदि इन मूल्य–खोजी आलोचकों को अपने साथियों की कहानियों में मूल्यों के दर्शन नहीं होते तो क्या बाक़ी कहानी–साहित्य भी सूना है? या कि जीवन की वास्तविकता के चित्रण में आज की कहानियाँ कविताओं के पीछे हैं?

नये कहानीकारों में से बहुतों ने आजकल कहना शुरू कर दिया है कि इस पीढ़ी के

कहानीकारों में 'मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवन–शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नवनिर्माण की उत्कट प्यास है।' इतना ही नहीं, बल्कि आज की कहानी 'नयी भाव–भूमियों का सृजन' भी कर रही है। नये कवियों के दावे, इस तरह, नये कहानीकारों के कंठ से भी अनुगुंजित हो चले हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि कहानी की आलोचना को एक नये स्तर पर उठाया जाय। टेकनीक की शास्त्रीय चर्चाओं और कहानियों का सारांश बतलाते हुए उनकी सामान्य समस्याओं के परिचयात्मक विवरणों का काम बहुत हो चुका; 'ये बहुत दूर जायेंगे' और 'भविष्य सुरक्षित है' जैसी सद्भावनाओं से भी अब सद्विवेक की माँग की जा सकती है।

आज इतना ही कहना काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है या अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस 'अच्छेपन' को और 'सफलता' को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, आज कहानी की 'सफलता' का अर्थ है, कहानी की सार्थकता। आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं है, बल्कि वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए। जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता, उपन्यास आदि साहित्य–रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की परीक्षा भी होनी चाहिए। इससे कहानी–समीक्षा का एक ढाँचा तो तैयार होगा ही, साथ–साथ मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा और सम्पूर्ण साहित्य के मानों की अपर्याप्तता भी क्रमशः कम होगी। आज साहित्य के क्षेत्र में अनेक एकांगी विचारधाराएँ केवल इसलिए फैली हुई हैं कि वे केवल एक साहित्य–रूप, कविता, पर आधारित हैं। बहुत सम्भव है कि कहानियों का सत्य इनमें से कुछ को एकदम ग़लत ठहरा दे, कुछ की अनावश्यक नोकें मार दे और कुछ में नये कौंछे निकाल दें।

यह धारणा ग़लत है कि साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है। रूप की विशेषता से वस्तु में भी विशेषता आ जाती है। एक ही साहित्यकार कविता में वास्तविकता का एक पहलू दिखाता है, तो उपन्यास में दूसरा, और कहानी में तीसरा। उदाहरण के लिए, रवीन्द्रनाथ और प्रसाद का साहित्य प्रस्तुत है। इसी तरह एक ही युग की कविता, उपन्यास और कहानी में वास्तविता के विभिन्न पहलुओं के दर्शन किये जा सकते हैं।

साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं बल्कि जीवन को समझने के भिन्न–भिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम जब चुकता दिखायी पड़ता है तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है। अपनी

महान् जययात्रा में सत्य–सौन्दर्य–द्रष्टा मनुष्य ने इसी तरह समय–समय पर नये–नये कला–रूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक–से–अधिक समझे और समेट सके। हमारी इसी ऐतिहासिक आवश्यकता से एक समय कहानी भी उत्पन्न हुई और अपने रूप–सौन्दर्य के द्वारा इसने हमारे सत्य–सौन्दर्य–बोध को भी विकसित किया। कहानी की इसी ऐतिहासिक भूमिका की माँग है कि वर्तमान परिस्थिति में उसकी सार्थकता की परीक्षा व्यापक संदर्भ में की जाए।

इस कार्य में पहली बाधा है कहानी–संबंधी सामान्य धारणा। कहानी–शिल्प–सम्बन्धी आलोचनाओं ने कहानी की जीवनी–शक्ति का अपहरण कर उसे निर्जीव 'शिल्प' ही नहीं बनाया है बल्कि उस शिल्प को विभिन्न अवयवों में काटकर बाँट दिया है। लिहाजा, हम कहानी को 'कथानक', 'वातावरण', 'भावात्मक प्रभाव', 'विषयवस्तु' आदि अलग–अलग 'अवयवों' के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। कालेज–जीवन में 'डायग्राम' बनाकर कथानक के क्रमिक विकास की जो बात दिमाग़ में भर दी गई है, वह चलकर भी साथ नहीं छोड़ती। ''प्रधानता' के आधार पर कहानियों के जो 'कथानक–प्रधान', 'चरित्र–प्रधान', 'भाव–प्रधान', 'वातावरण–प्रधान', विविध प्रकारों का अभ्यास कराया गया, उसने लत का रूप धारण कर लिया। लिहाजा, हम हर नयी कहानी में चरित्र, वातावरण या कथानक देखने के आदी हो गए। किसी कहानी–संग्रह की आलोचना उठाकर देख लीजिये, सबमें इसी तरह की बातें मिलेंगी: 'इस कहानी में अमुक का चरित्र बहुत उभरकर आया है', 'वातावरण का चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है', 'कथानक बहुत गठा हुआ है।' यह सारी आलोचना वैसी ही है, जैसे किसी भाषा का परिचय उसकी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि परिभाषाओं में दिया जाय।

इस धारणा का यह असर पड़ा कि लोगों ने कहानी में जीवन–सत्य तथा भाव–बोध को देखना छोड़कर, उसे कहानी की परिभाषित संज्ञाओं के रूप में देखना शुरू कर दिया। 'प्रभावान्विति' और 'एकान्विति' की माला जपते हुए भी इस तरह के आलोचकों ने कहानी की अनुभूति को एक 'इकाई' के रूप में देखना छोड़ दिया। इस तरह उन्होंने कहानी के सत्य को ही नहीं, बल्कि कहानी के 'कहानीपन' की समझ भी खो दी।

इस ग़लत धारणा का असर स्वयं आलोचना पर जो कुछ पड़ा वह तो स्पष्ट ही है कि न तो वह पाठक के काम की रही और न कहानी–लेखक के काम की, परन्तु इसके अतिरिक्त इस

शिल्पवाद ने कहानी के शिल्प को बिगाड़ने में भी बहुत काम किया। मेरा अनुमान है कि वर्तमान कहानियों में जहाँ कहीं शिल्पवादी प्रवृत्ति का अतिरेक दिखायी पड़ता है, उसका सम्बन्ध किसी–न–किसी रूप में कहानी की इस विभक्त धारणा से अवश्य है। यदि कोई कहानीकार शिल्प के किसी विशेष अवयव की रचना करके सफलता का ढोल पीटता है तो यही समझना चाहिए कि वह कहानी को एक 'शिल्प' समझता है। श्रीपतराय का यह कथन इसी स्थिति की ओर संकेत करता है–"उनकी (आज के कहानीकारों की) कहानियाँ जैसे सफलता के पास पहुँचकर भी, या उसे मुट्ठी में पाकर उँगलियों के बीच से फिसल जाने देती हैं। किसी कहानी में वर्णन की खूबी है, किसी में प्राकृतिक दृश्यों का जीता–जागता चित्र मन को लुभा लेता है, किसी में कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य इस सजीवता और स्वाभाविकता से उद्घाटित होता है कि चित्त प्रसन्न हो जाए, पर ऐसा बहुत कम ही होता है कि किसी कहानी के सभी पक्ष निर्दोष हों। (कहानी, विशेषांक,' ५६)

कहानी की असफलता परिश्रम और अभ्यास की कमी के कारण भी हो सकती है, लेकिन अभ्यस्त लेखकों के यहाँ यदि कहानी की ऐसी रूपहानि दिखायी पड़े तो क्या कहा जायगा? यही कहानी के क्षेत्र में नये शिल्पवादियों की पहचान हो सकती है। 'नये भाव–सत्य' के अनुसार नये कहानी–शिल्प के नाम पर ये कहानी में कभी गेचक व्यंगों में फैलाकर आद्यन्त एक विचार। अज्ञेय की 'कलाकार की मुक्ति' और 'देवीसिंह' तथा अमृतराय का 'नंगा आदमी, नंगा ज़ख्म' जैसी एक दर्जन कहानियाँ उदाहरण के लिए पेश की जा सकती हैं। फार्मूले के अनुसार कहानियाँ लिखने की प्रवत्ति भी इसी धारणा का प्रभाव है। नये भाव–सत्य के अनुसार कहानी का रूप बदलता ज़रूर है लेकिन इतना नहीं बदलता कि वह कहानी ही न रह जाय। कहानी का रूप कहानी के भीतर ही बदला जा सकता है जैसा कि समय–समय पर महान् कहानीकारों ने किया है। कहानी का रूप प्रेमचन्द ने कब नहीं बदला? 'पूस की रात', 'कफ़न', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवा सेर गेहूँ'–इन कहानियों का रूप एक–सा नहीं है और न एकदम पुराना ही है, लेकिन फिर भी ये कहानी हैं। कहानी का रूप चेखव ने भी बदला और एकबारगी उसने कथानक–सम्बन्धी पूर्ववर्ती धारणा को तोड़कर अलग कर दिया, लेकिन उसने कहानीपन का दामन एकबारगी नहीं छोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कहानी–शिल्प के भी मालिक वही हैं जो उसके गुलाम हैं। क्या साहित्य, क्या जीवन, सभी क्षेत्रों में स्वाधीन होने की सामर्थ्य उन्हीं के लिए सम्भव है जिनमें अधीन रहने की योग्यता है।

कहानी में शिल्पगत नवीनता की सीमा को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के एक दूसरे रूप 'गीत' का उदाहरण लें। नये कवियों ने नये गीत लिखे हैं लेकिन उन्होंने गीतात्मकता का ढाँचा एकदम तोड़ नहीं दिया। गीत गोविंद, विनयपत्रिका, गीतिका और नये गीत–प्रयोगों की तुलना करके आसानी से देखा जा सकता है कि 'गीत' के एक ढाँचे की रक्षा करते हुए भी समर्थ कवियों ने समय–समय पर किस प्रकार उसके रूप में नवीनता उत्पन्न की है।

इसी प्रकार कहानी के कहानीपन की रक्षा करते हुए भी कहानी के शिल्प में नवीनता उत्पन्न की जा सकती है। जैसे कुछ दिन पहले प्रकाशित 'राजा निरबंसिया' (कमलेश्वर)। यहाँ एक लोककथा की पृष्ठभूमि में एक आधुनिक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कहानी कही गई है। दो भिन्न–भिन्न युगों के दो निरबंसियों की जीवन–कथा दो रेखाओं की तरह एक–दूसरे को छूती और काटती हुई चलती चली जाती है। कहानी में लोक–कथा का यह उपयोग शिल्प–सम्बन्धी नवीनता कही जा सकती है; लेकिन यह कोरा शिल्प नहीं है, न इससे कहानी के कहानीपन में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत, वह लोककथा मुख्य कथा को और भी मार्मिकता प्रदान करती है, जैसे दो समीपवर्ती तारों में से एक की झंकार दूसरे में भी सह–स्पन्दन उत्पन्न कर देती है। मुख्य कथा की गति में जैसे ही संवेदना की तीव्रता आती है, वह सहधर्मी लोककथा से छू जाती है और हम देखते हैं कि लोककथा का टूटा हुआ सूत्र अनजाने ही हाथ में आ गया है। शिल्प के लिए लायी हुई अतीत की कथा यह वर्तमान वास्तविकता को उभारने के साथ ही अतीत का अर्थ भी हमारे लिए बदल देती है। और अन्त में दो कथाओं की विषमता दो युगों की विषमता की गहरी खाई पर ही रोशनी नहीं डालती है, बल्कि वर्तमान वास्तविकता पर मीठा व्यंग भी करती हैं कि इतना विकास करने के बाद भी आज का निम्न मध्यवर्गीय युवक है कि अपनी पत्नी को स्वीकार नहीं कर सकता, जब कि शताब्दियों पहले एक राजा ने सारी लोकमर्यादा छोड़कर अपनी रानी को अपना लिया। यह अन्तर दो युगों का है या दो वर्गों का या कल्पना और यथार्थ का? शिल्प–विधान का यह नया प्रयोग कहानी में अनेक अर्थों और व्याख्याओं की सम्भावना भर देता है और इस तरह एक विशेष घटना के भीतर से मानवीय सत्य की व्यापकता उद्भासित हो उठती है।

यहाँ इस एक कहानी के विस्तार में जाने का अवसर नहीं है और न तो इसका यही अर्थ है कि नये शिल्प–विधान के द्वारा कहानीपन की रक्षा करनेवाली यह एकमात्र नयी कहानी है। कहानियाँ और भी हैं तथा शिल्प के नये विधान दूसरे–दूसरे भी हैं–यहाँ तक कि इनके लिए कोई सीमा नहीं बनायी जा सकती। असल बात है कहानी का कहानीपन यह आकस्मिक नहीं

है कि कहानीपन की उपेक्षा करके केवल शिल्प के लिए लिखी हुई एक भी श्रेष्ठ कहानी नहीं बन सकी। पत्र और डायरी–शैली में जाने कितनी कहानियाँ लिखी गई, लेकिन उनमें से एक भी कहानी ऐसी नहीं है जिसका नाम श्रेष्ठ कहानियों में लिया जा सके या जो लोकचित्त पर अमिट छाप छोड़ गई हो। इसके विपरीत पिछले आंठ–दस वर्षों के भीतर की 'हत्या–भरन' (तेजबहादुर चौधरी), 'गदल' (गंगेय गधव), 'छोटा डाक्टर' (निर्गुण), 'चीफ़ की दावत' (भीष्म साहनी), 'गिद्ध और सेवती के फूल' (शशि तिवारी), 'भैंस का कट्या' (विद्या सागर नौटियाल), 'ज़िन्दगी और जोंक' (अमरकान्त) आदि श्रेष्ठ कहानियाँ सब की सब कहानी भी हैं।

कहानी का यह कहानीपन समझाने में कठिन होते हुए भी 'रहस्य' नहीं है। कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक उन्मुक्त हो जाए, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलायेगी। कहानीपन से रहित गद्यरचनाओं के बारे में भी यही बात लागू होती है। लय की तरह ही कहानी कहना मनुष्य की काफी पुरानी कलात्मक वृत्ति है और इसकी रक्षा अपने–आप में स्वयं भी एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य है और इतिहास से प्रमाणित होता है कि नीति, लोक–व्यवहार, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस कला का उपयोग करते हुए भी मानवजाति ने आज तक इसकी रक्षा की है। निःसन्देह इस कला का चरम विकास आधुनिक युग में हुआ जब उद्देश्य और कहानीपन दोनों घुल–मिलकर इस तरह एक हो गए कि उद्देश्य से अलग कहानी के रूप की कल्पना भी कठिन हो गई। कहानी के सम्बन्ध में आधुनिक युग के प्रथम कहानीकार एडगर एलन पो के 'एकान्विति' शब्द से निःसन्देह अनेक अर्थों की सम्भावनाएँ हैं । कहानी की यह आंतरिक एकता केवल रूप–गठन तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी वस्तु का भी समाहार करती है। जिस प्रकार कविता में अर्थ–व्यंजना अथवा वस्तु–व्यंजना से भिन्न कहानीपन की कल्पना करना ख़तरनाक है। वस्तु–व्यंजना से रहित लय कोरे पद्य को जन्म देती है, उससे रहित कहानीपन कोरी आख्यायिका को।

इसलिए कहानी के कहानीपन की सफलता का अर्थ है उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता। नये कहानीकार कहानी की इस शक्ति से भली भाँति परिचित हैं। 'राजा निरबंसिया' में कहानीपन की रक्षा करनेवाले लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "केवल सोद्देश्यता की पृष्ठभूमि में ही आज के लेखक की कहानियों का अध्ययन किया जा सकता है।" इस सोद्देश्यता को मैं

सार्थकता कहना चाहता हूँ क्योंकि आजकल सोद्देश्यता का बहुत–सीमित अर्थ किया जाने लगा है। लेकिन मूलत: इसका अर्थ है एक इशारा–इशारा एक दिशा की ओर या एक अनदेखी स्थिति की ओर। कहते हैं कि जब डाक्टर को मर्ज़ का पता नहीं चला तो एक प्रसिद्ध चित्रकार ने उसके पास अपना नग्न चित्र बनाकर एक जगह छोटा–सा धब्बा लगाते हुए इस नोट के साथ भेज दिया था कि यहाँ दुखता है। कहानी में इतना–सा इशारा ही सोद्देश्यता है। दर्द से छटपटाते हुए जिस व्यक्ति अथवा समाज को यह पता न हो कि दर्द कहाँ है और क्या है, उसके लिए उसकी दुखती रग पर हाथ रख देना भी बहुत बड़ी बात है।

लेकिन कहानी में जब मैं सार्थकता की बात कहता हूँ तो इसका यह अर्थ है कि कहानी हमारे जीवन की छोटी–से–छोटी घटना में भी अर्थ खोज लेती है या उसे अर्थ प्रदान कर देती है। इस युग में, जब कि 'निरर्थकता' की भावना व्यापक रूप से फैली हुई है और एक वर्ग के लोगों द्वारा फैलायी भी जा रही है, कहानी–जैसे छोटे गद्य–रूप से सबसे पहले सार्थकता की माँग की जा सकती है। यह नहीं है कि छोटी–छोटी बातें ही अर्थहीन प्रतीत होती हों, कुछ लोगों को अपना सारा का सारा जीवन ही अर्थहीन मालूम होता है और कुछ को तो दुनिया का सारा कारोबार भी व्यर्थ लगता है। परन्तु लघुता में निरर्थकता का ख़तरा सबसे अधिक है। कहानी की सृष्टि इसी लघुता को सार्थकता प्रदान करने के लिए हुई थी।

लोगों की यह धारणा ग़लत है कि कहानी जीवन के एक टुकड़े को लेकर चलती है, इसीलिए उसमें कोई बड़ी बात कही ही नहीं जा सकती। कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रान्ति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी वृहद् अन्तर्विरोध के किसी–न–किसी पहलू का आभास दे जाता है। यह खंडगत अन्तर्विरोधी की पकड़ श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में कहीं नाटकीय मोड़ पैदा करता है तो कहीं चरित्र को वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष करते दिखलाता है और कभी स्वयं उस चरित्र के भीतर संकल्प–विकल्प की दुविधा दरसाता है या फिर उसके चिन्तन और कार्य के बीच विडम्बना (आयरनी) को चित्रित करता है। यह एक विरोधाभास है कि कहानी–जैसा एकान्वित शिल्प अन्तर्विरोध पर निहित होता है। नये कहानीकारों में भीष्म साहनी में एक ही साथ इन दोनों विशेषताओं का सर्वोत्तम सामंजस्य मिलता है। इस दृष्टि से भीष्म साहनी सबसे सफल कहानीकार हैं। एक इकाई के रूप में उनकी कहानियाँ अत्यन्त गठित होती हैं, साथ ही प्राय: किसी–न–किसी प्रकार की

विडम्बना (आयरनी) को व्यक्त करती हैं। और यह विडम्बना किसी–न–किसी रूप में हमारे वर्तमान समाज के व्यापक अन्तर्विरोध की ओर संकेत करती है। उदाहरण के लिए, उनकी 'चीफ़ की दावत' कहानी ही लीजिये।

कहानी शुरू होते ही 'संकट–विन्दु' उपस्थित हो जाता है या यों कहें कि 'संकट' से कहानी शुरू होती है:

"अब घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, माँ का क्या होगा?"

'चीफ़ की दावत' में अपनी निरक्षर और बूढ़ी माँ ही एक समस्या बन गई; जैसे घर के 'फालतू सामान', बल्कि सामान से भी बड़ी समस्या। सामान को छिपाना तो आसान है लेकिन इस जीवित सामान का क्या करे? और इस तरह शामनाथ एक कूड़े की तरह अपनी माँ को इस घर या उस घर में छिपाता फिरता है। उधर माँ है कि लड़के के इस व्यवहार का बुरा नहीं मानती, बल्कि स्वयं ही अपने अस्तित्व से संकुचित हुई जा रही है और लड़के के भले के लिए अपने को यहाँ से वहाँ छिपाती फिरती है। एक विडम्बना यह भी है। परन्तु हुआ यह कि शामनाथ ने जिस चीफ़ को इतना छिपाया, आखिर में वह खुल ही गई। चीफ़ ने माँ को देखा ही नहीं बल्कि बुरी हालत में देखा। परन्तु शामनाथ की घबराहट के बावजूद स्थिति सुधर गई। चीफ़ माँ से स्वयं मिले। और अन्त में शामनाथ ने देखा कि जिस 'सामान' को छिपाने के लिए उन्होंने इतनी परेशानियाँ उठायीं, वह खुल ही नहीं गया बल्कि हितकर भी साबित हुआ। यहाँ तक कि दावत से भी बढ़कर! यह सबसे बड़ी विडम्बना है। और गहरे जाकर देखें तो माँ केवल एक चरित्र नहीं बल्कि प्रतीक भी है–प्रतीक, सम्पूर्ण प्राचीन का!

इससे स्पष्ट हो सकता है कि एक समय कहानीकार किस प्रकार जीवन की छोटी–छोटी घटना में अर्थ के स्तर–पर–स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूँ।

हमारे सन्त कवियों ने इसी तरह पिंड के भीतर ब्रह्मांड का दर्शन कराया था और भक्त कवियों ने मानव–चरित्र के भीतर विराट् की लीला को उद्घाटित किया था। हद में बेहद और मानव में भगवान् की उद्भावना इसी अर्थवत्ता का मध्ययुगीन रूप है। काव्यशास्त्र के आचार्य ने मुख्यार्थ के भीतर से जो अर्थ की व्यंजना करायी थी, वह भी इसी का एक रूप है। जीवन का सत्य इसी तरह खंड के भीतर से, किन्तु उसे खंडित करता हुआ पूर्ण की ओर संकेत

करता है, खंड की सीमा को तोड़कर पूर्ण से मिलता है, मुख्यार्थ को बाधित करके रसमय अर्थ को व्यंजित करता है, जीवन की हर छोटी घटना के भीतर से सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है।

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को पकड़कर जागरूक कहानीकार उसे सार्थकता प्रदान करते हैं। राजेन्द्र यादव के नवप्रकाशित कहानीसंग्रह 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' की भूमिका के बीच भी हम 'द्वाभ्यां तृतीयः' होने का संकट उठाकर इसे 'ओवरहीयर' कर सकते हैं। अपनी 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' का अर्थ समझाते हुए वह वर्तमान जीवन के एक अन्तर्विरोध की ओर संकेत करते हैं। वह प्रेमिका और पत्नी दोनों की भूमिकाएँ एक साथ ईमानदारी से निबटाने का ढ़ोंग करती है—"ट्रेजेडी यह नहीं है कि वह दोनों के प्रति सच्ची क्यों नहीं है, ट्रेजेडी यह है कि वह दोनों में से किसी एक को अपने जीवन से झटककर नहीं निकाल सकती।"

जहाँ अन्तर्विरोध है, वहाँ विरोधी तत्त्वों में से किसी को भी झटककर नहीं निकाला जा सकता। यदि कहानीकार कहानी में एक विरोधी तत्त्व को निकाल देता है अथवा उसे ज़बर्दस्ती कमज़ोर कर देता है या उस द्वन्द्व को जल्दी—जल्दी निपटाने की कोशिश करता है तो वह कथानक को उत्सुकताहीन, चरित्रों को सपाट और वस्तु पर उद्देश्य का आरोप ही नहीं करता, बल्कि अपनी कहानी की सार्थकता भी नष्ट करता है। अन्तर्विरोध को अपनी सम्पूर्ण तीव्रता में ग्रहण करके ही किसी कहानी को सफल और सार्थक बनाया जा सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी घटना—प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को कम करना सपाटता है तो उसे वास्तविकता से अधिक तीव्र करना भावुकता है या फिर दिमाग़ी ऐयाशी। अक्सर देखने में आता है कि जिन्हें अन्तर्विरोध के बीच ठीक दिशा मालूम है, वे कहानी को बिलकुल सपाट बना देते हैं और जिन्हें कोई दिशा नहीं सूझती, वे उसे और भी उलझा देते हैं। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' में राजेन्द्र यादव ने इस सत्य को उलझा दिया है, जिसके लिए पाठकों पर उनका आरोप है कि कहानी को लोगों ने ग़लत समझा है। लोग तो ग़लत समझेंगे ही, लेकिन जिनके लिए वे लिखते हैं वे 'कमज़ोर लड़कियाँ' उसे ग़लत नहीं समझेंगी। कमज़ोरी उभारने के लिए ताक़त की बात कही जाती है तो उलझ ही जाती है। किसी आलोचक ने बिलकुल ठीक ही लिखा है कि राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा हुआ होता है यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सत्य है, उतनी ही वस्तु के बारे में भी। शायद इसीलिए वे प्रायः चक्करदार शिल्प गढ़ने के चक्कर में रहते हैं और उनकी भाषा की पेचीदगी

भी सम्भवत: इसी का परिणाम है। 'खेल–खिलौने' कहानी से लेकर 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' तक में इस पेचीदगी और उलझन को देखा जा सकता है। अपनी कहानियों के द्वारा वह एक अतिरिक्त तीव्रता उत्पन्न करना चाहते हैं, फलत: कहीं वह कथानक में पेच डालते हैं तो कहीं भावनाओं के स्तर पर मानसिक गुत्थियाँ। लिहाज़ा, उनके चरित्र विचित्र हो उठते हैं और कहानी अवास्तविक। जिन्हें समस्या को धैर्य के साथ धीरे–धीरे सुलझाने की अपेक्षा परिश्रम से उलझाने में ही एक सुख मिलता है, उनकी कला की यही गति होती है।

इस मामले में मोहन राकेश की स्थिति थोड़ी भिन्न है। जैसाकि उन्होंने 'नये बादल' कहानी–संग्रह की भूमिका में लिखा है, उनकी पैनी दृष्टि अपने आसपास की हर घटना में कहानी ढूँढ़ लेने की क्षमता रखती है–कहानी अर्थात् कहानी की 'वस्तु' अथवा अर्थ। यह बहुत बड़ी बात है। आधुनिक कहानीकारों में यह सामर्थ्य हम केवल यशपाल में पाते हैं। जब कोई कवि हर चीज़ में कवित्व देखने लग जाए और कोई कहानीकार हर घटना में कहानीपन पा जाए तो उसमें बहुत बड़ी सम्भावना का बीज समझना चाहिए। लेकिन इसके बाद भी बहुत–कुछ शेष रह जाता है। यथार्थ की इस विविधता में 'सुपरफ्लुअस' होने का बहुत बड़ा ख़तरा है। यह प्रवृत्ति, अन्धकार में उड़ते हुए जुगुनुओं को पकड़ने–जैसी है। अन्धकार के कणों से मिचमिचाती आँखों को बन्द कर लेने की अपेक्षा जुगुनुओं को देखने का साहस कहीं अधिक सराहनीय है, लेकिन जुगुनू रोशनी नहीं है।

अपने आसपास के वातावरण में उड़ती हुई कहानियों को पकड़कर नि:सन्देह मोहन राकेश ने उन्हें उतनी ही तेज़ी के साथ व्यक्त किया है जो मन में एक 'क्लैश' की तरह कौंध जाती हैं। लेकिन लगता है कि उन्होंने अभी बिजली की कौंध ही पकड़ी है, बिजली की वह शक्ति नहीं पकड़ी है जिसका उपयोग हम अपनी सीमा में उष्णता तथा आलोक के लिए कर सकें जो कि मनुष्योचित सामर्थ्य का प्रतीक है। अत: कुछ लोग मोहन राकेश को 'डाकबँगलों का कहानीकार' कहते हैं। लोकप्रिय कहानीकार सामरसेट माम की तरह मोहन राकेश भी जैसे अपनी यात्राओं में कहानी बटोरते चलते हैं और यात्रा के दौरान प्राप्त कहानियों की तरह ही इनमें गहरी मानवीय संवेदना का अभाव मिलता है। वस्तुत: यात्रा की संवेदनशीलता बड़ी 'सुपरफिशल' होती है। यात्रा में या तो हम अतिरिक्त संवेदनशील होते हैं या फिर नितान्त संवेदनशील। हम परदेश में हैं, पराये लोगों के बीच हैं, 'अपने' लोगों से मुक्त हैं, यहाँ हमारे बारे में कोई कुछ नहीं जानता, आदि बातें मन की स्थिति को सहज नहीं रहने देतीं। इस तरह की कहानियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वे दर्शक का सत्य हैं, द्रष्टा का सत्य नहीं।

बड़ी ईमानदारी के साथ मोहन राकेश ने स्वीकार किया है कि हमारी पीढ़ी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है, जो समूची पीढ़ी के लिए तो सच नहीं है, लेकिन कई कहानीकारों पर ठीक बैठता है। यायावर को अपनी यात्रा में उड़ती हुई कहानियों का टूटा हुआ सत्य ही मिल पाता है, जिसे चाहें तो 'ठहरा हुआ' भी कह सकते हैं। नि:सन्देह कुछ कहानीकार लम्बी यात्राएँ न करते हुए भी वर्तमान जीवन में वस्तुत: 'यायावर' हैं।

और यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो कुछ हाथ लग जाए या दृष्टि में पड़ जाए वह सब सार्थक नहीं है। हर घटना में अन्तर्विरोध को लक्षित करना एक बात है लेकिन युग के मुख्य अन्तर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करना बिलकुल दूसरी बात है। कहानीकार की सार्थकता इस बात में है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के संदर्भ में अपनी कहानियों की सामग्री चुनता है, ऐतिहासिक विकास के दौरान विरोधी शक्तियों के संघर्ष के फलस्वरूप जीवन के नये–नये क्षेत्र खुलते चलते हैं, पिछले युग की दबी हुई शक्तियाँ उभर आती हैं और उभरी हुई शक्तियाँ दब जाती हैं, गौण प्रधान हो जाता है और प्रधान गौण। इस प्रकार सामाजिक अन्तर्विरोध का रूप ही नहीं बदलता बल्कि उसमें भाग लेने वाली अथवा भाग न भी लेने वाली किन्तु भाग होने वाली, हर सामाजिक इकाई के भीतर अन्तर्विरोध के रूप में भी बदल जाते हैं।

वर्तमान वास्तविकता में मेहनत करनेवाले लोगों का उभरना और दूसरों की मेहनत पर जीने वालों का दबना ऐतिहासिक तथ्य है। स्वाभाविक है कि जीवनशक्ति और सौन्दर्य का आधार इस नयी शक्ति के जीवन में दिखायी पड़े और इस नयी शक्ति की समस्याओं की ओर जागरूक कहानीकारों का ध्यान जाये। जहाँ कुछ कहानीकारों ने अपनी मध्यवर्गीय वास्तविकताओं के चित्रण में ही अपनी कला की सार्थकता समझी, वहाँ दूसरे कहानीकारों ने इसमें सम्भवत: कोई रस न पाकर नये जीवन के प्रतीक गाँवों की ओर दृष्टि दौड़ाई। इसे अपनी वास्तविकता से पलायन नहीं कहा जा सकता। अपने वातावरण से लड़ने के लिए पहले भी मध्यवर्ग ने व्यापक जन–शक्ति का सहारा लिया है। इसलिए इन नये कहानीकारों की यह निर्वैयक्तिता सराहनीय है। सम्भवत: शहरों के मध्यवर्गीय जीवन में जीवन और सौन्दर्य को न पाकर ही महत्त्वाकांक्षी कहानीकारों ने गाँवों की राह ली। जो जीवन स्वयं ही निष्कर्ष प्रतीत हो रहा हो उसमें सार्थकता की खोज कहाँ तक की जा सकती है? मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखी हुई आज की शायद ही कोई वास्तविक कहानी ऐसी हो जिसमें जीवन का स्वस्थ सौन्दर्य और

मानव की ऊर्जस्वित शक्ति मिले। इसके विपरीत गाँव के जीवन को लेकर लिखी हुई कुछ कम वास्तविक कहानी में भी ऐसे वातावरण तथा ऐसे चरित्रों के दर्शन हो सकते हैं। रांगेय राघव की 'गदल', मार्कण्डेय के 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला' वाले 'हंसा', शिवप्रसादसिंह की 'कर्मनाशा की हार' वाले 'भैरों पांडे' जैसे सशक्त व्यक्ति केवल चरित्र नहीं बल्कि आज की ऐतिहासिक शक्ति के प्रतीक हैं।

इन कहानियों ने निरर्थक प्रतीत होनेवाले वर्तमान जीवन में भी शक्ति और सौन्दर्य की झलक दिखाकर जीवन की सार्थकता में आशा बँधायी है। इसलिए देखते–देखते इस जीवन के चित्रकार नवोदित कहानीकारों ने कहानी के क्षेत्र में अपनी जगह बना ली। यह सफलता केवल नयी सामग्री की सफलता नहीं है, बल्कि वर्तमान जीवन के एक सार्थक सत्य को पहचानने की सफलता है।

इस कठिन कार्य में हमारे इन नये कहानीकारों को सचमुच उतनी सफलता नहीं मिली है, जितनी अन्य अनुभव–सत्यों के चित्रकार कहानी–लेखकों को मिल चुकी है। किन्तु इसका एक कारण यह है कि उन कहानीकारों को कहानी की एक बनी–बनायी परिपाटी प्राप्त है–वस्तु की भी और वस्तु के अनुरूप शिल्प की भी, जबकि इन नये कहानीकारों को बहुत कुछ अपने अनुभव और अभ्यास से निर्माण करना है। सचमुच 'इसे समझने के लिए पूरे दो युगों की सम्पूर्ण संयोजित चेतना का उपयोग करना पड़ेगा।'

अन्त में इस निबन्ध के उद्देश्य और सीमाओं का समाहार करते हुए निवेदन करना चाहूँगा कि नयी कहानी–कला को अपनी विशेषता के साथ ही सम्पूर्ण साहित्य के मान और मूल्यों के संदर्भ में देखने की आवश्यकता है और उसके लिए कहानी–समीक्षा की एक व्यापक और निश्चित 'भाषा' का निर्माण भी होना चाहिए। मेरी अपनी सीमा यह है कि मैं अब तक मुख्यत: काव्य का पाठक रहा हूँ (जिसका आभास इस कहानी–सम्बन्धी लेख में भी लाचारी के कारण आ गया है) कहानियाँ मैंने कम पढ़ी हैं और उनमें अन्तर्निहित सत्य को समझने तथा व्यक्त करने की 'भाषा' भी अब तक नहीं तय कर पाया हूँ। अपनी सीमाओं में संकोच का अनुभव करते हुए भी मेरा विश्वास है कि कहानियों के अधिक और समर्थ पाठकों के सहयोग से प्रस्तुत आधार पर कहानी–समीक्षा के सन्तुलित प्रतिमान तैयार हो सकते हैं।

('कहानी':1958)

कहानी क्या सचमुच ही, जैसा उस आयरिश लेखक ने लिखा है, गुरिल्ला लड़ाई है, जो सरहदों पर लड़ी जाती है? हिन्दी में कहानी की इतनी चर्चा, जब कि दूसरे देशों में इस विषय पर एकदम सन्नाटा—आखिर इस घटना की क्या व्याख्या है? और क्या हिन्दी में भी कहानी का सच्चा संघर्ष इस शाब्दिक संग्राम की बाहरी सीमाओं पर नहीं चल रहा है? एक समय रूस के ऐसे ही सरहद पर चेख़ोव की कहानियों को लड़ना पड़ा था, और फिर उसके बाद अमेरिकी सरहद पर हेमिंग्वे और उसकी पीढ़ी को। बहरहाल, हिन्दी में उत्तर—शती का पहला दशक निश्चय ही एक नये कहानी—उत्थान के लिए याद किया जायगा। कुछ की इस बात के लिए, कि देखते—देखते एक दशक के अन्दर दर्जनों व्यावसायिक—साहित्यिक पत्रिकाएँ निकल गईं, और उनके साथ नये कहानीकारों की एक पूरी फ़ौज खड़ी हो गई; और कुछ इस बात के लिए भी कि हिन्दी में कहानी—सृजन की नयी सम्भावना दिखायी पड़ी। शोरगुल के बीच यह सृजनात्मक सम्भावना कहीं दब न जाय, इसलिए इतिहास के पूरे परिदृश्य में वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना आवश्यक हो उठा है।

आज़ादी के साथ भारत में वह शिक्षित मध्यवर्ग स्थापित, विकसित और संवर्धित हुआ, जो साहित्य के इतिहास में कहानी का जन्मदाता है। शुरू के तीन—चार वर्षों की संक्रमणकालीन अराजकता की स्थिति जैसे ही समाप्त हुई, और संविधान—निर्माण के द्वारा देश में जनतंत्र क़ायम हो गया, साहित्य—सृष्टि के लिए एक नया वातावरण मिला। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने राजकीय स्वीकृति प्राप्त करके भारतीय साहित्य में एक नयी ऐतिहासिक भूमिका शुरू की और लोकप्रिय साहित्य रूप कहानी को स्वभावतः सबसे अनुकूल वातावरण मिला। यह आकस्मिक नहीं है कि जो 'कहानी' पत्रिका सन् 1938 में निकलकर कुछ दिनों बाद ही लड़ाई के कारण बंद हो गई, उसे फिर निकालने का हौसला सरस्वती प्रेस को 1954 में हुआ। सरस्वती प्रेस की 'कहानी' हिन्दी में इस दशक की कहानी की पहली साहित्यिक पत्रिका ही नहीं, बल्कि एक तरह से इस पूरे कहानी—दशक की शुरूआत है। कहानियाँ 'हंस', 'प्रतीक', 'कल्पना' आदि पत्रिकाओं में भी छपती थीं, और छपने लगी थीं। निश्चय ही काफ़ी पहले से, किन्तु 'कल्पना' को छोड़कर शेष 1954 आते—आते बंद हो गयीं। इसके अतिरिक्त बिलकुल कहानियों की पत्रिका निकलने की कुछ और ही बात है।

तब तक साहित्य में कहानी का स्थान प्रायः वही था, जो इन साहित्यिक पत्रिकाओं में कहानी को दिया जाता था। नयी प्रतिभाएँ मुख्य रूप से अन्य विधाओं की ओर उन्मुख थीं। इसलिए

जब 'कहानी' पत्रिका निकली, तो आभास हुआ कि कहानी–क्षेत्र में भी कुछ नयी प्रतिभाएँ आने लगी हैं, और शायद इसीलिए पूरी एक पत्रिका की आवश्यकता महसूस हो रही है। महसूस तो इस बात को संभवत: और लोग भी करते रहे होंगे, किन्तु उस समय इसको पहली बार वाणी दी अप्रैल'54 की 'कल्पना' में 'साहित्य–धारा' के अन्तर्गत 'चक्रधर' नाम से लिखनेवाले एक नये लेखक ने। वक्तव्य इस रूप में आया कि एक लम्बे समय के बाद छोटी कहानियाँ फिर से अपनी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने लगी हैं। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल को छोड़कर सहसा पाठक हिन्दी–कहानियों में किसी भी ऐसे स्थान पर रुकने को बाध्य नहीं हुआ, जहाँ थमकर एक पीढ़ी ऐसी मिली हो, जिसने छोटी कहानियों की वस्तु और शैली समृद्ध की हो। इधर लेखकों की एक ऐसी पाँत उठ खड़ी हुई है, जो अपनी जगह, रुचि और सामाजिक संस्कार की विभिन्नता के साथ, पाठकों में अपने ढंग से पहुँच रही है। यह कथन वस्तुस्थिति के कितना निकट था, इसकी पुष्टि हुई आगे चलकर 'कहानी' के संचालक–संपादक श्रीपतराय के इन शब्दों से कि "युद्धोत्तर हिन्दी–कहानी में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया था, वह अब जैसे टूट चला है, और स्वस्थ प्रवृत्तियाँ बलशाली हो चली हैं।"

इस प्रकार कहानी में एक नयी पीढ़ी केवल आई ही नहीं, बल्कि एक गतिरोध के बाद आई–गतिरोध को तोड़कर। गतिरोध इस प्रकार का था, कि "जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि युद्धपूर्व की बड़ी प्रतिभाएँ मानी जाती थीं, और 1945 तक पहुँचते–पहुँचते इनकी रचनाशक्ति को किसी ने ग्रस लिया। कुछ लोग कभी–कभी अच्छी–न–बुरी कहानियाँ लिखते रहे, पर कुछ बिलकुल ही मौन हो गए।

यशपाल और अज्ञेय को संभवत: अपवाद कहा जा सकता है। नये कहानीकारों ने नि:सन्देह, इनसे प्रेरणाएँ ली हैं। किन्तु क्या इनके परवर्ती कहानी–कृतित्व में सचमुच ही कोई रचनात्मक संभावना दिखती है? अज्ञेय ने निश्चय ही युद्ध के मोर्चे से लौटकर साहित्यिक सक्रियता का परिचय दिया। 'प्रतीक' के संपादन के साथ उन्होंने कविता और उपन्यास की तरह कहानी–रचना की दिशा में भी उत्साह से कदम बढ़ाया, और वह भी युद्धोत्तरकालीन विविध सामाजिक अनुषंगों का आभास देते हुए। किन्तु क्या 'शरणार्थी' और 'जयदोल' की कहानियाँ स्वयं लेखक के पूर्ववर्ती प्रयासों का परिमार्जन–मात्र नहीं हैं? आकस्मिक नहीं है कि कुछ दिनों बाद 'कलाकार की मुक्ति' के साथ उन्होंने कहानी से एकदम मुक्ति ले ली। जब 'वस्तु–सत्य' हेय प्रतीत होने लगा, और 'काव्य–सत्य' अथवा 'प्रतीक–सत्य' श्रेय, तो कहानी की वास्तविक

भूमि का छूटना निश्चिय था। विचित्र संयोग है, कि इस युग में आकर यशपाल और अज्ञेय दोनों ही पुराण–गाथा की ओर मुड़ गए। एकदम दो भिन्न राहों के राही इस मामले में एक मंजिल की ओर चल पड़े–'प्रतीक–सत्य' की खोज में।

स्पष्ट है कि ये लेखक नये संदर्भ से ठीक–ठीक नहीं जुड़ पाये। और यह सत्य है कि स्वाधीनता के बाद हमारा साहित्य सर्वथा एक नये संदर्भ में आ पड़ा। इस संदर्भ से जुड़े बिना लेखन तो संभव है, लेकिन साहित्य–सृजन नहीं। नये भावबोध पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय ने स्वयं सवीकार किया है, 'केवल सन्दर्भ नया होता है, और वही नया अर्थ दे देता है। जो नये सन्दर्भ को पहचानने को तैयार है, वह अपने–आप नया होता जाता है, और उसमें से नया अर्थ बोलने लगता है।' और इस दृष्टि से कहना न होगा, कि अज्ञेय की तत्कालीन कहानियों में संदर्भ के अनुरूप नया अर्थ बोलता न सुना गया। दरअसल, इस पीढ़ी को अपने पुराने पड़ जाने का ठीक–ठीक एहसास तभी हुआ, जब एक नयी पीढ़ी का नया कृतित्व सामने आया।

इस एहसास का स्पष्ट पता चलता है पहली बार श्रीपतराय के इस कथन से, जब वे 'कहानी:नववर्षांक–1956' में कहते हैं कि "बीच–बीच में मुझे संदेह होने लगता है कि कहीं मैं समय की गति से पीछे तो नहीं हूँ, और इसी कारण मुझे हिन्दी–कहानी में वह उन्नति परिलक्षित नहीं हो रही है, जिसकी आशा करनी चाहिए। यह स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं कि कहानी का स्वरूप बदल रहा है, और मैं शायद अपने पुराने संस्कारों के कारण कहानी से वह माँग रहा हूँ, जो आज उसका लक्ष्य ही नहीं है।"

इस संदर्भ में अनायास ही अंग्रेजी के प्रतिष्ठित कथाकार ई॰ एम॰ फ़ोर्स्टर का वह कथन याद आ जाता है: मैं सोचता हूँ कि जिन कारणों से मैंने उपन्यास लिखना बन्द कर दिया, उनमें से एक कारण यह है कि संसार का सामाजिक रूप इतना बदल गया। मैं पुराने ढंग की, परिवारों वाली दुनिया के बारे में लिखने का आदी था, जो अपेक्षाकृत शान्त थी। वह सब चला गया। और यद्यपि मैं नयी दुनिया के बारे में सोच सकता हूँ, फिर भी उसे कथाकृति में नहीं रख सकता।

इस प्रकार की आत्म–स्वीकृतियाँ नये–पुराने के लम्बे संघर्ष के बाद सामने आती हैं, और कहना न होगा कि हिन्दी–कहानी में वह समय इस संघर्ष की शुरुआत का था।

उस समय हिन्दी–कहानीकारों की इस नयी पीढ़ी को एक और तरह की कहानियों से मोर्चा लेना पड़ा, जिन्हें उर्दू–कहानीकार कृश्न चन्दर की विकृति कहा जा सकता है। 'हंस', 'नया साहित्य' और 'नया पथ' के तत्कालीन अंक इन कहानियों से भरे मिलेंगें। नुस्खे के मुताबिक ये 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज़्म' की कहानियाँ कहलाती थीं; वही 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज़्म', जिसकी ख़ामियाँ अब जाकर हंगरी के मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाज़ की पुस्तक 'समकालीन यथार्थवाद का अर्थ' से प्रकट हुई। नयी पीढ़ी के बहुत–से कहानीकारों का जन्म इसी दौर में हुआ और कुछ ने स्वयं भी इस रंग की कहानियाँ लिखी थीं। इसलिए इस कहानीशैली की कृत्रिमता का एहसास भी सबसे ज़्यादा इन्हीं कथाकारों को हुआ। आज़ादी के साथ देश का संदर्भ बदलते ही इन कहानियों की अवास्तविकता उघड़ गई। इस मोहभंग का पता तत्कालीन पत्रिकाओं में व्यक्त नये लेखकों की प्रतिक्रियाओं से चल सकता है।

उदाहरण के लिए, अमृतराय की 'लाल धरती' पर मई–जून'52 के 'प्रतीक' में सत्येन्द्र शरत् की समीक्षा का यह अंश: "शैली में कताई का गुण–जिसके कृश्न चन्दर मास्टर हैं, और जो कि उनकी समस्त रचनाओं का एकमात्र सौन्दर्य या आकर्षण है–अमृतराय के इन गद्यांशों में भी मिलता है। यानी तकली पर कपास लगा दी, और तकली चला दी। जब सूत बहुत लम्बा हो गया, तो उसे झटके से तोड़ लिया, और तकली पर लपेट दिया। लीजिये, कहानी तैयार हो गई।" सर्वविदित है कि उस समय ऐसी कताई करनेवाले अनेक अमृतराय थे। और कुछ दिनों तक कहानी के नाम पर ऐसे गद्यांशों का प्रचार था।

शैली के अतिरिक्त विषय–वस्तु में भी कुछ दिनों के लिए हिन्दी–कहानी कृश्न चन्दर–शैली की उर्दू–कहानियों से आक्रान्त थी। स्वयं 'कहानी' पत्रिका के आरम्भिक अंकों में भी ऐसी कहानियों के अनुवाद भरे रहते थे। हाजरा मसरूर की इसी तरह एक एक कहानी 'कोठी और कोठरी' को लेकर अक्तूबर' 57 की 'कल्पना' में एक टिप्पणी निकली : 'साहित्य–धारा' के अन्तर्गत, जिसमें कहा गया है कि किस प्रकार एक गरीब की बीवी, धनी सेठ और शराब जैसे चंद नुस्खों के द्वारा तथाकथित 'प्रगतिशील' कहानी तैयार की जाती है और ग़रीबी के वास्तविक चित्रण की जगह ग़रीबी का मज़ाक उड़ाया जाता है। इसलिए "आज नये कहानी पाठक एवं जीवन के प्रत्यक्ष दर्शक के लिए वह एक नकली और बेमानी चीज़ लगने लगती है।"

इन दो तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से स्पष्ट है कि हिन्दी–कहानी की नयी पीढ़ी किस प्रकार पुरानी कथा–रूढ़ियों और नुस्ख़ों से सर्वथा मुक्त होकर वास्तविक जीवन से पुन: जुड़ने के

लिए आकुल थी। वैसे 'जीवन' और 'यथार्थ' की बात कौन नहीं जानता! पुराने लेखक भी 'जीवन' और 'यथार्थ' के नाम पर ही यह सब करते रहे। किन्तु कौन नहीं जानता कि जीवन और यथार्थ को पकड़ने के लिए एक युग में जो सूत्र ढूँढ़ा जाता है, वह थोड़े ही दिनों में एक जड़ और मुर्दा फार्मूला साबित होता है, और जीवन में गहरे जाने के लिए बेकार नहीं, बाधक हो जाता है। इसीलिए जब कोई नयी पीढ़ी नये सिरे से 'जीवन' और 'यथार्थ' की पुकार मचाने लगे तो समझना चाहिए कि चिर–परिचित गोलमोल शब्दों के ज़रिये किसी नये सूत्र की तलाश की जा रही है। इतिहास के नियम से इसी तरह एक युग का सत्य दूसरे युग के लिए झूठ हो जाता है, और झूठ के द्वारा सिर्फ़ लीक पीटी जा सकती है। साहित्य–सृजन के लिए तो उस झूठ को 'झूठ' साबित करना पड़ेगा। इस समय नये लेखक बार–बार जो सत्य का आग्रह कर रहे थे, उसका यही अर्थ था।

इसी सत्य के आधार पर नये कहानीकारों ने प्रतिष्ठित कहानीकारों से सृजनात्मक होड़ ली, और इस होड़ का साफ़ आईना है, तत्कालीन 'कहानी' पत्रिका! 'कहानी' के अन्दर जिस गति से नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की जगह लेती चली गई, वह शुरू के दो वर्षों में ही स्पष्ट हो जाता है। पहले नववर्षांक में जहाँ अस्सी प्रतिशत कहानियाँ पुराने कहानीकारों की हैं, वहाँ दूसरे नववर्षांक में अनुपात एकदम उलट जाता है– अस्सी प्रतिशत हो जाते हैं नये कहानीकार। और यह नयी पीढ़ी पर अतिरिक्त कृपा या प्रोत्साहन–मात्र नहीं है। विशेषांक में नयी पीढ़ी का कृतित्व स्पष्टत: श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से 'कहानी: नववर्षांक–1956' का ऐतिहासिक महत्त्व है, और इसका अधिकांश श्रेय कृती संपादक भैरवप्रसाद गुप्त को है। हिन्दी जगत् में इस विशेषांक की जितनी व्यापक चर्चा हुई; और जैसा सहर्ष स्वागत हुआ, उससे कहानी की नींव पड़ गई। नि:सन्देह इस विशेषांक की नयी कहानियाँ परम्परागत कहानी के दायरे से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, किन्तु इनसे एक नये समारम्भ का आत्मसजग आभास अवश्य मिलता है। इतना ही नहीं हुआ कि नये ढंग की कहानियाँ लिखी गईं, नये कहानीकारों को इसका भी एहसास था कि वे नया लिख रहे हैं। महत्त्वपूर्ण है यह आत्मसजगता!

'कहानी : नववर्षांक–1956' इसलिए भी उल्लेखनीय है कि इसी में पहली बार स्पष्टत: प्रश्न के रूप में 'नयी कहानी' की बात उठायी गई।

संभवत: इस कहानी–विशेषांक की रचनात्मक संभावना का ही प्रभाव था कि अगले वर्ष महाराष्ट्र–राष्ट्रभाषा–सभा, पूना ने 'कहानियाँ–1955' नाम से एक कहानी संकलन ही प्रकाशित कर दिया। यह एक घटना है हिन्दी–कहानी के इतिहास में। इसे एक तरह से

हिन्दी–कहानी के नव जागरण का दस्तावेज भी कह सकते हैं। 'निकष', 'ज्ञानोदय' जैसे कुछ अन्य पत्रों से थोड़ी–सी कहानियाँ लेने के बावजूद यह संकलन लगभग अस्सी प्रतिशत कहानियों के लिए 'कहानी' के उक्त नववर्षांक का ऋणी है। कहानियों की सूची पर एक नज़र डालने से ही पता चल जाता है कि वर्ष कितना सृजनशील था। 'गदल', 'रसप्रिया', 'गुलकी बन्नो', 'मवाली', 'हंसा जाई अकेला', 'डिप्टी–कलक्टरी', 'चीफ़ की दावत', 'बादलों के घेरे', 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' जैसी दस महत्त्वपूर्ण कहानियाँ यदि सिर्फ़ एक वर्ष में लिखी जाएँ, तो उस युग की सृजनात्मकता के प्रति उत्साह का अनुभव क्यों न हो?

यह वही समय है, जब हिन्दी में 'निकष', 'संकेत', 'हंस–अर्द्ध वार्षिक' जैसे बड़े–बड़े साहित्य–संकलन निकाले गए, जिनमें नवलेखन की सभी विधाएँ दृष्टि, वस्तु और शिल्पगत विविधताओं–सहित एक साथ प्रकाश में आई। नयी पीढ़ी की कहानियाँ यहाँ नयी कविता के साथ–साथ छपीं। ध्यान देने की बात है कि उस समय नयी पीढ़ी के बीच 'नयी कविता' बनाम 'नयी कहानी' जैसा कोई विवाद न था। 'हंस–अर्द्धवार्षिक' संकलन में जहाँ मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई की कहानियाँ छपीं, वहीं निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' और 'मुक्तिबोध', केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा आदि की 'नयी कविता' भी साथ–साथ पढ़ने को मिली। इसी प्रकार 'संकेत' में अमरकांत, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश की कहानियों के साथ रघुवीर सहाय की 'खेल' कहानी भी प्रकाशित हुई। यही बात 'निकष' में प्रकाशित कहानियों के बारे में भी कही जा सकती है। सभी जानते हैं कि 'निकष' के संपादक 'नयी कविता' के पक्षधर हैं, फिर भी उसमें मोहन राकेश, शेखर जोशी, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, रेणु आदि ने सहर्ष अपनी कहानियाँ दीं। जहाँ उनकी बगल में रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, राजेन्द्र किशोर जैसे लेखकों की भी कहानियाँ पढ़ने को मिलीं, यानी ऐसे लेखकों की कहानियाँ, जिनका सम्बन्ध मूलत: 'नयी कविता' से था, और आज जिन्हें 'नयी कहानी' के पक्षधर नये कहानीकार तो क्या, कहानीकार–मात्र मानने के लिए भी तैयार नहीं। यह वही समय है जब चिरपरिचित प्रगतिशील लेखकों की ओर से इलाहाबाद से साहित्यकार सम्मेलन (1957) हुआ, जिसमें एक मंच पर सभी विचारधाराओं और विधाओं के लेखक पूरे सद्भाव के साथ विचार–विनिमय के लिए अत्यधिक संख्या में एकत्र हुए। ऐसा लगा कि हिन्दी का पूरा नवलेखन पारस्परिक भिन्नता को पहचानते हुए भी एक नये स्तर पर पुनर्गठित होने की स्थिति में पहुँच गया है।

नवलेखन के इस व्यापक परिवेश को देखते हुए, नयी कविता के वज़न पर कहानी में भी

नयी कहानी का प्रश्न उठना सर्वथा संगत था, और इस पर किसी के चौंकने लायक कोई बात न थी। क्योंकि किसी भी साहित्य के लिए यह स्पृहणीय स्थिति नहीं हो सकती कि कविता तो एक भावबोध पर चले, और कहानी–उपन्यास आदि गद्य–कृतियाँ किसी अन्य भावबोध के रास्ते। यदि समूचा नवलेखन एक ही ऐतिहासिक सन्दर्भ के प्रति प्रतिश्रुति है, तो जीवन–दृष्टियों के भेद और वैयक्तिक विशिष्टताओं के बावजूद समूचे नवलेखन के मूल में एक–सी बुनियादी संवेदनाओं का होना ऐतिहासिक आवश्यकता है और फिर प्रश्न संवेदना का ही नहीं, बल्कि एक–सी सृजनात्मक भाषा का है, जिसके माध्यम से, चाहे गद्य में हो, चाहे पद्य में, नवलेखन की रचना संभव होती है। इसलिए जहाँ गद्य समर्थ होता है वहाँ कविता गद्य से भाषा–शक्ति ग्रहण करती है; और जहाँ कविता में भाषा का निखार पहले हो जाता है, वहाँ गद्य कविता के प्रयोगों से अपनी भाषा को तराशता है। हिन्दी–साहित्य की उस असंगति से प्राय: सभी परिचित हैं, जब गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जा रहा था, लेकिन कविता ब्रजभाषा में हो रही थी। किन्तु उस खाई के पट जाने के बाद एक ऐसी भी स्थिति आई, जब कविता की भाषा गद्य से अधिक संवेदनशील हो गयी। अब उत्तरशती के कथाकार इसे स्वीकार करने में शायद अपमान का अनुभव करेंगे। जो हो, 1956–57 का समय इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, कि बहुत दिनों तक अलग–अलग रहने के बाद हिन्दी–कहानी समूचे नवलेखन से सम्पृक्त होने की स्थिति में आ सकी। इसी सम्पृक्ति के चलते, कहते हैं, मराठी में नयी कविता के समानान्तर ही नयी कहानी का विकास हो गया, और इस प्रकार नयी कहानी मराठी में हिन्दी से पहले आ गई। इसके विपरीत हिन्दी में नयी कहानी का विकास कुछ देर के लिए विलंबित हो गया, तो स्पष्ट ही समूचे नवलेखन से कटे रहने के कारण।

कहना न होगा, कि संदर्भ अलग होने का मतलब ही है पिछड़ जाना और पिछड़ने की स्थिति को बनाये रखने की बात वही कर सकता है, जिसे पिछड़ेपन में ही विशेष सुविधाएँ मिलने की आशा हो, क्योंकि सह–भाव में उनकी विशेष सुविधाओं के कट जाने का ख़तरा हो सकता है। क्या नवलेखन से कहानी को अलग खाने का नारा भी यह उद्देश्य ध्वनित नहीं करता? साहित्य के क्षेत्र में भी क्या यह एक अलग नागालैंड या द्रविड़स्थान–जैसी माँग नहीं है? बहरहाल साहित्य में 1956–57 के आसपास ऐसी माँग नहीं उठी थी। बल्कि स्थिति इसके एकदम उल्टी थी, और इतिहास साक्षी है कि इससे सबसे अधिक लाभ कहानीकारों की इस नयी पीढ़ी को हुआ। स्वयं कहानी के अन्तर्गत जो परिवर्तन आया, सो तो आया ही, कहानी हिन्दी–जगत् के आकर्षण का केन्द्र हो गई। वस्तुत: केन्द्र में स्वयं कहानी जा नहीं

पहुँची, बल्कि जहाँ वह थी, वह कोना ही सहसा रंगमंच का केन्द्र बन गया, और इस तरह केन्द्र–स्थित कविता देखते–देखते एक किनारे जा पड़ी। बहुतों को आश्चर्य हुआ, कि एक गौण साहित्य–विधा इतनी प्रमुख कैसे हो उठी!

'नयी कहानी' की आवाज, वस्तुत: एक रचनात्मक संभावना को देखकर उठी थी, तो आज भी नयी पीढ़ी के कहानीकारों की पहली कृतियों में साफ झलकती है। ये कृतियाँ आज भी ताज़ा मालूम होती हैं, क्योंकि मूल में सृजनात्मक प्रयास है। एक लम्बे अवकाश के बाद हिन्दी–कहानी में जीते–जागते आदमी दिखायी पड़े, तो लगा कि कहानी में एक रचनात्मक खोज की शुरूआत हो गई। वैसे, साफ़–सुथरी कहानियाँ उस समय भी कम न थीं, लेकिन आंचलिक रेखाचित्रों की जीवंतता के सामने वे निष्प्राण प्रतीत हुईं। उल्लेखनीय है कि उसी 'प्रतीक' में राजेन्द्र यादव की कहानी 'खेल–खिलौने' भी छपी, और शिवप्रसादसिंह की 'दादी माँ' की तुलना में 'खेल–खिलौने' में कहीं ज़्यादा कारीगरी और पच्चीकारी है, लेकिन खुली दाद मिली सीधी–सहज 'दादी माँ' को। दूसरी ओर मोहन राकेश एक अरसे से 'साफ़–सुथरी' कहानियाँ लिखते आ रहे थे, लेकिन पहला कहानी–संग्रह 'पान–फूल' है मार्कण्डेय का, जिसकी ओर हिन्दी–जगत् की सहसा दृष्टि गई। यों 'पान–फूल' की तुलना में 'नये बादल' की कहानियाँ कहीं ज़्यादा साफ़–सुथरी और चमत्कारपूर्ण हैं। निश्चय ही इस आकर्षण के मूल में बहुविज्ञप्त आंचलिकता–मात्र न थी। इसी तरह कारीगरी के विपरीत सहजता को दाद देने का मतलब कला के एक पक्ष की जगह दूसरे पक्ष पर ज़ोर देना–भर नहीं था। इस आकर्षण का कारण एक वस्तु–विशेष या एक शिल्प–विशेष नहीं, बल्कि वस्तु और शिल्प दोनों में निहित एक नयी सृजन–दृष्टि थी। दूसरे सफल लेखक जहाँ पहले की अच्छी कहानियों–जैसी एक और कहानी लिखने की कोशिश कर रहे थे, वहाँ नया कहानीकार एक जीते–जागते आदमी, एक नये जीवन–अनुभव को तराशकर कहानी का आकार दे रहा था। कहना न होगा कि इन दोनों प्रयासों में बड़ा अन्तर है। ये दो विपरीत दिशाएँ हैं : एक लीक पीटने या ज़्यादा–से–ज़्यादा 'मज़मून छीनने' की तो दूसरी नये सृजन की। जिस प्रकार शेरउड ऐंडरसन की गद्य–कृति 'वाइन्सबर्ग–ओहियो' की आंचलिक कहानियों ने अमेरिकी कहानी के इतिहास को नया मोड़ दिया, उसी तरह हिन्दी में भी ये आंचलिक कहानियाँ एक नये युग का सूत्रपात कर रही थीं।

उल्लेखनीय है, कि इस काल की प्रशंसित कहानियों में अधिकांश ठेठ शास्त्रीय अर्थ में 'कहानी' नहीं बल्कि बहुत–कुछ रेखाचित्र–जैसी हैं: चाहे वह 'गुलरा के बाबा' हो या

'गदल', 'डिप्टी–कलक्टरी' हो अथवा 'गुलकी बन्नो', 'कोसी का घटवार' हो या 'भवाली'। परंपरा के रक्षक चाहे, तो इन्हें 'चरित्र–प्रधान' कहानी के वर्ग में रखकर संतोष कर सकते हैं, किन्तु इस ऐतिहासिक परिवर्तन की उनके पास क्या व्याख्या है, कि एक साथ पूरी–की–पूरी पीढ़ी सीधे जीते–जागते चरित्रों के अंकन की ओर चल पड़ी? कहानी के परंपरा–प्राप्त फार्मूले के प्रति सहसा उदासीनता और सीधे जिन्दगी के चरित्रों में इतनी दिलचस्पी लेने का क्या कारण है? जीवन के किसी फार्मूले की अपेक्षा स्वयं 'जीता–जागता आदमी' क्यों इतना महत्त्वपूर्ण हो उठा? नये कहानीकारों ने अपने 'निजी अनुभवों' का ही सहारा लेने का निश्चय क्यों किया? इन लेखकों ने किसी बनी–बनायी विचारधारा को ज्यों–का–त्यों मानकर कहानियाँ क्यों नहीं बनायीं? क्या यह एक 'प्रामाणिकता' की खोज नहीं है?

आज इन कहानियों की वास्तविकता के बारे में चाहे जो कहा जाय, लेकिन तत्काल तो इन्होंने अपने 'सच' होने का पूरा एहसास कराया ही। और नहीं तो कम–से–कम इतना एहसास तो अवश्य ही कराया, कि ये लेखक के 'निजी अनुभव' पर आधारित हैं। यहाँ चरित्र जिस प्रकार अपने जीवंत परिवेश की सारी बारीकियों के साथ चित्रित हुए, उससे लगा कि लेखक की दृष्टि अपेक्षाकृत 'पूरे सजीव आदमी' पर है, साथ ही स्वयं उसकी स्थिति में जाकर अनुभव करने की क्षमता भी मौजूद है। 'अनुभूति की सच्चाई' और 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का एहसास करा देना इनका सबसे प्रमुख आकर्षण बना। नव–अरस्तूवादी समीक्षाशास्त्र की भाषा में ये कहानियाँ 'रेहटारियल' न होकर 'इमिटेटिव' हैं।

और यह विशेषता हमें इन कहानियों के ऐतिहासिक सन्दर्भ की ओर ले जाती है। दरअसल इन कहानियों का भावबोध आज़ादी के प्रथम आवेग की मनोदशा के पूरे मेल में है। यह तथ्य है कि पुरानी पीढ़ी के अनेक लेखक नये स्वाधीन भारत के संदर्भ को पूरी तरह समझने तथा समझकर उसके साथ अपने–आप को जोड़ने में असमर्थ रहे। एक ओर वे 'शाश्वतवादी' लेखक हैं, तो तब से आज तक यही दुहरा रहे हैं कि स्वाधीनता–प्राप्ति को हिन्दी–साहित्य के इतिहास की विभाजक–रेखा मानना ग़लत है, क्योंकि इससे साहित्य में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। (गो, सरकारी पत्रों में स्वतंत्रता–दिवस के अवसरों पर 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी–साहित्य' शीर्षक से सबसे ज़्यादा लेख इन्होंने ही लिखे), दूसरी ओर वे 'क्रान्तिकारी' लेखक हैं, जिनके लिए उस समय आज़ादी झूठी थी, लेकिन पीछे लाइन बदल जाने के बाद जिन्होंने सिर झुकाकर फिर स्वीकार कर लिया, कि आज़ादी सच्ची है, यद्यपि भीतर से उन्हें तब भी इसका पूरा–पूरा एहसास न हो सका। यह भी एक विडम्बना ही है कि नितान्त

'क्रान्तिकारियों' और 'शाश्वतवादियों' के निष्कर्ष एक ही थे। विचार के क्षेत्र में प्रायः इसी तरह दो ध्रुवान्त एक बिन्दु पर मिलते हैं; और आकस्मिक नहीं है,जो आज भी 'नयी कहानी' के विरूद्ध दोनों एक ही पंक्ति में खड़े हैं। यदि एक के 'चिरशाश्वत' के सामने सारा परिवर्तन असत्य है, तो दूसरे की चरम क्रान्तिकारी छलाँग के आगे हर परिवर्तन नगण्य है। १८० डिग्री का चक्कर लगाकर दोनों दृष्टियाँ अंततः एक बिन्दु पर मिलती हैं, और प्रमाणित करती हैं कि दोनों ही अपने वर्तमान संदर्भ से एकदम बाहर हैं: एक पीछे है, तो दूसरी आगे; एक अतीत में है, तो दूसरी भविष्य में। प्रत्यक्ष अनुभव से दूर दोनों ही अपनी–अपनी पूर्व–निर्दिष्ट धारणाओं तथा सिद्धान्तों में वन्द हैं।

स्पष्ट ही ये 'सिद्धान्त' प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत पड़ते थे; इसलिए विचारधारा–मात्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और प्रत्यक्ष अनुभव पर अतिरिक्त वल दिया गया। नये लेखकों द्वाग वार–वार दुहराये जानेवाले 'अनुभूति', 'ईमानदारी', 'सच्चाई' आदि शव्द इसी संदर्भ में कुछ अर्थ रखते हैं, और इसी पृष्ठभूमि में नवलेखन की विशिष्टता का उद्घाटन होता है। यह मानसिक मुक्ति राजनीतिक आज़ादी की ही देन थी। आज़ादी ने एकबारगी अनेक रूढ़ विचारधाराओं को निस्तार साबित कर दिया। अकेला अनुभव भले ही बहुत दूर न ले जाय, लेकिन उस समय 'निजी अनुभव' ही लेखक को एकमात्र सहाग मालूम हुआ, और उसे लगा कि किसी भी क़ीमत पर अपनी अनुभूति–क्षमता को सतत् जाग्रत् रखना अपने जीवन और अपने सृजन के लिए अनिवार्य है। शेखर जोशी की कहानी 'वदबू' जैसे इसी अनुभूति–क्षमता को सतत् जाग्रत रखने का सटीक उदाहरण है। कारखाने में काम करनेवाले हाथों की 'बदबू', ऐसा न हो कि कुछ दिनों वाद 'बदबू' लगे ही नहीं–मज़दूर की यह चिन्ता जैसे स्वयं नये लेखक की चिन्ता है।

गरज़ कि गजनीतिक आज़ादी से नयी पीढ़ी ने सचमुच अपने को स्वतंत्र महसूस किया। उसे लगा कि वह स्वयं अपनी आखों से हर चीज़ देख सकता है, और अपने दिमाग़ से सोच सकता है। और उसने देखा कि आज़ादी के साथ अँधेरे में से एक जीता–जागता भारत निकल आया है और यह भारत बड़ा है, घना है, ठोस है, और उसकी इच्छा हुई कि हर चीज़ को अपने हाथों से छूकर देखे कि वह क्या है बहुत–सी चीज़ें ऐसी थीं, जिन्हें वह अभी तक बड़े–बड़े अथवा गोल–मोल शब्दों के रूप में जानता–सुनता आ रहा था, अब जैसे उसको सभी–कुछ स्वयं देखने की आज़ादी मिल गई, और लगा कि ज़िन्दगी जीने लायक है। कुछ समय के लिए मन की सारी कड़ुवाहट कहीं धुल गई, और लगा कि सारी बर्बादियों के

बावजूद कि ये अवशिष्ट अच्छाइयाँ शायद ज़्यादा दिन न टिक पाएँ, हम उन्हें पाथेय के रूप में सँजोने लग गए– इस ममत्व से कि फिर ये देखने को न मिल पाएँगी। उल्लेखनीय है कि बाबा, दादी, दादा आदि को लेकर इस नयी पीढ़ी ने अनेक कहानियाँ लिखी। कुछ लोगों को इस पर आश्चर्य भी हुआ कि यह कैसी नयी पीढ़ी है, जो अपने बारे में न लिखकर पुरानी पीढ़ी के लोगों के बारे में लिखना पसंद करती है। इसी आधार पर किसी ने इसे वर्तमान से पलायन कहा, तो किसी ने रोमांटिसिज़्म। जल्दबाज़ी में यह नहीं दिखायी पड़ा, कि पुरानी पीढ़ी के इन चित्रों की छाया में कहीं–न–कहीं नयी पीढ़ी स्वयं है। बल्कि सच पूछा जाय, तो पुरानी पीढ़ी के माध्यम से नयी पीढ़ी का यह आत्मान्वेषण ही था। इन्हें एकदम रोमांटिक समझना या तो भ्रम है, या अनजाने ही रोमांटिसिज़्म का अर्थ–विस्तार। यदि अपने पिछले रोमांटिक युग की तद्विषयक कहानियों को ठीक से मिलाकर देखें तो यहाँ ऐसी अनेक बारीक रेखाएँ मिलेंगी, जो अपने समग्र प्रभाव में एक विशिष्ट संवेदना उत्पन्न करती हैं। निश्चय ही ये प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' और 'सुजान भगत' जैसी आदर्शवादी–रोमांटिक कहानियों से काफी भिन्न हैं। वैसे तत्कालीन समूचे नवलेखन को देखते हुए ये कहानियाँ सर्वथा अनुरूप भावबोध सूचित करती हैं। क्या नयी कविता में भी उस समय इसी प्रकार की संवेदनाएँ व्यक्त नहीं हुई? इस संवेदना में भावुकता का रंग अवश्य अधिक है, किन्तु ज़िन्दगी के गहरे संपर्क ने आगे चलकर भावुकता से उठने वाली टीस को यथार्थ की आँच में पकाकर गहरी तल्ख़ी का रूप दे दिया। और संदर्भ–परिवर्तन के साथ इनमें धीरे–धीरे आत्म–विडंबना का भी बोध उभरने लगा।

लेकिन आज़ादी के शुरू के दिनों में निश्चय हर संदर्भ ऐसा था, जिसमें कुछ आश्वासन, कुछ उत्सुकता, कुछ आशंका और कुछ आशा के मिले–जुले भाव थे। साम्प्रदायिक दंगे शान्त हुए। शरणार्थी किसी प्रकार बसने लगे। सैकड़ों रियासतें ख़त्म हुई, और भारत का मानचित्र एकरंग हुआ। संविधान बनकर सामने आया। जनता को जनतांत्रिक अधिकार मिले। बालिग़ मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ। पंचवर्षीय योजना बनी। भूमि और समाज–सुधार सम्बन्धी नये क़ानून बने। व्यवस्था क़ा एहसास हुआ। प्रगति की आशा बँधी। 'डिप्टी कलक्टरी' के शकल दीप बाबू की तरह 'डिप्टी–कलक्टरी' की लिस्ट में लड़के का नाम न देखकर भी लोग आशा लगाये देखते रहे कि शायद अगली बार नाम आ ही जाय। अपनी उपहासास्पद स्थिति का एहसास होते हुए भी लोग 'प्रतीक्षा' करने को प्रस्तुत थे।

धीरज का बाँध एकदम न टूटा था। पीड़ा–भरी प्रतीक्षा इस क़ाल की कहानियों का मुख्य स्वर

है, चाहे वह अमरकांत की 'डिप्टी–कलक्टरी' हो, या निर्मल वर्मा की 'परिन्दे'। वैसे कोई चाहे, तो इस भावबोध को भी 'रोमांटिक' कह सकता है, किन्तु इनमें जीवन का गहग पीड़ा–बोध है, वह हर तरह की तीव्र रोमांटिक भावनाओं से सर्वथा भिन्न है। जहाँ ज़िन्दगी गम्भीरता से ग्रहण की जाती है, वहाँ आशा और निराशा–जैसे सीधे भाव अनावश्यक हो जाते हैं। उल्लेखनीय है, कि चेख़व इस समय हिन्दी–कहानीकारों में सहसा लोकप्रिय हो उठा। कुछ दिन पहले जहाँ गोर्की का झंडा बुलन्द था, उसकी जगह चुपके से चेख़व ने ले ली। क्या यह परिवर्तन हिन्दी–कहानी में किसी परिवर्तन की सूचना नहीं देता?

यह मन:स्थिति तभी पैदा होती है, जब जीवन की जटिलता का बोध होता है। जब ऐसा लगे कि ज़िन्दगी साफ–साफ चौखटों में बँटी हुई नहीं है तो बेखटके अच्छा और बुरा, सही–गलत के रूप में दो टूक निर्णय देना कठिन हो जाता है। अनुभूति की बुनियादी ईमानदारी अन्तत: इस पीढ़ी के कहानीकारों को एक 'उभय सम्भव' की मन:स्थिति की ओर ले गई। इस द्वैध मन:स्थिति के साथ हिन्दी–कहानी में एक नये 'नैतिक बोध' का उदय हुआ, जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति राजेन्द्र यादव की 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' और रघुवीर सहाय की 'मेरे और नंगी औरत के बीच' जैसी कहानियों में हुई है। दुविधा की स्थिति का पता स्वयं इन कहानियों का अंत देता है, जहाँ पहुँचकर लेखक अपना हाथ खींच लेते हैं, क्योंकि सुखान्त या दु:खान्त कुछ भी करना अवास्तविक प्रतीत होता है। दो पीढ़ियों के नैतिक बोध का अन्तर समझने के लिए यादव की 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' को जैनेन्द्र कुमार की 'एक रात' के बगल में रखकर देखना पर्याप्त है। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' एक तरह से 'एक रात' की पैरोडी मालूम होती है। जैसे एक वैज्ञानिक विज्ञान के किसी पूर्ववर्ती नियम को असंगत पाकर उसकी अपने प्रयोगों के दौरान असंगतियों को दूर करने की कोशिश करता है, उसी तरह इस कहानी में पूर्ववर्ती रोमांटिक कहानियों के तिकोने प्रेम की असंगति का उद्‌घाटन किया गया है–एक विडम्बनापूर्ण स्थिति के द्वारा। वैसे यहाँ भी लेखक इस रोमांटिक संस्कार से ग्रस्त है कि उभय–सम्भव की मन:स्थिति को वहन करना कमज़ोरी का लक्षण है। फर्क है, तो सिर्फ यह कि अब इस कमज़ोरी के प्रति विडम्बना का बोध है। स्पष्ट हो जाता है कि समस्या का कोई बना–बनाया हल नहीं है। यह निष्कर्ष ऊपर से देखने पर चाहे जितना निराशावादी लगे, किन्तु इससे परिस्थिति का बोध तो होता ही है। और रोमांटिक भावबोध की तुलना में यह गैर–रोमांटिक भावबोध मानसिक परिपक्वता का सूचक है।

वस्तुत: रोमांटिक कृतियों में हृदय और बुद्धि के बीच एक प्रकार का विच्छेद मिलता है, जिसके बीच समरसता स्थापित करने की कोशिश करके भी रोमांटिक लेखक सफल न हो सके। इस काल में हृदय–बुद्धि का वह विच्छेद बहुत–कुछ समाप्त हुआ और विच्छिन्न भाव–बोध के स्थल पर एक समंजस संवेदना का उदय हुआ। यहाँ अनुभूति विकसित होकर इस प्रकार विचार सघनता प्राप्त कर लेती है कि पुराने ख़याल के लोगों को 'बौद्धिकता' की शिकायत होने लगती है। किन्तु समंजस संवेदना ने गद्य–लेखकों को ऐसी यथातथ्य, लचीली, सूक्ष्म और व्यंजक भाषा निर्मित करने की क्षमता दी, कि व्यक्ति–मन और उसके परिवेश के बारीक–से–बारीक तथ्य अंकित किये जा सके।

इस संवेदना ने झूठी अथवा अतिरिक्त अभिव्यक्ति पर अंकुश का काम किया। पुराने लेखक जिस स्थिति में प्रेम की गुंजाइश न देखते हुए भी प्रेम की अबोध अभिव्यक्ति करते थे, वहाँ नये लेखक ने कहने से पहले यह जाँच लेना ज़रूरी समझा कि ऐसी स्थिति में मन में जो भाव उठ रहे हैं, उन्हें 'प्रेम' का नाम देना ठीक न होगा या नहीं। आत्मसजगता इस हद तक बढ़ गई कि बिना जाँच किसी भाव को व्यक्त करना कठिन हो गया। इलियट के शब्दों में, 'गुलाब की आँखों का भाव' उभर आया।

इस समय की प्रेम–कहानियों को पूर्ववर्ती युग की प्रेम–कहानियों के बराबर रखकर देखें, तो इस दृष्टि से साफ़ और अन्तर मालूम होगा। निश्चय ही यह संवेदना आज के नये सामाजिक संदर्भ की उपज है। सामाजिक सम्बन्धों में इतना परिवर्तन आ गया है कि बहुत–से पुराने सम्बन्ध अब शिष्टाचार का निर्वाह–मात्र मालूम होने लगे हैं। इस बोध के बावजूद बहुत–से लेखक आज भी अपनी रचनाओं में उन शिष्टाचारों को सच्ची भावनाओं के रूप दिखाते जा रहे हैं। इसके विपरीत नये लेखक शिष्टाचार के ऊपरी खोल को हटाकर तह में छिपी असली भावनाओं को उद्घाटित करने की कोशिश कर रहे हैं। उदाहरण के लिए 'मेरे और नंगी औरत के बीच' में रघुवीर सहाय ने यही किया है। नया लेखक इसी तरह बीच की 'दुनिया' को हटाकर मनुष्य को नंगे रूप में, मनुष्य को निरे मनुष्य के रूप में, स्पर्श करना चाहता है। यह भी एक मानवतावाद है, जो इस पूँजीवादी युग के अमानवीय सामाजिक सम्बन्धों के तीखे बोध से पैदा हुआ है। कहना न होगा कि आज़ादी के बाद भारत में इस नयी स्थिति का पहली बार इतना तीखा अनुभव हुआ है। क्या यह टूटते हुए सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों और उभरते हुए पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों के टकराव की अभिव्यक्ति नहीं है?

अन्ततः दो युगों की कहानियों का अन्तर नैतिक बोध के स्तर पर स्पष्ट होता हैं। और नैतिक बोध की अभिव्यक्ति सामान्यतः'सहानुभूति' के स्वरूप में होती है। कोई लेखक किस व्यक्ति–चरित्र को किस स्थिति में और किस प्रकार की सहानुभूति देता है, और फिर उस सहानुभूति का आधार क्या होता है–इससे कहानी का 'मूल्य' निर्धारित होता है। आज जिस प्रकार व्यक्ति–व्यक्ति के बीच एक उद्देश्य और शायद अभेद्य दीवार खड़ी हो गई है, उसे देखकर महसूस होने लगा है कि किसी को अपना दुःख ठीक–ठीक बतला सकना अथवा ठीक–ठीक किसी के दुःख को जान लेना लगभग असम्भव हो उठा है। अपने ज्ञान और अपनी अनुभूति की सीमा के इस बोध ने सहानुभूति–सम्बन्धी पूरी धारणा ही बदल दी। शायद यह स्थिति भी पूँजीवादी समाज–व्यवस्था की ही देन है। इस स्थिति ने हमारे ऊपर एक नया नैतिक दायित्व डाल दिया है। रघुवीरसहाय की 'सेब', 'जीता–जागता व्यक्ति' आदि अनेक कहानियाँ जैसे इसी प्रश्न से जूझती दिखायी पड़ती हैं। एक स्थिति इससे आगे की भी है, जहाँ लेखक इस बीच की दीवार को तोड़ने की भी कोशिश करता है, और दो आदमियों के बीच सहकारिता का भाव पैदा करता है, जिसका चित्रण निर्मल वर्मा की 'लंदन की रात' कहानी में मिलता है।

इसी बोध का विस्तार आगे चलकर उस दायित्व तक होता है, जिसे 'सामाजिक चेतना' कहते हैं। चूँकि नये कहानीकार किसी पूर्वनिर्धारित जीवन–दर्शन द्वारा निर्दिष्ट 'सामाजिक दायित्व' के निर्वाह के खतरे से सशंक हैं, इसलिए वे अपने अनुभवों के आधार पर रचना में सामाजिकता को व्यक्त करने की कोशिश करते रहे हैं। इस दृष्टि से यह तो तथ्य है कि प्रगतिवादी दौर की तरह इन कहानियों में सर्वहारा चित्र नहीं है, और न वैसी प्रखर वर्ग–चेतना ही है; किन्तु व्यापक रूप से आज के उपेक्षितों और कल के अपेक्षितों के साथ आत्मीय लगाव अवश्य है– किसी लेखक में कम, तो किसी में ज़्यादा। चूँकि ज़्यादातर लेखक शहरों और गाँवों के निम्न–मध्य वर्ग की उपज हैं, और हर लेखक का ज़ोर साहित्य–रचना में निजी अनुभव पर है, इसलिए रचनाओं की विषयवस्तु के साथ ही दृष्टिकोण का भी निम्न मध्यवर्गीय सामाजिक स्थिति की सीमा से सीमित हो जाना अनिवार्य है वैसे आज समाज में इस वर्ग की जो स्थिति और ऐतिहासिक भूमिका है, उसको देखते हुए इस वर्ग का सचेत लेखक प्रखर 'आलोचनात्मक यथार्थवादी' साहित्य की सृष्टि कर सकता है। कहना न होगा कि नयी कहानी की परम्परा में सामाजिक आलोचना का यह स्वर काफी प्रबल रहा है।

इस प्रकार लगभग 1959–60 तक इस कहानी–दशक के उभरने वाले नये कहानीकारों ने

अपने अपेक्षाकृत नये सृजनात्मक कृतित्व से हिन्दी–कहानी को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह तो नयी कहानी के विरोधी भी स्वीकार करते हैं कि अकेले इस दशक में हिन्दी में जितनी अच्छी कहानियाँ लिखी गईं, वह अपने–आप में एक मिसाल है। हिन्दी की जो नयी प्रतिभाएँ कुछ समय पहले कविता की ओर मुड़ जाया करती थीं, वे तथा वैसी अन्य अनेक प्रतिभाएँ इस दशक में प्राय: कहानी के क्षेत्र में आ गईं। सभी नये कहानीकारों में समान रूप से नये सृजन की चेतना भले न रही हो, किन्तु इस कहानी–दशक की मुख्य प्रवृत्ति नये सृजन की थी। सब जगह जीवन–दृष्टि भले ही एक–सी स्पष्ट न हो पायी हो, किन्तु प्राय: सभी में अपनी सृजनात्मकता के बीच से ही जीवन–दृष्टि विकसित करने का प्रयास रहा है। हिन्दी–क्षेत्र में इस समय न कोई व्यापक जन–आन्दोलन और न जनता की सशक्त राजनीति पार्टी और न ही साहित्य के क्षेत्र में किसी ऐसी पार्टी की सूझ–बूझ भरी पहल– इस अभाव को देखते हुए इस कहानी–दशक की उपलब्धियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

यह भी एक विडम्बना ही है कि जो कहानीकार सहसा 'नयी कहानी' के झंडाबरदार हो उठे हैं, वे दरअसल नयी कहानी के हकदार ही नहीं रह गये हैं। लगता है, जैसे बाहरी नारा भीतरी खोखल को ढकने का एक बहाना–भर है। मुठ्ठी की पकड़ जिस तरह झंडे पर कसती जा रही है, उससे लगता है कि ज़रूर पाँवों के नीचे से ज़मीन खिसक रही है। लेकिन ये कहानियाँ कब तक छिप सकती हैं?

मोहन राकेश के बारे में स्वयं राजेन्द्र यादव की राय है, कि 'उसने नया शिल्प नयी भाषा या नया कथ्य कम खोजा है, फिर भी जाने वह कौन–सी विवशता है, जिसके कारण इतना और जोड़ा जाता है कि अपने 'पुरानेपन' के बावजूद वह और समर्थ कथाकार है।' नये और पुराने संघर्ष में यह साफ़ समझौतावाद है, और जिस समझौतावाद के कारण 'राकेश दोनों कथा–पीढ़ियों में 'स्वीकृत' हैं।' 'उसी के शिकार स्वयं राजेन्द्र यादव हो चले हैं। किन्तु एक दूसरी दिशा में, जैसा कि सितम्बर'64 की 'कल्पना' में 'किनारे से किनारे तक' की कहानियों के बारे में लिखा गया है कि 'उनमें कुशल व्यावसायिक लेखन के सारे गुण–दोष मौजूद हैं।' कहना न होगा कि जहाँ व्यावसायिकता आ गई, वहाँ नये सृजन की संभावना समाप्त। ऐसी स्थिति में शिवदानसिंह चौहान का 'आलोचना–31' का यह संपादकीय वक्तव्य क्यों न सहमति प्राप्त करे कि राकेश, कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव ने "जो 'अच्छी' कहानियाँ लिखी हैं वे 'नयी' से अधिक शुद्ध फार्मूलाबद्ध कहानियाँ ही हैं जो मसनूई परिभाषा–सूत्रों के अनुसार लिखी गई हैं।"

विडम्बना यह है कि यह सारा फार्मूलाबद्ध और व्यावसायिक लेखन एक 'नयी प्रगतिशीलता' के नाम पर हो रहा है। जो प्रगतिशील जीवन–दृष्टि व्यावसायिकता की घातक है, वही व्यावसायिक हाथों में खेलती हुई प्रगतिशील साहित्य को भीतर से तोड़ने की कोशिश करे! एक बार पहले भी ऐसा हुआ है, और प्रगतिशील कथाकारों की बहुत बड़ी संख्या फिल्मी खपत के लिए सस्ता व्यावसायिक साहित्य लिखने के रास्ते निकल गई। सच पूछिये, तो आज राकेश, कमलेश्वर और यहाँ तक कि यादव भी वही करने लगे हैं, जो पन्द्रह–सोलह साल पहले कृश्नचन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास वग़ैरा ने शुरू कर दिया। लक्ष्य वही है, रास्ता चाहे अभी दूसरा हो।

नयी कहानी की घोषणा, वस्तुतः कुछ लेखकों के लिए सुविधाजनक उपाधि बन गई। अवसरवादी कहाँ नहीं होते? और वह अवसरवादी क्या जो किसी भी नयी स्थिति से लाभ उठा ले? अनाड़ी में कांग्रेस ने 'समाजवादी समाज' क़ायम करने की घोषणा की, रातों–रात हर कांग्रेसी–यहाँ तक कि पूँजीवादी भी–तुरन्त समाजवादी हो गए। फिर साहित्य में 'नयी कहानी' की आवाज़ उठते ही कुछ पुराने भावबोध वाले लेखक सहसा 'नये कहानीकार' हो जायें तो क्या आश्चर्य! नतीजा सामने है–इधर कांग्रेस खूब समाजवाद क़ायम कर रही है, और इधर ये कहानीकार भी ठाठ से नयी कहानियाँ निकाल रहे हैं।

जैसा कि मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में कुछ समय पहले लिखा था, असल में नये और पुराने के प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है। इस सुविधाजनक लक्ष्यहीन अवसरवाद के कारण ही साहित्य में भी नये को रूपाकार देने की तलाश नहीं है। 'नया नया', 'नया मूल्य', 'नवीन मानव' में केवल नवीन ही अरूप है, असल में इस नये को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया गया है। इसलिए मेरे ख़याल से आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि पुराने के प्रति और नये के प्रति अवसरदृष्टि खत्म हो जाए।

खुशी की बात है कि इधर कुछ रचनाकार इस दिशा में समीक्षा आत्म–समीक्षा के लिए आगे आए हैं। इस दृष्टि से 'माया' में 'कहानी पर बातचीत' शीर्षक से मार्कण्डेय की लेखमाला उल्लेखनीय है। यहाँ जिस निर्ममता और जिस आत्मीयता के साथ मार्कण्डेय ने अपनी पीढ़ी के एक–एक कहानीकार का विश्लेषण किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इधर चार–पाँच वर्षों में यानी 1959–60 से ही उस कहानी–दशक का समारम्भ करने वाली नयी पीढ़ी सृजन के नये संदर्भों से जुड़ने में असमर्थ प्रमाणित हुई है। कारण–विश्लेषण से यह भी पता चलता है, कि खोट कहीं–न–कहीं शुरू से इनके बुनियादी रचना–धर्म में ही थी। पुरानी

प्रतिष्ठा और नये व्यवसाय से समझौता आकस्मिक नहीं है। जिस 'अनुभववाद' के सहारे इस पीढ़ी ने पुरानी प्रतिष्ठाओं के विरुद्ध विद्रोह किया, वह ज़्यादा आगे ले जाने की क्षमता ही नहीं रखता। एक वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि के बिना कोरा 'अनुभववाद' जल्द ही कुंठित होकर वस्तुस्थिति से समझौता करने के लिए लाचार हो जाता है।

समझौते की भाषा, निःसन्देह, 'क्रान्तिकारी' रहती है; किन्तु निहित विषय–वस्तु होती है अन्ततः वस्तुस्थिति का समर्थन। अजब नहीं है, जो इन 'नये कहानीकारों ने सहसा 'आस्था', 'कमिंटमेंट' आदि की बात शुरू कर दी है। राजेन्द्र यादव ने मोहन राकेश पर लिखते हुए अनजाने ही अपने साथ बहुत–से साथियों के लिए स्वीकार कर लिया है कि यह 'कमिंटमेंट' और कुछ नहीं सिर्फ़ नया 'जस्टीफ़िकेशन' है। इसीलिए ये लेखक जब बार–बार 'सामाजिकता', 'जीवन', 'सन्दर्भ', और 'युगबोध' जैसे गोल–मोल, बड़े–बड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए अपनी 'सामाजिकता' की घोषणा करते हैं, तो यह समझने में भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे घुमा–फिरकर एक वस्तुस्थिति का ही समर्थन कर रहे हैं। जब वे जीवन से ज़्यादा–ज़्यादा ग्रहण करने की बात करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे 'जीवन' कोई बैंक है, जिसमें अनुभवों की रक़म जमा है, और लेखक का सबसे बड़ा लक्ष्य यह होना चाहिए कि जीवन–बैंक का बैंकर बनकर अनुभवों की राशि को निकालता और जमा करता जाय।

मीडियाकर या अधकचरे लेखक अक्सर इसी तरह अपने युग के 'चालू मुहावरे' बोला करते हैं, और आधुनिकता का आभास देने के लिए युग के फैशन को सबसे पहले स्वीकार कर लेते हैं। इन्हें प्रश्न करने की ज़रूरत महसूस ही नहीं होती; यहाँ तक कि एक बार भी इनके मन में युग की बुनियादी 'प्रतिज्ञाओं' को चुनौती देने का विचार तक नहीं उठता इसीलिए जब ये अपने युग की ज़रा–सी भी आलोचना करते हैं, तो उस आलोचना में धार नहीं होती; और जब किसी नये परिवर्तन को समर्थन देते हैं, तो उसमें हार्दिकता नहीं मिलती। उनका उत्साह तो उनका होता ही नहीं, उनका मोह–भंग भी उनका नहीं होता। वहाँ सबकुछ अवसर का तक़ाजा–भर होता है। इसीलिए इनके मुँह से निकले हुए 'संदर्भ', 'संचेतना', 'सामाजिकता' आदि शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे नींद में बोल रहे हों। आधुनिक युग की कौन–सी ऐसी घटना है, जिसकी इन्हें सूचना नहीं; कौन–सी नयी चीज़ है, जिसका इन्हें नाम नहीं मालूम? फिर ज़रा–सा व्यंग–रंग का छींटा देते हुए इन तमाम आधुनिक तथ्यों के आधार पर एक क्या, सैंकड़ों नयी लगने वाली कहानियाँ नहीं तैयार की जा सकतीं? राजधानी में क्या चीज़ सुलभ नहीं है? खुल जाय वहाँ नयी कहानियों का एक कारखाना, और फिर देखिये, हर महीने

हाज़िर हैं—नयी कहानियाँ: मेड इन दिल्ली, नयी दिल्ली! उदाहरण के लिए, कमलेश्वर इस नुस्खे की बदौलत अपनी पीढ़ी से भी एक क़दम आगे निकलकर, सहसा इस साठ वाली पीढ़ी के नये कहानीकार हो गए हैं!

दरअसल अपने युग द्वारा कोई लेखक हज़म न कर लिया जाय, इसके लिए बेहद सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। आज स्थिति कुछ ऐसी है, कि स्वीकार करने से ज़्यादा इन्कार करने का कलेजा चाहिए। बड़ी समस्या ज़माने के भ्रमजाल से मुक्त होने की है, पाशविक पुतलियों के आकर्षण को रोक पाने की है। यह भी एक विरोधाभास ही है, कि अपने युग को ज़्यादा—से—ज़्यादा नकार के ही कोई लेखक सच्चे अर्थों में अपने युग का होता है। निस्सन्देह लेखक की महानता इस संघर्ष के 'गुण' पर निर्भर है, और एक रचनाकार अपने युग में गहरे उतरकर सृजनात्मक स्तर पर अपने ज़माने से संघर्ष करता है। यहाँ तक कि कभी—कभी अपने युग की सीमाओं से एकदम भाग जाने की कोशिश करने वाले रचनाकार अन्ततः कहीं ज़्यादा अपने युग के लेखक प्रमाणित हुए हैं। अंग्रेजी में डी॰ एच॰ लारेंस या फिर जर्मन में फ्रान्ज, काफ़्का इसी प्रकार के युगान्तरवादी रचनाकार हो चुके हैं। कौन जाने इसी तरह हिन्दी में भी जिस निर्मल वर्मा को इधर पलायनवादी कहा जा रहा है, वे अन्ततः इन तथाकथित 'सामाजिक' कहानीकारों से ज़्यादा सामाजिक और बुनियादी रूप में अपने युग के सच्चे प्रवक्ता प्रमाणित हों। सृजनात्मक कसौटी ही है, जिस पर अपने युग की आलोचना करनेवाला सतही कथाकार एक सच्चे रचनाकार से अलग किया जा सकता है; जैसे अंग्रेजी में ऑल्डस हक्सले को जेम्स ज्वाइस से अलग किया जाता है, और माना जाता है कि रचनाकार के रूप में जेम्स ज्वाइस के सामने ऑल्डस हक्सले बेहद घटिया कथाकार हैं; यद्यपि ज्वाइस के साथ—साथ हक्सले ने भी अपने युग की कड़ी आलोचना की, बल्कि ऊपर से देखने पर और ज़्यादा तेज़।

वस्तुतः मौलिक प्रश्न सृजनात्मक दृष्टि का है, जिसे अंग्रेजी में कभी—कभी 'क्रिएटिव विज़न' कहा जाता है, जो अपने युग के मर्म को बेधने के साथ अपने युग की मनोगत और वस्तुगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ होती है। इसका एक पक्ष 'ऐतिहासिक परिदृश्य' अथवा 'पर्सपेक्टिव' की पहचान भी है। आज हिन्दी—कहानी की दुनिया में 'सामाजिकता' का सबसे ऊँचा शोर मचाने वाले इसी 'पर्सपेक्टिव' की पहचान के अभाव से ग्रस्त हैं। इसीलिए वे कभी आधुनिक सभ्यता के स्थूल उपकरणों का ब्योरेवार सूचीपत्र प्रकाशित करके अपने कृतित्व की इतिश्री समझ लेते हैं। कमलेश्वर की नयी दिल्ली—सीरीज़ वाली नयी कहानियाँ, राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' जैसी कहानियाँ और राकेश की 'ग्लास—टैंक', 'फौलाद

का आकाश', 'सेफ़्टी पिन' आदि कहानियाँ इसी प्रकार के 'नेचुरलिज़्म' अथवा 'तथ्यवाद' की कोटि में आती हैं। निस्सन्देह इस तथ्यवाद के ऊबाऊ असर को कम करने के लिए जगह–जगह रोमान का हल्का पुट भी दे दिया जाता है। किन्तु इन्हें रोमांटिक समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। जैसा कि किसी लेखक ने कहा है, इस प्रकार की रूमानियत वस्तुतः तथ्यवाद की 'अपराधी अन्तरात्मा' अर्थात् 'गिल्टी कान्शन्स' है। ऊपर से ये लेखक कहानी में कविता का चाहे जितना विरोध करें, अपनी कहानियों में वे स्वयं एकदम रोमांटिक कविता के नुस्खों का बेहद गाढ़ा उपयोग करते हैं। यह 'तथ्यवाद' यदि एक ओर वर्तमान 'समाज–व्यवस्था' को चुनौती देने का नाटक करते हुए भी असल मुद्दे पर कन्नी काट जाता है, तो दूसरी ओर व्यावसायिक रुचि को मज़े से तुष्ट करता है। वहाँ भी भले, और यहाँ भी भले! दोनों लोक दुरुस्त! दोनों हाथ मोदक! सुरक्षित, संतुष्ट और निर्भय!

इसके विपरीत परिदृश्य–बोध किसी रचना को किस प्रकार की अर्थ–गरिमा प्रदान करता है, इसका उदाहरण है निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात'। कहानी पढ़कर महसूस होता है कि आज का विश्व क्या है, कहाँ जा रहा है, और इस विश्व में हम कहाँ हैं, हमारी स्थिति क्या है।

यह आकस्मिक नहीं है, कि हिन्दी–कहानी में 1959–60 के आसपास कहानीकारों की जो नयी पीढ़ी उभरकर सामने आई है, वह अपनी शुरुआत का नाता निर्मल वर्मा की 'एक शुरुआत' से जोड़ना पसंद करती है। राकेश, यादव, कमलेश्वर द्वारा विज्ञापित 'नयी कहानी' के विरुद्ध इस पीढ़ी के मन में कितना अधिक विद्रोह है, यह इसी से स्पष्ट है, कि इन्होंने 'कहानी' मात्र को अस्वीकार करके हिन्दी में 'अ–कहानी' की आवाज़ उठा दी। यदि एक ओर निर्मल वर्मा कहते हैं, कि 'कहानी की मृत्यु से चर्चा आरंभ करनी चाहिए', तो दूसरी ओर रवीन्द्र कालिया का भी यही कहना है, कि 'मुझे कहानी के उस स्वीकृत रूप से घोर वितृष्णा है, जिस अर्थ में वह आज कहानी के नाम से जानी जाती है।' 'इस विरोध' को एकरसता की क्षोभ–भरी प्रतिक्रिया के रूप में लिया जा सकता है। इस क्षोभ से स्पष्ट है कि इधर 'नयी कहानी' के व्रती लेखकों में कितनी एकरसता आ गई है। दूसरी ओर इन नवयुवक लेखकों की कहानियों से साफ़ झलकता है, कि वे आज की सामाजिक सतह से नीचे जाकर 'मानव–नियति' और 'मानव–स्थिति' सम्बन्धी बुनियादी प्रश्न उठा रहे हैं। लगता है, युग नये सिरे से अपने–आप से भयावह प्रश्नों का साक्षात्कार कर रहा है। वैसे किताबी नुस्खे और चालू फैशन यहाँ भी हैं, किन्तु 'प्रश्नात्मक दृष्टि' खरी और तेज है। आज के मानवीय

सम्बन्धों की अमानवीयता को वेधकर पहचानने की अद्‌भुत क्षमता इस दृष्टि में है। इसीलिए जिस निर्ममता के साथ सीधी भाषा में ये आज की मानव–स्थिति को कम–से–कम रेखाओं में उतारकर रख देते हैं, वह पूर्ववर्ती कथाकारों के लिए स्पर्धा की वस्तु हो सकती है। कहानी के रूपाकार और रचना–विधान की दृष्टि से ये कहानियाँ एक अरसे से उपयोग में आने वाले कथागत साज–सँभार को एकबारगी उतारकर काफी हल्की हो गई है–हल्की, लघु और ठोस! यहाँ तक कि कभी–कभी कथा–चरित्रों के नाम–ग्राम–परिचय का भी उल्लेख करना अनावश्यक प्रतीत होता है। केवल इसीलिए कुछ लोग इन कहानियों को 'अमूर्त' और असामाजिक तक मान बैठे हैं। ऐसी आपत्तियों के समाधान के लिए फ्रांसीसी कथाकार रॉब–ग्रिए का यह कथन अप्रासंगिक न होगा :"कथाकृति में किसी आदमी का नाम ढूँढ़ने की कोशिश में पसीना क्यों बहाया जाय, जब कि वह खुद अपना नाम नहीं बताता? हर रोज़ हम ऐसे लोगों से मिलते हैं, जिनके नामों से हम वाकिफ़ नहीं, और हम अपनी मेज़बान द्वारा कराये गए परिचय पर बिना ध्यान दिये एक अपरिचित के साथ बातें करते हुए एक पूरी शाम बिता देते हैं।" ऐसी स्थिति में भी कहानी में नाम का अभाव क्या इतना आपत्तिजनक रह जाता है? और फिर सारी शिकायत क्या अब केवल नाम पर आकर अटक गई हैं? देखने की चीज़ वह नयी संवेदना है, जो एक वस्तुस्थिति का–चाहे वह कितनी ही अप्रिय क्यों न हो साहस के साथ साक्षात्कार कर रही है।

ऐसी स्थिति में जब कि यह युवा पीढ़ी स्वयं नामों को इतना महत्त्वहीन समझती हो, एक–एक लेखक का नाम गिनाना विडम्बना ही होगी। वैसे व्यक्ति को विशिष्टता प्रदान करनेवाली रेखाएँ अभी पूरी तरह उभर भी नहीं पायी हैं–किसी की एक, तो किसी की दो या तीन, बस इतनी ही रचनाएँ बन पड़ी हैं, यानी ऐसी कि जिन्हें 'रचना' कहा जा सके। उदाहरण के लिए, प्रबोधकुमार की 'गाँठ', दूधनाथसिंह की 'रक्तपात', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', प्रयाग शुक्ल की 'भाषा', विजय चौहान की 'रिक्ति', और काशीनाथसिंह की 'सुख'। संवेदना और शिल्प की दृष्टि से श्रीकान्त वर्मा के कहानी–संग्रह 'झाड़ी' की कहानियाँ भी इसी कोटि में आती हैं और यह उल्लेखनीय है कि वय में पूर्ववर्ती पीढ़ी से संबद्ध होते हुए श्रीकान्त वर्मा ने इसी पीढ़ी के साथ यानी'59–60 से ही कहानी–लेखन प्रारंभ किया। निश्चय ही उल्लेख–मात्र से इन कहानियों की विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं, किन्तु सरहद की ये चौकियाँ हिन्दी–कहानी के मानचित्र का कुछ तो आभास दे ही देती हैं। हिन्दी–कहानी में वस्तुत: यह एक नयी परंपरा है, और न्याय के लिए इस पर स्वतंत्र विचार अपेक्षित है। प्रसंगत: सिर्फ़ इतना कि यह भी एक शुरुआत है–संभावनापूर्ण शुरुआत!

12. जयशंकर प्रसाद

एक कहानीकार के रूप में जयशंकर प्रसाद की सक्रियता उनके समूचे सर्जनात्मक कृतित्व के दोनों छोरों को छूती चलती है।'प्रेम–पथिक' के प्रकाशन के साथ सन् 1910 में, कविरूप में उनके उदय के साथ ही वह कहानी के क्षेत्र में भी सक्रिय देखे जाते हैं। उनकी यह सक्रियता एक नये लेखक की अपने लिए अपनी प्रिय और केंद्रीय विधा की तलाश से कुछ भिन्न प्रकार की है। अन्य विधाओं में अपनी रचनात्मक सक्रियता के कारण कहानी को वह अपनी मूल और केंद्रीय विधा भले ही न बना सके हों, लेकिन लंबे अंतरालों के बावजूद, उसके प्रति गहरी भावात्मक दिलचस्पी सदैव बनी रही। उनकी आरंभिक कहानियों का संकलन 'छाया' 1912 में प्रकाशित हुआ और उनकी अंतिम कहानियों का संकलन 'इंद्रजाल' उनके असामयिक निधन से एक वर्ष पूर्व 1936 में आया। भले ही प्रसाद के लिए आत्माभिव्यक्ति की केंद्रीय विधाएं काव्य और नाटक रही हों, लेकिन उनके व्यक्तित्व की पहचान और रचनात्मक अभिरुचियों की दृष्टि से उनका कथा–साहित्य और निबंध उनके काव्य एवं नाटकों के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्राय: ही इस ओर संकेत किया गया है कि प्रसाद अंतर्मुखी प्रवृत्ति वाले लेखक थे, और अपने युग की सामाजिक–राजनीतिक हलचलों के प्रति यदि वे उदासीन नहीं थे, तो उनकी वैसी प्रखर दिलचस्पी भी नहीं थी जैसी उन्हीं के समकालीन प्रेमचंद में मिलती है। संस्कृति, इतिहास और भारतीय दर्शन का उनका विशाल अध्ययन उनके सर्जनात्मक सरोकारों को एक भिन्न दिशा देता है। अपने युग की हलचलों को वह तथ्यात्मक और यथार्थवादी ढंग से अंकित करने की वैसी कोई कोशिश नहीं करते, जिससे इन हलचलों के वास्तविक–स्वरूप और सूक्ष्म ब्यौरों को समझने में सहायता मिल सके। पराधीनता से उपजी हताशा और पीड़ा की क्षतिपूर्ति, वह किसी कदर आत्ममुग्ध भाव से, सांस्कृतिक–ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारत के गौरव और गरिमा का बखान करके चलते हैं। निश्चय ही इसके लिए मैथिलीशरण गुप्त से भिन्न 'कथन' से हटकर 'चित्रण' की पद्धति अपनाते हैं जो उनके सृजन को कलात्मक उत्कर्ष प्रदान करती है और प्रभाव की दृष्टि से उनकी गंभीरता को बढ़ाती है।

संस्कृति एवं इतिहास के क्षेत्र में भारत का गौरवगान और शैवागम दर्शन में आनंदवादी रुझान, प्रसाद के रचनात्मक सरोकारों को काल्पनिक भाववाद से जोड़ने के बावजूद, इस संसार के प्रति उनकी दिलचस्पी को कम नहीं करते। प्रेम, रूपासक्ति, करुणा और आंनद के बीच वह सदैव मनुष्य को ही अपनी रचना के केंद्र में रखकर चलते दिखाई देते हैं। लेकिन यहां भी

उनकी स्थिति अपने लिए चुनी गई सारी विधाओं में एक–सी नहीं है। अपने युग की हताशा और पराभव की क्षतिपूर्ति जितने मुखर रूप से वह नाटकों में करते हैं उतनी और कहीं नहीं।

प्रसाद की कहानियां जिस कालखंड में रची गईं, हिंदी कहानी के विकास की दृष्टि से वह असाधारण महत्त्व का काल है। भले ही हिंदी में प्रेमचंद के आगमन से पूर्व 'छाया' के प्रकाशन के अतिरिक्त प्रसाद और भी कुछ कहानियां लिख चुके हों, लेकिन उर्दू में प्रेमचंद का, उनके मूलनाम धनपत राय के नाम से 1909 में प्रकाशित पांच कहानियों का संग्रह 'सोज़ेवतन' प्रकाशित हो चुका था। 'छाया' और बाद में 'प्रतिध्वनि' के प्रकाशनकाल तक, 1926 में जब देश के स्वाधीनता आंदोलन में एक जबर्दस्त जन–उभार आ चुका था और देश की क्रांतिकारी शक्तियां बहुत सक्रिय थीं, प्रसाद में ऐसी कोई बेचैनी दिखाई नहीं देती कि अपने कथा–साहित्य द्वारा वह इस बेचैनी और स्वाधीनता की आकांक्षा को अभिव्यक्ति दें। भावात्मक प्रेमाभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि में भी अपने समय–संदर्भों की चंद्रधर शर्मा गुलेरी जितने उत्कट रूप में 'उसने कहा था' (1915) में अभिव्यक्ति देते हैं, प्रसाद की कहानियों में वैसी भी कोई कोशिश दिखाई नहीं देती। 'सोज़ेवतन' की कहानियां न तो यथार्थवादी हैं, और न ही अपने युग की सामाजिक हलचलों की बहुत सीधी अभिव्यक्ति का उदाहरण हैं। फिर भी उनका मूल स्वर देश की पगधीनता से उपजी पीड़ा और उसके लिए प्राणाहुति देकर भी प्राप्त की जाने वाली स्वाधीनता की दुर्निवार आकांक्षा का है। स्पष्ट ही प्रसाद की कहानियां अपने युग से उपजी हताशा और आकांक्षा के द्वन्द्व का ऐसा कोई प्रमाण नहीं देतीं।

विशेषकर स्वाधीनता–आंदोलन के काल में जातीय इतिहास और संस्कृति के प्रति गौरव एवं गरिमा से मंडित दृष्टि, अस्मिता की पहचान तथा अभिव्यक्ति का शक्तिशाली माध्यम हो सकती है–जयशंकर प्रसाद अपने लेखन के आरंभिक काल से ही यह समझते हैं। यह देखकर आश्चर्य नहीं होता कि अपने नाटकों में इतिहास के जिस लंबे कालखंड को उन्होंने चुना है–गौतम बुद्ध से लेकर हर्षवर्धन के काल तक–वह भारतीय इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण काल है। हमारे देश पर यूनानियों, हूणों और कुषाणों के अनेक आक्रमण इस बीच हुए, फिर भी कुल मिलाकर हमारी प्रतिरोध चेतना ने उन्हें कभी लंबे समय तक सफल नहीं होने दिया। स्वाधीनता–आंदोलन के दौरान अपने इस इतिहास का स्मरण निश्चय ही एक स्फूर्तिदायक और प्रेरणाप्रद अनुभव रहा होगा। इस स्मरण में पुनरूत्थानवादी तत्त्व एकदम न हों, ऐसा नहीं है। लेकिन अधिकांश रूप में लेखक अपने जातीय अभिमान और राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा के लिए कटिबद्ध पात्रों के निर्माण द्वारा जैसे अपने ही काल में घटित हो रहे

स्वाधीनता संघर्ष को बल प्रदान करता है। प्रेमचंद ने स्वयं महोबा के ऐतिहासिक लोकनायकों को आधार बनाकर, इस तरह की कहानियां लिखी थीं। लेकिन प्रसाद ने कहानियों की अपेक्षा नाटक एवं काव्य में यह काम बेहतर ढंग से किया।

उनके प्रथम संग्रह 'छाया' की अधिकांश कहानियां ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचित कहानियां हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनमें से शायद ही किसी कहानी का उल्लेख, स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में, इतिहास के उपयोग की दृष्टि से किया जा सके। 'तानसेन', 'रसिया बालम', 'अशोक', 'गुलाम', 'जहांआग' और 'मदन–मृणालिनी' आदि कहानियां या तो ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं से संबद्ध कहानियां हैं या फिर उनकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। लेकिन इन कहानियों को पढ़कर कहीं ऐसा नहीं लगता कि ये कहानियां अपने इतिहास का उपयोग अपने वर्तमान के लिए कर रहीं हों। इन आरंभिक कहानियों में प्रसाद की कहानी कला के ऐसे अनेक तत्त्व उपलब्ध हैं जो आगे चलकर विकास पाते हैं। निःसंदेह उनके ऐतिहासिक विकास–क्रम की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं। लेकिन यहां इतिहास का अपने राष्ट्रीय संदर्भों में उपयोग का कोई आग्रह नहीं दिखाई देता। इनमें से अधिकाशं कहानियां प्रेम के उदात्त रूप को उद्घाटित करने के साथ ही, उसके लिए सब कुछ बलिदान कर देने की भावना पर ज़ोर देने वाली कहानियां हैं। 'तानसेन' में जब मुगल सरदार रामप्रसाद के गायन पर मुग्ध होकर उससे वर मांगने को कहता है तो वह अपनी प्रतिस्पर्धिनी सौसन को ही मांग लेता है। उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए सरदार धर्मानुसार उससे विवाह करने को कहता है तो रामप्रसाद, जो अब तानसेन बन चुका है, कहता है...'आज से हमारा धर्म प्रेम है...'[1] 'रसिया बालम' में प्रेम की असफलता पर बलवंत और राजकुमारी दोनों आत्मघात करके अपने उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं। 'मदन–मृणालिनी' में मदन अपनी प्रेयसी मृणालिनी को प्राप्त करने के लिए सारे प्रयास करता है और जब भ्रमवश उसे प्रताड़ित और लांछित करके निकाल दिया जाता है तो भी वह उनके बुरे दिनों में उसके लिए अपना सर्वस्व दान करके शांतभाव से संन्यासी बनकर निकल जाता है। अंतिम समय में उसका पत्र पाकर जब मृणालिनी अपने भाई किशोर के साथ समुद्र के किनारे पहुँचती है, तब तक उसका पोत खुलकर समुद्र में काफी दूर जा चुका होता है...'किशोर और मृणालिनी दोनों ने देखा कि गेरुए रंग का कपड़ा पहने हुए एक व्यक्ति दोनों हाथ जोड़े हुए जहाज पर खड़ा है और जहाज शीघ्रता के साथ समुद्र के बीच में चला जा रहा है।'[2] जो अगाध समुद्र अब उन दोनों के बीच पसरा पड़ा है, उसे ही जीवन का सत्य मानकर स्वीकारने के अतिरिक्त अब और कोई उपाय नहीं है। प्रसाद की कहानियों में प्रेम के अवसाद और औदात्य की जो अंतर्धारा बहती दिखाई

देती है, उसका मूल स्रोत उनकी इन आरंभिक कहानियों में ही खोजा जा सकता है। 'गुलाम' और 'जहांआरा' में मुगलकाल के चित्र हैं—जिस कालखंड का उपयोग प्रसाद ने प्राय: नहीं किया है। 'गुलाम' कहानी प्रतिहिंसा और घृणा के शक्ति के रूप में उपयोग के परिणामों की ओर संकेत करती है, जबकि 'जहांआरा' अपने वृद्ध पिता शाहजहां के लिए अपने सारे सांसारिक सुखों को त्यागकर, स्वेच्छा से कारागार का वरण करने वाली युवती की कथा है, जिसकी मौन पीड़ा का साक्ष्य एक सुखद अपवाद की तरह मुगल इतिहास में सुरक्षित है।अपने इतिहास का अपने वर्तमान के लिए उपयोग का आग्रह 'छाया' की जिन कहानियों में दिखाई देता है, उनमें 'सिकंदर की शपथ' और 'चित्तौर का उद्धार' का उल्लेख सहज ही किया जा सकता है। 'सिकंदर की शपथ' में अश्वक वीरों के साथ भारतीय वीरों की शौर्य गाथा कही गई है। पराजय और दुर्ग टूट जाने के बाद सरदार—पत्नी सिंकदर की शरणागत हो जाती है। सिंकदर उसी के सुझाव पर संधि के नियम बनाने का आश्वासन देता है। थोड़ी सेना दुर्ग में छोड़कर वह अपने शिविर में लौट जाता है। संधि के पश्चात सिकंदर शपथपूर्व सरदार—पत्नी से कहता है कि जो भारतीय सैनिक अश्वकों की सहायतार्थ आए थे, वे वापस लौट जाएं और उनकी वापसी के बीच कोई बाधा नहीं डाली जाएगी। लौटते हुए भारतीय सैनिक जब भोजनादि के लिए पड़ाव डाले पड़े थे, तभी एक ग्रीक सैनिक उनके पास सिकंदर का संदेश लेकर आता है। उस संदेश के अनुसार सिकंदर कृपापूर्वक इन भारतीय सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती करने को तैयार है। भारतीय सैनिक इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए, उसे देवताओं के नाम पर ली गई सिकंदर की शपथ की याद दिलाते है। उत्तर में दूत बनकर आया हुआ ग्रीक सैनिक कहता है कि सिंकदर ऐसा मूर्ख नहीं है जो अपने शत्रुओं को दृढ़ होने का अवसर दे। उसके बाद घमासान युद्ध में सारे भारतीय सैनिक सपरिवार मौत के घाट उतार दिए जाते हैं। उनकी प्रतिरोध चेतना और शौर्य का चित्र अंकित करते हुए प्रसाद लिखते हैं. ..'इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने प्राण—प्रण से युद्ध किया और जब तक उनमें से एक भी बचा, बराबर लड़ता गया। क्यों न हो, जब उनकी स्त्रियां उन्हें अस्त्रहीन देखकर तलवार देती थीं और हँसती हुई अपने प्यारे पतियों की युद्ध क्रिया देखतीं थीं। रणचंडियां भी अकर्मण्य न रहीं, जीवन देकर अपना धर्म रखा। ग्रीकों की तलवारों ने उनके बच्चों को रोने न दिया, क्योंकि पिशाच सैनिकों के हाथ सभी मारे गए।...'[3] इस तरह प्रकारांतर से प्रसाद अंग्रेज़ों के छल—छद्म और कूटनीति के संदर्भ में भारतीय वीरों के शौर्यपूर्ण बलिदान को ही स्मरण कर रहे हैं। वह इस बात पर दुखी भी हैं कि प्राय: ही इतिहास में शौर्य दिखाने और बलिदान देने वाले ऐसे वीरों का कोई उल्लेख नहीं होता। 'चित्तौर का उद्धार' में लेखक

सिसौदिया वीर हमीर को केंद्र में रखता है और राजपुत्रों की पारस्परिक कूट के दुष्परिणामों की ओर संकेत करता हैं। चित्तौर की बाल विधवा राजकुमारी का विवाह छलपूर्वक उसके पिता द्वारा हमीर से कर दिया जाता है—उसे अपमानित करके उससे बदला लेने के विचार से। हमीर सब कुछ जानकर राजकुमारी को जीवनरक्षा का आश्वासन देते हुए, कभी विलग न होने की प्रतिज्ञा करता है। लेकिन अपने पैतृक सिंहासन का उद्धार किए बिना, वह इस विवाह को विवाह की मर्यादा देने को तैयार नहीं है। राजकुमारी के सहयोग से ही वह अपने उद्देश्य में सफल हो पाता है और तब दुंदुभि और मंगलगान के साथ हमीर सपत्नीक प्रासाद में प्रवेश करता है। 'चित्तौर का उद्धार' लुप्त मर्यादा की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है। इसमें पुरुषों के साथ स्त्रियों की भूमिका के महत्त्व का संकेत भी कहानी में स्पष्ट है। प्रसाद की परवर्ती कहानियों में, 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' आदि में, पिता और राज्य के विरोध में प्रगाढ़ प्रेमानुभूति का द्वंद्व उनकी इस भावना के विकास के रूप में लक्षित किया जा सकता है। परस्पर विरोधी मानिसक प्रवृत्तियों और सघन अंतर्द्वंद्व के चित्रण में प्रसाद की कहानियां अपने युग में एक स्वतंत्र प्रतिमान निर्मित करती दिखाई देती हैं। प्रसाद प्रेमानुभूति की उत्कटता का चित्रण काव्योचित आवेश के साथ करते हैं। इस तथ्य पर बल दिए जाने की आवश्यकता है कि उनकी नायिकाओं की यह प्रेमानुभूति विरोध और द्वंद्व के लिए जिस प्रवृत्ति के सामने खड़ी होती है, वह प्राय: ही राज्य और पिता के रूप में जातीय स्वाधीनता अस्मिता को ही प्रतीकित करने वाली है। यह अलग बात है कि इन कहानियों में जातीय स्वाधीनता का वरण करके भी, इनके पात्र प्रेमानुभूति की दृष्टि से भी सफल होते हैं।

स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में भारतीय अस्मिता की पहचान का कार्य प्रसाद अपनी कुछ सामाजिक कहानियों द्वारा भी करते हैं। इस प्रसंग में 'छाया' में ही संकलित उनकी 'ग्राम' और 'शरणागत' जैसी कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। ग्राम का भू—स्वामी मोहनलाल अंग्रेजी सभ्यता और तौर—तरीकों का हामी है—विलायती पिंक का बूचिस पहने बूट चढ़ाए, हंटिग कोट पहने, धानी रंग का साफा—अंग्रेजी—हिंदुस्तानी का महासम्मेलन बाबू साहब के अंग पर दिखाई पड़ रहा है।'[4] शिकार पर जाते समय स्टेशन मास्टर को वह अंग्रेज़ी ढंग से अभिवादन करता है और उसके पूछने पर बताता है कि अपने इलाके में 'इंस्पेक्शन' करने जा रहा है। वह वस्तुत: सद्य:विकसित उन नव—धनाढ्य वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है, जो प्रथम स्वाधीनता—संग्राम की असफलता से पैदा हुई हताशा के परिणामस्वरूप अंग्रेज़ आकाओं की चापलूसी द्वारा सुविधा और आत्मविकास की राह पकड़ रहा था और अपने ही देशवासियों

के प्रति घृणा और हिकारत महसूस करता था। उसकी तुलना में प्रसाद ने विस्तार से ग्राम सभ्यता की सहजता, उमंग और उत्सवप्रियता प्रस्तुत की है। किशोर और उसकी मां की निराडंबर सहजता उस भारतीय दृष्टि की प्रतीक बनकर कहानी में उपस्थित है, जो सारी संपत्ति और वैभव से वंचित होकर भी आत्मगौरव और सम्मान का रास्ता चुनती है। उस प्रौढ़ा की बातों से पता चलता है कि कुसुमपुर से उसके निष्कासन और उसके पति की असामयिक मृत्यु का दायित्व इसी मोहनलाल के पिता कुंदनलाल पर है। भारतीय ग्राम सभ्यता की आकर्षक पृष्ठभूमि कहानी में जातीय अस्मिता की पहचान बनकर उभरी है। 'शरणागत' में प्रसाद इस पहचान की एक भिन्न पद्धति अपनाते हैं। किशोर सिंह का आतिथ्य ग्रहण करके, विल्फर्ड और एलिस धीरे–धीरे किशोर सिंह की पत्नी सुकुमारी के प्रभाव–वृत्त में आते–जाते हैं। पति के सामने कुर्सी पर न बैठने और उसके साथ भोजन न करने वाली सुकुमारी को देखकर पति के प्रति पत्नी की निष्ठा और हार्दिक समर्पण का प्रभाव एलिस पर भी पड़ता है। 'शरणागत' वस्तुतः लेखक के इच्छित सोच (विशफल थिंकिंग) की कहानी है, जिसमें एक अंग्रेज़ युवती भारतीय जीवन–पद्धति की ओर आकृष्ट दिखाई जाती है–बहुत कुछ 'चंद्रगुप्त' की कार्नेलिया की तर्ज पर। सिपाही विद्रोह शांत होने पर, जब अंग्रेज़ दंपत्ति जाने को तैयार होते हैं तो उनके लिए दो घोड़े तैयार कराए जाते हैं। एलिस सुकुमारी से विदा लेने अंदर चली जाती है। लेकिन लौटने पर उसे पहचान पाना मुश्किल है–'ऐलिस ने अपना गाउन नहीं पहना, उसके बदले फीरोजी रंग की रेशमी कपड़े का कामदानी लहंगा और मखमल की कंचुकी, जिसके सितारे रेशमी ओढ़नी के ऊपर चमक रहे हैं! यह क्या? ...स्वाभाविक अधरों में पान की लाली भी है, आंखों में काजल की रेखा भी है, चोटी भी फूलों से गूंथी जा चुकी है और मस्तक में सुंदर–सा बाल अरुण का बिंद भी तो है।' [5] इस प्रकार प्रसाद एक ओर अंग्रेज़ों को शरण देकर, प्रथम स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि में सुरक्षा और सुविधा पर नज़र गड़ाए भारतीय नव–धनाढ्य वर्ग का संकेत देते हैं तो उसकी क्षतिपूर्ति के लिए वह भारतीय प्रभाव–वृत्त और जीवन–पद्धति को श्रेयस्कर और वरेण्य बताना ज़रूरी समझते हैं। इसके लिए वह कहानी के विकास की स्वाभाविक स्थितियों के प्रति भी उदासीन हो जाने की छूट लेते हैं। एलिस के कटे हुए बालों की चिंता किए बिना वह भारतीय युवती की तरह उसका श्रृंगार करवा कर, उसकी वेणी में फूल गूंथने की संभावना को भी छोड़ने को तैयार नहीं हैं। एलिस के लिए, पति के साथ जाने को, सजा–सजाया घोड़ तैयार खड़ा रहता है और सुकुमारी के सुझाव पर उसके लिए पालकी तैयार की जाती है, जिसे वह शांत भाव से स्वीकार भी कर लेती है।

स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में, एक लेखक की हैसियत से, जयशंकर प्रसाद की संलग्नता और रचनात्मक भूमिका निश्चय ही प्रेमचंद से भिन्न प्रकार की थी। प्रेमचंद की कहानियों में, 'सोज़ेवतन' से लेकर 'समरयात्रा' तक, भारतीय जनता की प्रतिरोध चेतना तथा जन–उभार का अंकन अत्यंत तेजस्वी रूप में उपलब्ध है। प्रसाद के यहाँ भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की ऐसी कोई चेतना नहीं है। निश्चय ही इस देशव्यापी आंदोलन में उनकी हिस्सेदारी और प्रतिबद्धताएं भिन्न प्रकार की है। उनकी हिस्सेदारी व्यक्तिगत और रचनात्मक दोनों रूपों में, राजनीतिक उथल–पुथल के बीच सीधी और प्रत्यक्ष न होकर देश के ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भों के पुन:सृजन और व्याख्या के माध्यम से सामने आती है। जहां प्रेमचंद देश की सामान्य जनता की हिस्सेदारी को बहुत मुखर एवं तेजस्वी रूप में अंकित करते हैं, प्रसाद के यहाँ उनकी कहानियों में उसका वह रूप कहीं दिखाई नहीं देता।

संदर्भ

1. छाया, पृ. 10
2. वही, पृ. 74
3. वही, पृ. 34
4. वही, पृ. 18
5. वही, पृ. 30

13. सूखा बरगद

मौजूदा सामाजिक संरचना में सांप्रदायिक भेदभाव की समस्या अत्यन्त जटिल तथा बहुरूपीय है। किसी की सांप्रदायिक कटुता को बढ़ाने वाली साज़िशों को कब देशभक्ति और राष्ट्रीयता का जामा पहना दिया जाएगा और किसी दूसरे के सहज जातीय संस्कारों को कब सांप्रदायिक रंग चढ़ाकर प्रस्तुत कर दिया जायेगा—कुछ कहा नहीं जा सकता। व्यवस्था के पास धर्म निरपेक्षता और सांप्रदायिकता की अपनी व्याख्याएँ हैं, अपने तर्क हैं। ऐसे में सांप्रदायिकता के विविध रूपों और स्तरों को उपन्यास की केन्द्रीय स्थिति के रूप में रखना एक बड़ी रचनात्मक चुनौती है। लेखक को इस बात के प्रति सचेत रहना है कि व्यवस्था का तर्क उसका अपना तर्क न बन जाये। उसका लक्ष्य यह नहीं होना चाहिए कि वह इस समस्या से सापेक्ष वस्तुगत स्थितियों की सूचना भर देकर मुक्ति पा ले। बल्कि रचना की सामाजिक सोद्देश्यता के लिए यह ज़रूरी है कि वह वर्ग—दृष्टि से व्यवस्था के तर्क का पर्दाफाश करे और वस्तुगत यथार्थ का पात्रों की सहज और संवेद्य जीवन स्थितियों के माध्यम से कलात्मक रूपांतरण करे। रचना में हमारा ध्यान किसी समस्या विशेष के जाने—पहचाने रूपों पर न होकर उसमें व्यक्त वैविध्यमय जीवनानुभवों पर केंद्रित रहता है। लिहाज़ा रचना की ताकत महज एक दृष्टिकोण को प्रोजेक्ट करने में नहीं है बल्कि अपने दौर के जीवन की इस विविधता और जटिलता को अपने अनुभव का हिस्सा बनाने में निहित है। यह प्रक्रिया जितनी तीव्र और स्वभाविक होगी; पात्र उतने ही सजीव और विश्वसनीन होंगे। अनुभव से विच्छिन्न और विचार पर टिके हुए पात्र उस विचार को अलग कर देने पर सपाट नज़र आयेंगे। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो मंजूर एहतेशाम के 'सूखा बरगद' उपन्यास की शक्ति और सीमाएँ दोंनों हमारे सामने स्पष्ट हो जाती हैं। सीमाएँ इसलिए कि हिंदू—मुस्लिम सांप्रदायिकता के राजनीतिक पहलूओं को छूने के लिए जिस वैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा थी उसे अपने तमाम रचनात्मक कौशल के बावजूद वे अर्जित नहीं कर पाये हैं। तथापि इस उपन्यास की सबसे बड़ी खूबी यह है कि हम खुद को इस समस्या के कुछ सर्वथा अपरिचित और अनछुए पहलुओं के रू—ब—रू खड़ा पाते हैं और हमारी सोच इस समस्या के आधार अर्द्ध सामंती व्यवस्था—के आमूल परिवर्तन की दिशा में सक्रिय होती है।

'सूखा बरगद' के केंद्र में एक ऐसा निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार है, सामाजिक दबाववश जिसकी जीवनी—शक्ति धीरे—धीरे निःशेष होती जा रही है, मानवीय संवेदना का रस बड़ी तेजी के साथ सूखता जा रहा है। यह प्रक्रिया अब्बू अब्दुल वहीद ख़ां, अम्मी, रशीदा और

सुहेल के जीवन में अलग–अलग स्तरों पर घटित होती है। इसके सिर्फ़ संस्कारजन्य और आत्मगत कारण ही नहीं हैं बल्कि इनसे कहीं अधिक प्रभावी अव्यवस्थाजन्य और वस्तुगत कारण भी मौजूद हैं। ये कारण एक दूसरे से परस्पर इतने गुंथे हुए हैं कि उनकी अलग से पहचान कर पाना एक व्यक्ति के लिए मुश्किल बात है। एक ओर अल्पसंख्यक जाति के मन में रहने वाला एक ख़ास तरह का असुरक्षा का भाव है, दूसरी ओर निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक सीमाओं का दबाव है। इसके साथ ही अब्बू, अम्मी, रशीदा और सुहेल की अपनी निजी अस्मिता को तलाश करने की कोशिश है जो उन्हें एक छत के नीचे रहते हुए भी एक दूसरे से दूर छिटकाये रहती है। यह कोशिश अब्बू के जीवन के अन्त का कारण बन जाती है और अम्मी अपने धार्मिक संस्कारों की गिरफ्त में एक बिन्दु पर आकर समूचे परिदृश्य की एक तटस्थ दर्शक बनकर रह जाती हैं। रशीदा और सुहेल इस अस्मिता की तलाश में सोच के दो विपरीत ध्रुवों पर पहुँच जाते हैं। उपन्यास में घर की इस अराजकतापूर्ण परिस्थिति को बरगद के रूपक के माध्यम से चित्रित किया गया है। अपने तमाम वैचाग्कि अंतर्विरोधों के बावजूद सुहेल के भीतर एक दिन यह एहसास जागता है कि यह बरगद बिल्कुल सूखा है। अपनी डायरी में वह आगे चलकर लिखता है; "यह हो कैसे सकता है? अपनी जड़ों पर खड़ा–का–खड़ा बरगद सूख कैसे सकता है?" यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल है जिसे लेखक हमारे सामने छोड़ जाता है। गहराई से देखें तो उपन्यास की संवेदना में यह बरगद सिर्फ़ एक घर की अलामत बनकर नहीं रह जाता बल्कि इसकी व्यंजकता बहुत व्यापक है और यह बरगद सांप्रदायिकता के संकीर्ण आधारों पर खड़ी हुई समूची व्यवस्था को प्रतीकित करता है।

सुहेल और रशीदा की जड़ें जिस परिवेश में हैं, उस परिवेश से लेखक की समीपी पहचान है। इसलिए वह चीज़ों को इतनी बारीकी के साथ 'आब्ज़र्व' कर पाया है। इसी वजह से वह इस समस्या के सरलीकरण से भी बच सका है। आमतौर पर इस देशव्यापी समस्या का एक तरह से आकलन कर दिया जाता है। एक क्षेत्र के परिवेश विशेष की अपनी जटिलताओं को नज़रअंदाज़ कर उसे एक रंग दे दिया जाता है। यह तसलीम करते हुए कि यह शहर–भोपाल–स्वयं में कोई निरपेक्ष इकाई नहीं है, इसकी अपनी स्थानीय विशिष्टता है, इसके विकास की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। लेखक की दृष्टि में भले ही देश का समूचा सामाजिक परिदृश्य हो किंन्तु उसके विचारों का प्रक्षेपण–बिन्दु यह एक इकाई ही है। यह एक ऐसा परिवेश जहाँ आज़ादी के बाद ऊपरी सतह पर बड़ी तेजी के साथ बदलाव आया है किंतु इसकी भीतरी पर्तों में वही ठहराव है, वही यथास्थिति है। शहर का कायाकल्प हो रहा है और

बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक जातियाँ धार्मिक आधारों पर सिकुड़ती जा रही हैं। रशीदा और सुहेल के भीतर धार्मिक संस्कार बचपन से ही बद्धमूल होते चले जा रहे हैं। सुहेल के मन में धार्मिक शिक्षाओं को लेकर प्रश्न भी उठते हैं किंतु भावनाओं के आगे तर्क अक्सर हार जाते हैं। फफू हज़रत इब्राहिम और हज़रत इस्माईल के क़िस्से सुनाती हैं। अम्मी की आकांक्षा है कि उनके बच्चे एक नेक और मज़हबी इंसान बनें। उनका परिवेश उन्हें एक विशेष संप्रदाय से पहिचान कायम करने को प्रेरित करता है। तब यह और स्पष्ट हो जाता है जब मुस्लिम कट्टरतावादी असग़र साहब और जनसंघ के साहनी साहाब उनके संपर्क में आते हैं। लगता है कि बाह्य परिवर्तन संस्कारों की जमीन को बिल्कुल भी नहीं छू सके हैं। अपनी सांप्रदायिक पहचान बनाये रखना हर व्यक्ति की जैसे नियत सी बन गयी है। कहानी की नैरेटर रशीदा और छोटा भाई सुहेल इसी क्रूर नियति के विरुद्ध अपनी–अपनी तरह से संघर्ष करते हैं। परिवेश के ठहराव को तोड़ने की प्रक्रिया में ही उनकी चारित्रिक विशिष्टता और शक्ति उभरकर सामने आ पाती है।

रशीदा के माध्यम से लेखक ने इस तथ्य को बार–बार रेखांकित किया है कि उनकी पहचान परिवार की आर्थिक–सामाजिक स्थिति से निर्धारित होती है एक संप्रदाय विशेष से नहीं। उन जैसे ही छोटे–छोटे सुखों और दुखों के बीच जीने वाले दूसरी जाति के लोगों और उनमें कोई बुनियादी फ़र्क नहीं है। इस बात को महसूस करते हुए भी कहने का साहस वह नहीं जुटा पाती। "हम आर्थिक रूप से किस वर्ग–विशेष से सम्बन्धित हैं, अब्बू की आमदनी कितनी है, मज़हब के नाम पर हमारा मुसलमान होना क्या अर्थ रखता है, सोच पाना–सम्भव नहीं था।" उनका संबंध एक ऐसे वर्ग से है जो ज़रा–सी अतिरिक्त सुविधा मिल जाने पर कुछ ऊपर की ओर खिसक जाता है और सुविधा में थोड़ी–सी कटौती हो जाने पर नीचे की ओर चला आता है। वह यह भी जानती है कि अपनी वर्ग–स्थिति के बोध के बावजूद उस संस्कृति से अलगाव संभव नहीं है जोकि उनके संस्कारों में बहुत गहरे में रची–बसी है। अपने बचपन की याद करते हुए वह कहती है, "हम लोग कल्लो और सईदा आपा की दुनिया और कुसुम, नसीमा या दीपक की दुनिया के अलावा एक तीसरी दुनिया में थे, जहाँ कभी ऊपर से बहुत दूर नीचे की दूनिया के पास खुद को पाते, किसी पल फिर एकदम ऊपर की दुनिया के पास पहुँच जाते। मैं सोचती हूँ, जहाँ मैं थी वहाँ से कल्लो या कुसुम तक बराबर की ही दूरी थी। आसपास की थोड़ी–सी चीज़ें न होतीं तो मैं कल्लो हो जाती–इब्बू दादा की गालियाँ सुनती, भैंस के आगे चारा डालती। या कुछ और थोड़ा–सा होता तो कुसुम–लड़कों को

फ़्लर्ट करती।" यह दृष्टिकोण पर हर ओर से प्रहार किया जाता है और ऐसा माहौल बनाया जाता है कि वे मिथ्या–चेतना को अपने जीवन व्यवहार का अंग बनायें और धर्म में अपनी सुरक्षा खोजें।

उपन्यास की संवेदना के विभिन्न आयामों पर दृष्टि करते हुए सबसे पहले इस तथ्य की ओर ध्यान जाता है कि वहुसंख्यकों के सांप्रदायिक प्रभुत्व (कम्यूनल डामिनेंस) का ख़तरा दिखाकर अल्पसंख्यकों, विशेष कर मुसलमानों, में असुरक्षा का भाव पैदा किया जा रहा है। परोक्ष रूप से मनोवैज्ञानिक दवाव डाला जाता है कि संकीर्ण धार्मिक आधार पर एकजूट होने में ही उसकी अस्मिता सुरक्षित है। फिर यही भय दूसरे रूप में वहुसंख्यकों को भी दिखाया जाता हे कि यदि अल्पसंख्यक एक जुट होकर एक शक्ति बनकर उभर आयेंगे तो उनका प्रभुत्व नष्ट हो जायेगा। सांप्रदायिकता के उत्स व्यवस्था की इस चिंतन–पद्धति में है। लेखक ने अनेक कोंणों से इस चिंतन–पद्धति की निरर्थकता को सिद्ध किया है। अपने जीवन का प्रत्यवलोकन करते हुए रशीदा की दृष्टि शैशव की कुछ घटनाओं पर जाती है यहाँ लेखक ने इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या की ओर संकेत किया है नन्हें चचा एक मज़हबी आदमी हैं और स्कूल का अध्यापक एक तत्त्ववादी हिंदू। ऐसा नहीं कि सचेत रूप से इतिहास को सांप्रदायिक साँचे में ढाल रहे हों वल्कि इस परिवेश ने दोनों को अपनी–अपनी तरह से व्याख्या करने का अभ्यस्त बना दिया है। क्लास में जो सबक पढ़ाया जाता है उसमें शिवाजी की बहादुरी के कारनामें हैं उनके जीवन से देश प्रेम और बलिदान की प्रेरणा लेने की शिक्षा दी जाती है। और नन्हें चचा जव वात करते हैं, तो शिवाजी 'पहाड़ी चूहा' हो जाते हैं और औरंगजेव आलमगीर! निश्चय ही कक्षा में पढ़ाये जाने वाले 'वीर शिवाजी और नन्हें चचा के क़िस्सों के 'औरंगजेव आलमगीर' दोनों के पीछे यकसां सांप्रदायिक दृष्टिकोण है। जहाँ इतिहास को इस नज़र से देखने की प्रेरणा दी जा रही हो वहाँ शहर में पहले हिंदु–मुस्लिम फ़साद को देखकर एक छोटी उम्र में रशीदा के मन पर क्या प्रभाव पड़ा होगा–इसका अनुमान किया जा सकता है।

भारत पाकिस्तान युद्ध से संबंधित घटनाओं में इस समस्या का एक नया रूप उभर कर आता है। फफू का परिवार कराची में रहता है। रशीदा फफू की चिंता को यह सोचकर बुद्धिसंगत वना लेती है कि उस मुल्क से हमदर्दी कैसी, जिसे तुमने आज तक देखा ही नहीं? लेकिन सुहेल शहर में निकलने पर महसूस करता है कि लोग मुसलमानों की देशभक्ति पर संदेह करते हैं। यह कैसा दौर है जवकि मुसलमान को हिंदुस्तानी होने का सुबूत देना पड़ता है।

सुहेल को लगता है कि उसे और उसके मज़हब के लोगों को पाकिस्तान का जासूस समझा जा रहा है। अब्बू उसके मुसलमान होने की ग्रंथि को ख़त्म करने की कोशिश करते हैं किंतु सुहेल इस ग्रंथि से उबर नहीं पाता। उसका मित्र विजय भी इस बात को महसूस करता है कि बहुसंख्यक जाति सचमुच मुसलमानों की निष्ठा पर अकारण संदेह कर रही है। वह सुहेल को कन्विंस करने की कोशिश करता पर कोई असर नहीं होता। लेखक यह रेखांकित करना चाहता है कि इस युद्ध ने अनायास ही दोनों संप्रदाय के लोगों को एक दूसरे से दूर ठेल दिया था और धार्मिक तत्त्ववादी ताक़तों को पनपने के लिए एक अनुकूल अवसर मिल गया था। फलस्वरूप वहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता की प्रतिक्रिया में अल्पसंख्यकों में भी सांप्रदायिक भावों ने ज़ोर पकड़ा जिसे कि हम सुहेल के भीतर देख सकते हैं। यह ग़ौर तलव है कि मज़दूर और छोटे किसान—चाहे वे हिंदु हों या मुसलमान इस युद्ध से उत्पन्न सांप्रदायिक तनाव की छाया से बिल्कुल दूर थे। पढ़े—लिखे मध्यवर्ग पर इसका ज़्यादा असर था। सुहेल और विजय थोड़े—बहुत अंतर के साथ इसी वर्ग से रिश्ता रखते हैं। अत: वे मध्यवर्गीय सोच के दायरे में ही इस समस्या का हल निकालना चाहते हैं।

इस प्रसंग में शानी की 'युद्ध' कहानी का अनायास ही स्मरण हो आता है। भारतीय मुसलमान की सामाजिक स्थिति को सूक्ष्म भाव—स्तरों पर उद्घाटित करने वाली हिन्दी की यह अद्वितीय कहानी है अप्पू के सवालों के आगे उसके पिता रिज़वी और उनके मित्र शंकरदत्त के तर्कों का खोखलापन उजागर हो जाता है। लगता है कि अप्पू ने यथार्थ पर पड़े हुए पर्दे को उधाड़ दिया है और हम उस सच्चाई के ठीक सामने खड़े हैं जिसका सामना हम करने से निरंतर कतराते रहे हैं। यदि इस वात को मंजूर एहतेशाम की मौलिक सर्जनात्मकता पर संदेह के तौर पर न लिया जाये तो मैं चाहूँगा कि 'युद्ध' कहानी इस उपन्यास में अनेक जगह झाँकती नज़र आती है।

'सूखा बरगद' में एक क़िस्म के धार्मिक तत्त्ववाद के खिलाफ़ दूसरे क़िस्म के धार्मिक तत्तवाद के वल पकड़ने की प्रक्रिया को भी अभिव्यक्ति दी है, साथ ही इसके सशक्त प्रतिरोध को दिखाया है। भारतीय समाज में यह एक विडम्बना ही है कि गाय और सुअर थोड़े अंतर के साथ हिंदू और मुसलमान जातियों के अस्तित्व की पहचान बन गयी हैं। ये दोनों आज जनता में मिथ्या चेतना फैलाने वाले सबसे सशक्त साधन बन गये हैं। धार्मिक आचार संहिता के अनुसार हिंदू गाय नहीं खा सकता न ही किसी दूसरे को खाने देता और मुसलमान सुअर नहीं खा सकता किंतु किसी दूसरे के खाने पर उसे आपत्ति नहीं है। अब्बू अब्दुल वहीद खां वकील

एक उदार विचारों वाले व्यक्ति हैं। इस्लाम के उसूलों का विरोध करने के इरादे से नहीं, मित्रों के बीच में आ पड़ी किसी बात के कारण एक बार सुअर का मांस खा लेते हैं। असगर साहब जैसे व्यक्ति को यह बर्दाश्त नहीं है। सुहेल बहुत हद तक उसके तर्कों से सहमत है। सुहेल को असगर से ही पता चलता कि उन्होंने सुअर का गोश्त खाया है। सुहेल अब्बू से इस मुद्दे को लेकर तर्क करता है। लेखक अब्बू के माध्यम से सही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। असगर साहब की राजनीति एक जाति विशेष की विरोधी ही नहीं अपने सार तत्त्व में मानव विरोधी है। अब्बू का कहना है: "जब दो हिंदू एक दूसरे से लड़ते हैं या मुसलमान दूसरे के छुरा मार देता है, तो असगर साहब को उनकी जिहालत पर कोई दुख नहीं होता, लेकिन अगर एक हिंदू और मुसलमान में तू–तू मैं–मैं भी हो जाय तो उन्हें उसके पीछे सियासत–ही सियासत नज़र आती है।" इसी बहस के दौरान अब्बू इस धार्मिक तत्त्ववाद के मूल में निहित शासकवर्गों के शोषण के मंशा को भी स्पष्ट कर देते हैं। उनकी नज़र में शहर में बेगिनती मस्जिद और मंदिर बनवा देना भी शोषण की एक सुनियोजित साज़िश है जिससे 'आदमी हुकूमत करने वाले के भी हाकिम की इबादत करता रहे। सारे दुख मुकद्दर सहता रहे और उससे दुआ करे कि मरने के बाद जन्नत मिल जाये और यह समझदार लोग इसी दुनिया में जन्नत के मज़े लेते रहें, अवाम के साथ मनमानी करते रहें।' असगर साहब इन्हीं लोगों की विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। उनकी कोशिश है कि हिंदू और मुसलमान रहें, पर आदमी न रहें।

लेखक ने इसी बहस के दौरान इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि हिंदू–मुसलमान की समस्या आमतौर पर जितने सपाट और इकहरे रूप में पेश की जाती है; उतनी है नहीं। आम आदमी की दृष्टि इस समस्या को बनावटी तौर पर पेश करने के पीछे निहित स्वार्थों पर नहीं जाती। वह इतने भर से ही उत्तेजित हो जाता है कि हिंदू पर अत्याचार हो रहा है या मुसलमान पर। धर्म का शोषण की संगठित संस्था के रूप में इस्तेमाल करने वाले तत्त्वों की ओर संकेत करते हुए अब्बू कहते हैं: "मज़हब इनके लिए एक ख़ास रब की इबादत करना, या एक ख़ास तरह से ज़िंदा रहना ही नहीं, सबसे पहले तो एक धंधा है। बिल्कुल ऐसा ही समझ लो जैसे जूते बेचना।" धर्म के इस व्यवसायिक रूप को समझकर सुहेल का असग़र साहब को लेकर मोहभंग होता है और वह हर चीज़ को पिता की धर्म–निरपेक्ष दृष्टि से देखने का हामी हो जाता है। उसके सोच में एक सकारात्मक परिवर्तन आता है।

सांप्रदायिक संस्कार इतने गहरे हैं कि लोग धर्म का पर्दा डालकर अपराध को भी आदर्श के रूप में रखना चाहते हैं। वे अपराध को कार्य–कारण के संबंधों में परिभाषित करने के लिए

तैयार नहीं हैं। उच्च मध्य वर्ग का व्यक्ति स्मगलिंग करे या कालाबाज़ारी उसके हर अनैतिक आचरण को डिफैंड करने के लिए लोग प्रस्तुत हैं। आम लोगों की मिथ्या चेतना रशीद मियां जैसे अपराधियों का रक्षा–कवच है। रशीद मियां राजनीति से कांग्रेसी हैं और अफीम की स्मगलिंग के अपराध में फंस जाते हैं। तरह–तरह के तर्क दिये जाने लगते हैं। जैसे हिंदू, मुसलमानों को बढ़ता हुआ नहीं देखना चाहते हैं, अगर दंगे–फसाद से आप किसी तरह बच निकलें तो सैंकड़ों दूसरे इंतजाम हैं भिखारियों से बदतर हालत को पहुँचाने को, यह मामला हिंदू–मुस्लिम भी है और सियासी भी, रहीम मियां का एक जनसंघी नेता से झगड़ा चल रहा था उसने बदला लिया है, इत्यादि। सुहेल इन तर्कों का प्रतिवाद करते हुए सही पक्ष रखता है कि बुर्जुआ राजनीति के अपने अंतर्विरोध हैं, इन्हें हिंदू–मुसलमान संबंधों से भ्रमित नहीं करना चाहिए। बात खिंचते हुए पाकिस्तान तक चली जाती है। उपन्यास में ऐसा अनेक बार हुआ है। यह एक प्रकट सच्चाई है कि कोई धर्म–निरपेक्ष सोच का मुसलमान यदि अपनी कोई उचित बात मनवाना चाहता है तो उसे पाकिस्तान से उदाहरण खोजने पड़ते हैं। इसकी वजह शायद यह है कि चेतना का स्तर निम्न होने के कारण हमारे समाज के बहुत बड़े हिस्से को धर्म के अलावा कुछ दिखाई ही नहीं देता। जबकि आज हम देखते हैं कि भारत में हिंदू धर्म सवर्णों द्वारा हरिजनों पर अत्याचार नहीं रोक सका और इसी तरह पाकिस्तान में इस्लाम पठानों और मुजाहिरों के द्वंद्व को रोकने में सफल नहीं हुआ। अतएव लोग सांप्रदायिक नहीं हैं बल्कि व्यवस्था उन्हें बड़े ही महीन तरीकों से इस नियति की ओर धकेलती है। रहीम मियां के समर्थक इसी नियति में घिरे हुए हैं।

सुहेल के सोच में पुनःविपथन दिखाकर लेखक ने सामाजिक संघर्ष में मध्यवर्ग की सीमाओं को रेखांकित किया है। वह गीता के प्रेम को विवाह में नहीं बदल पाता और गीता का विवाह किसी हिंदू लड़के से हो जाता है। रशीदा को यह अनुमान करना भी कठिन था कि सुहेल के साथ हुई दुर्घटना उसके जीवन के साथ–ही–साथ विचारों को ही इस हद तक बदल सकती है। एक मामूली भावनात्मक आघात उसके तर्क की इमारत को क्षणभर में ढहा देता है। अगर सही दिशा में व्यक्तित्वांतरण तो न हो तो मध्य वर्ग का प्रतिरोध सुहेल की सीमाओं के भीतर ही चुक जाता है। इसके बाद उसकी नज़र में एक स्याह हो जाता है और दूसरा सफ़ेद। आसपास घटित होने वाली घटनाएँ एक संकीर्णता को बल देती हैं। प्रो. रज़ा साहब को कॉलेज से निकाले जाने की एक ऐसी घटना है।

सुहेल जैसे युवक की इस मानसिकता के रचाव के पीछे शासन वर्गों की धर्म निरपेक्षता के मूल में प्रच्छन्न रूप से निहित धार्मिक अन्ध–विश्वास मौजूद हैं। राष्ट्रीय आयोजनों में एक धर्म विशेष के विधि विधान से सब कार्यक्रम सम्पन्न होते हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन अनुष्ठानों से बहुसंख्यकों के सांप्रदायिक अंह की तुष्टि होती है और इनका अल्पसंख्यकों पर विपरीत प्रभाव होना स्वाभाविक है। फलस्वरूप लोग अपनी वर्ग–स्थिति को भूलकर अपने–अपने धर्म को बचाने की चिंता से जुड़ जाते हैं। सुहेल के साथ यही होता है। विजय उसे समझाता है कि वह हर वक़्त हिंदू–मुसलमान के बारे में न सोचा करे। इस पर सुहेल की बड़ी सहज प्रतिक्रिया रहती है : "तो क्या थर्ड वर्ल्ड वार या एटमॉस्फियरिक पलूशन् के बारे में सोचूँ! जो चीज़ परेशान करती है इंसान उसी के बारे में सोचता है।" यह एहसास इतना गहरा जाता है कि आख़िरकार वह आपातकाल को उचित ठहराने लगता है। सुहेल के माध्यम से लेखन ने इस यथार्थ से साक्षात्कार कराया है कि व्यवस्था एक व्यक्ति के मन में किस तरह से सांप्रदायिक भावों का प्रवेश कराती है और उसे अपना हिस्सा बना लेती है। शांति काल में व्यक्ति के पास सोचने का अवकाश होता है। अत: वह इस साज़िश को लेकर सचेत भी हो सकता है। इसलिए समय–समय पर फ़िसाद करा दिये जाते हैं ताकि वह इस ग्रंथि से उबर ही न पाये। जमशेदपुर में फ़साद होता है। सुहेल फिर रशीदा से कहता है: "जमशेदपुर कर्बला बना हुआ है–मुसलमानों का मार–मार कर नाश कर डाला है। वह जो एक राइटर था–हिंदू–मुसलमान भाई–भाई की थीम पर उर्दू में ज़िंदगी भर कहानियाँ लिखता रहा, उसे भी निपटा दिया! अख़बार में उसकी छोटी–सी तस्वीर छपी है।" इस तल्ख़ी के साथ 'सूखा बरगद' उपन्यास का अन्त होता है।

विजय के पिता साहनी साहब के माध्यम से एक ख़ास तरह की प्रवृत्ति से परिचय होता है। साहनी एक हिंदू तत्त्ववादी विचारों के व्यक्ति हैं। अगर कोई मुसलमान अपने मुसलमान होने को महसूस न भी करना चाहे तो इस प्रवृत्ति के लोग बड़े ही शालीन तरीक़े से उन्हें यह एहसास कराना चाहते हैं। साहनी विभाजन के समय पंजाब से भोपाल आकर बस गये हैं। रशीदा उनके लड़के विजय से प्रेम करती है। जब वह उनके घर जाती है तो साहनी की फ़र्क़ पैदा करने वाली बातों से अपने मुसलमान होने के एहसास को लेकर उदास वापस लौटती है। इस व्यवहार से उसके और विजय के प्रेम की सीमाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं।

सुहेल के क्षोभ को तो बाहर के संदर्भों में कोई न कोई आउट लेट मिल ही जाता है लेकिन रशीदा इस त्रासदी को भीतर सहती रहती है। वह जनलिस्ट होने का स्वप्न लेकर चलती है

लेकिन आकाशवाणी में एनाउंसर हो जाती है। वहाँ वह अलीहुसैन साहब के सम्पर्क में आती है। वे पुरानी फ़सल के कम्युनिस्ट हैं। वे उसे इस क्रूर सत्य का एहसास करा देते हैं। "आज हम लोग कहाँ हैं? कम्युनिस्ट होते हुए भी पहले मुसलमान हैं या हिंदू।" इसी लिए विजय के इतने समीप पहुँच जाने के बाद भी उसे एक अदृश्य दूरी का एहसास होता है। किन्तु वह सुहेल की तरह अपने जीवन को इस नियति आबद्ध नहीं करना चाहती। बड़ी फूफी के बेटे–बहू परवेज़ और रज़िया पाकिस्तान से आते हैं। पाकिस्तान के हमीद साहब नाम के व्यापार से वे उसका रिश्ता करना चाहते हैं। उनके पाकिस्तान लौट जाने के बाद अम्मी निरंतर उसे विवाह के लिए प्रेरित करती रहती हैं। इसी बीच भुट्टो को मौत की सज़ा दिये जाने की ख़बर सारी दुनिया में फैल जाती है। इस घटना के साथ ही रशीदा का हर नियति और हर सांप्रदायिक भ्रम को चुनौती देने वाला व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है। यहाँ लेखक ने एक फैंटेसी के जरिए रशीदा की मनोदशा को चित्रित किया है। सर्कस के एक दृश्य में घूमते चक्के पर एक लड़की बँधी है। उस पर ख़ंजर–आज़माई की जा रही है। वह देखती है कि लड़की की जगह भुट्टो बँधे हुए हैं। कल्पना करती है कि हमीद साहब उसके समीप बैठे हुए हैं। वह घूमते चक्के की ओर संकेत करती हुई कहती है–'अगर इसे ख़राश भी आई तो मेरा आपसे कोई वास्ता नहीं रहेगा।' जैसे रशीदा के अंतरतम की समूची शक्ति पूँजीभूत होकर इस एक वाक्य में केन्द्रित हो जाती है।

मंजूर एहतेशाम की यह कोशिश रही है कि वे भारत विभाजन की घटना से लेकर आठवें दशक तक के राजनीतिक परिदृश्य की सापेक्षता में निम्न मध्य वर्गीय जीवन के यथार्थ चित्रों को प्रस्तुत कर सकें। मूल कथानक के समानान्तर भारत और पाकिस्तान के राजनीतिक संदर्भों की ओर उपन्यास में संकेत किया जाता है। आपातकाल, जनता पार्टी का शासन, भारत पाकिस्तान युद्ध, बंगला देश का निर्माण और भुट्टो की फाँसी आदि कितने संदर्भ हैं जो मूल कथानक में व्याघात उत्पन्न करते हैं। भारत विभाजन की घटना अब्बू सुनाते हैं इसे भी बहुत स्पेस दी गयी है। बेहतर होता कि इसकी योजना एक राजनीतिक उपन्यास के रूप में की जाती। या फिर इस व्यापक राजनीतिक परिदृश्य को एक सही वैचारिक परिप्रेक्ष्य दिया जाता। यहाँ एक सतही राजनीतिक समझ ही उभर पाती है कि कांग्रेस और जनसंघ क्रमशः मुसलमान और हिन्दुओं के प्रतीक हैं। इनके वर्ग–चरित्र को उजागर करने की ज़रूरत महसूस नहीं की। रजबअली भी जनसंघ में शामिल होता है तो यह सोचकर कि भीतर घुसकर देखना है कि हिन्दू, मुसलमानों को लेकर क्या सोचते हैं? यह भी सच है कि भारतीय राजनीति के गहराई के साथ विश्लेषण की यहाँ गुँजाइश भी नहीं थी।

'सूखा बरगद' से यह अपेक्षा जुड़ी हुई थी कि इसमें मुस्लिम परिवेश के ऐसे पहलुओं का स्पर्श किया जाना चाहिए; यथार्थ के सरलीकरण के व्यामोह में आम लेखक जिन्हें अनदेखा कर जाते हैं। एक हद तक यह अपेक्षा पूरी भी होती है किन्तु जहाँ लेखक मुस्लिम संस्कारों के गहराई के साथ सूक्ष्म अवलोकन की कोशिश करता है, वहीं एक स्थूल राजनीतिक संदर्भ आ जाता हैं इस संरचनागत ख़ामी के बावजूद इन दिनों सामने आये उपन्यासों में इसका एक अपना रचनात्मक वैशिष्ट्य है। यह उपन्यास वैचारिक संघर्ष की प्रक्रिया को एक ख़ास बिन्दु तक ले जाता है और इस प्रक्रिया को सही दिशा में आगे बढ़ने के लिए हमारी मानसिकता को तैयार करता है।

14. बाणभट्ट की आत्मकथा

बाणभट्ट की आत्मकथा एक क्लासिकल रोमैण्टिक उपन्यास है। अर्थात् अपने बन्ध, चित्रण, वर्णन, शिल्प, शैली में यह क्लासिकल है और प्राणगत ऊष्मा में रोमैण्टिक। ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से मिल कर एक अविभाज्य टेक्सचर बन जाते हैं। इस क्लासिकल विन्यास में अपेक्षित रोमैण्टिक सूत्रों की कमी नहीं है और रोमैण्टिक आवेग को क्लासिकल संयम बाँधे हुए है। क्लासिक में एक ओर औदात्त्य होता है तो दूसरी ओर जड़ता। लेखक ने औदात्त्य तत्त्व को लेते हुए रोमांस के सन्निवेश–द्वारा जड़त्व का सहज ही परिहार कर लिया है। एक जड़त्वजीवन और परिवेश के स्तर पर भी है। लेखक उस पर गहरा प्रहार करता है और समस्त उपन्यास में स्पन्दचेतना का नवोन्मेष फूट पड़ता है।

इस स्पन्द चेतना को जिस काव्यात्मक पैटर्न पर प्रस्तुत किया गया है वह अद्वितीय है। यह अद्वितीयता वस्तु, रूप दोनों में है क्योंकि जो वस्तु है वही रूप है, जो व्यक्ति है वही परिवेश है। इस प्रकार की अवयवगत सम्पूर्णता काव्य में ही सम्भव है। इसी लिए इसके पैटर्न को मैंने काव्यात्मक कहा है। काव्य का अनुवाद नहीं हो सकता, इसलिए बाणभट्ट की आत्मकथा का भी अनुवाद नहीं हो सकता। इसके एक तार के छू देने पर समस्त तार एक साथ झंकृत हो उठते हैं। झंकृति ही स्पन्द चेतना है।

महावराह इस स्पन्द चेतना के प्रतीक हैं। इस पौराणिक मिथ का दुहरा उपयोग है। एक ओर तो यह उस अटूट आस्था का प्रतीक है जो 'जलौघमग्ना सचराचरा धरा' का उद्धार करने में समर्थ है, दूसरी ओर यह मनुष्य की निमित्तता और अकिंचनता का बोध करता है। "महावराह के दाँतों पर उठी हुई धरित्री के मुखमण्डल पर जो उल्लास और दीप्ति का भाव था, वह देखते ही बनता था। महावराह के दोनों हाथ कटिदेश पर इस प्रगल्भता के साथ टिके हुए थे और बाहुमूल की पेशियाँ इस दृढता के साथ निकाली गयी थीं कि देखकर उनमें एक अपूर्व विश्वास उद्रिक्त हो उठता था।" विश्वास ही वह वस्तु है जो मनुष्य को बड़ा खतरा उठाने के लिए उत्प्रेरित करता है। इस विश्वास–विग्रह के आगे बाणभट्ट अपने को नगण्य महसूस करने लगा।

सचराचर धरा जल में मग्न है। सारा समाज एक प्रकार के अवरोध में है। भट्टिनी, महामाया, निपुणिका, सुचरिता यहाँ तक कि बाणभट्ट भी अवरुद्ध है। सम्पूर्ण मध्यकाल में एक गतिशून्यता भरी हुई है। राजनीति, संस्कृति, धर्म आदि बँधे घाटों के जल की तरह आविल

हैं। सोचने का बँधा हुआ तरीका है, धर्म एक बँधी–बँधायी परिपाटी है, सब लकीर के फकीर हैं। बाणभट्ट को लगा था–'न जाने क्यों मुझे ऐसा लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवश अवसाद की जड़िमा छायी हुई है।' इस उपन्यास में इस जड़िमा को तोड़ने का रचनात्मक प्रयास है।

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यास में एक ओर तो ऐतिहासिक प्रामाणिकता होनी चाहिए और दूसरी ओर उसकी गत्यात्मकता का बोध। द्विवेदी जी की ऐतिहासिक चेतना आधुनिक है, इसमें दो मत नहीं है। यह चेतना गति का दूसरा नाम है जो स्थिति को विच्छिन्न करने वाली स्फूर्ति के रूप में एक विशेष संकट के कारण इतिहास की अनिवार्य माँग के रूप में आविर्भूत होती है।

इतिहास की प्रामाणिकता के रूप में धर्म, दर्शन, उपासना, राजतन्त्र मूर्तिचित्र आदि के व्यापक सन्दर्भों को जो सूक्ष्म संश्लिष्ट तथा उन विशेषताओं के साथ जो उस युग की नितान्त अपनी है, कलात्मक वर्णन में उकेरित है, पेश किया जा सकता है। इस परिवेश में ही वे परिस्थितियाँ उगती हैं जिनके संघातों में पड़कर पात्र स्वयमेव क्रियात्मक हो उठते हैं। इस क्रियात्मकता के कई स्तर हैं–अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का स्तर, सांस्कृतिक जातीय स्तर, राजनीतिक स्तर। ये सभी स्तर अलग होकर भी एक हैं। इस समूचे परिवेश और क्रियात्मकता को गत्यात्मकता परिचालित करती है।

सम्पूर्ण उत्तरापथ निर्वीर्य राजतन्त्र और उच्छृंडखल सामन्तीय व्यवस्था में जकड़ा हुआ था। कुछ लोगों को इसका एहसास था पर वे जकड़े खड़े थे। इस जकड़न को जोड़ने का कार्य मुख्यत: स्त्रियाँ करती हैं। हेनरी मिलर का विश्वास है कि पुरुष के मुरदा हो जाने पर उसे जिलाने का कार्य स्त्रियाँ करेंगी। वे शक्ति हैं, वे त्रिपुरसुन्दरी हैं। निपुणिका, महामाया, भट्टिनी और सुचरिता ने अपने–अपने ढंग से स्पन्द–चेतना को आविर्भूत किया है।

निपुणिका भट्ट से पूछती है–'तुम असुर–गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा में डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो?' आगे चलकर उसने पुन: कहा था–'भट्ट यह अशोक बन की सीता है, तुम इसका उद्धार करके अपना जीवन सार्थक करो।' भट्टिनी का उद्धार तो निमित्त है। क्योंकि इसके उद्धार के साथ देश का उद्धार भी लगा हुआ है। मौखरियों का अवरोध असुरगृह है जो मध्यकालीन सामन्तों की उच्छृंडखलता को मुखर बनाता है। महामाया भी अपनी इच्छा के विरूद्ध इसी असुरगृह में आबद्ध थी। उन्होंने कहा

था कि उनका अवरोध में रहना अमंगलकारी है। अवरोध से बाहर आकर उन्होंने राजतन्त्र में जन्मे हुए जन जीवन को झकझोर दिया। गिरिवर्त्म के पास खड़ी म्लेच्छों की सेना के विरुद्ध उन्होंने आवाज लगायी—'अमृत के पुत्रों, मृत्यु का भय माया है, राजा से भय दुर्बल चित्त का विकल्प है। प्रजा ने राजा की सृष्टि की है। संघटित होकर म्लेच्छवाहिनी का सामना करो। देवपुत्रों और महाराजाधिराजों की आशा छोड़ो। समस्त उत्तरापथ की लाज तुम्हारे हाथों में है।. ..यह पहला अन्याय नहीं है। यह दुर्वह सम्पत्तिमद का चिरचरित रूप है। इसके लिए न्याय की प्रार्थना व्यर्थ है। अमृत के पुत्रों, धर्म की रक्षा अनुनय विनय से नहीं होती, शास्त्रवाक्यों की संगति लगाने से नहीं होती, वह होती अपने को मिटा देने से।...'

महामाया के कथन को काव्यात्मक वक्तव्य का रूप देने के लिए उसे गत्यात्मक अन्विति देने के लिए व्हेटारिक का प्रभावशाली प्रयोग किया गया है—"एक सहस्र कण्ठों ने दीर्घ दीर्घायित स्वर में प्रतिध्वनि की, 'मृत्यु का भय माया है।' उस महाध्वनि ने स्थाण्वीश्वर के दुर्भेद्य प्रस्तर—भित्तियों को चीरकर पर—प्रान्त तक हलचल मचा दी। भीड़ बढ़ने लगी और रह—रहकर आकाश को विदीर्ण करके एक ही स्वर गूँज उठा—'मृत्यु का भय माया है।' विराट पटमण्डप उस स्फीत जनसम्मर्द को धारण करने में असमर्थ हो गया। भीड़ राजमार्गों, गवाक्षों, वृक्षों और ध्वज—दण्डों को आच्छन्न करने लगी।"

यह वर्णन महामाया के वक्तव्य को विस्तारित करने अथवा उसकी प्रभावान्वित को घनीभूत बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके माध्यम से लेखक पाठकों के बोध को काव्यात्मक अनुभूति के रूप में परिणत कर देता है। भीड़ की धकमपेल के चाक्षुष बिम्ब के पीछे अपने जातीय जीवन का एक स्वर गूँजता रहता है—'मृत्यु का भय माया है।' और इसकी अनुगूँज देर तक छायी रहती है।

पर भट्टिनी को महामाया का सत्य आधा सत्य मालूम देता है। वह नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय देखती है। इसलिए वह म्लेच्छ कही जाने वाली जाति के उस पहलू को जगाना चाहती है जो नारी का सम्मान करना सिखा दे। यानी उसे हृदय परिवर्तन में विश्वास है। भट्टिनी को भट्ट की सरस्वती में इतना गहन विश्वास है कि उसके द्वारा निर्दय जातियों में भी संवेदना का संचार किया जा सकता है। किन्तु खुद भट्ट को काव्य की इस शक्ति में आस्था नहीं है। जब कालिदास के काव्य से वह उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तो और किसके काव्य से होगा? भट्ट की दृष्टि अधिक यथार्थवादी है। इतने ढेर के संवेदनात्मक साहित्य ने मनुष्य में क्या परिवर्तन किया? सच तो यह है कि साहित्य थोड़े से लोगों को ही

संवेदनशील बना पाता है। हृदय–परिवर्तन के मसीहाओं का क्या हुआ? बुद्ध को विष दिया गया, ईसा को कीलों में ठोंक दिया गया ओर गाँधी को गोली मार दी गयी। क्या दास्तेवस्की का कहना ही तो सच नहीं है कि मनुष्य मूलतः बर्बर है। वास्तविकता यह है कि वह पशु और मनुष्य दोनों है। न उसकी पशुता दूर की जा सकती है न मनुष्यता। उसकी बर्बरता को दूर करने की कल्पना महज कल्पना है। किन्तु इस दिशा में क्रियाशील होना बुरा नहीं है। किन्तु इस बर्बरता को दूर करने का उपाय महामाया के पास है, भट्टिनी के पास नहीं। भट्टिनी के यूटोपियाई सत्य को सत्य मानकर, अपने भोलेपन के कारण, हम अपनी भूमि और प्रतिष्ठा दोनों खो चुके हैं। भट्टिनी के सत्य से जड़िमा के प्रादुर्भाव का ख़तरा लगा रहेगा। इसलिए महामाया और निपुणिका का सत्य चाहे सम्पूर्ण सत्य न हो पर वह वास्तविक सत्य है। वास्तविक सत्य का अर्थ है कि वह यथार्थ है। उससे कोई छलावे में नहीं पड़ सकता।

और सत्य क्या है? जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण हो। बाणभट्ट ने अघोर भैरव की शब्दावली में इसे प्रस्तुत किया है–'देखो, विरति, सत्य अविभाज्य है। तुम्हारे बौद्ध दार्शनिकों ने संवृति–सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ सत्य कह कर उसे विभक्त करने का दम्भ फैलाया है। मानो ये दोनों परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है तो वह सारे जगत् का सत्य है, व्यवहार का सत्य है, परमार्थ का सत्य है, त्रिकाल का सत्य है।' लेकिन आज के सन्दर्भ में जबकि व्यक्ति और समाज के सत्यों में इतनी गहरी खाई हो गयी है, अघोरभैरव का सत्य सत्य से दूर प्रतीत होता है। मार्क्स का सत्य सत्य है या अस्तित्ववादियों का सत्य सत्य है अथवा दोनों का सत्य सत्य है। बौद्धों का सत्य विभाजन अधिक यथार्थ लगता है। अपने अपने सत्य को चरम सत्य सिद्ध करने के लिए संसार में लड़ाई होती रही और हो रही है। क्या निपुणिका का सत्य समाज का सत्य हो सकेगा? सत्य की नित्यता सन्दिग्ध है। हाँ, वैयक्तिक सत्य और सामाजिक सत्य का संघर्ष अवश्य नित्य हैं निउनिया के सन्दर्भ में बाणभट्ट ने कहा है–'निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है।' वस्तुतः व्यक्ति इसी असत्य के खिलाफ लड़ता है।

यह लड़ाई जिन्दगी है, गति है, इतिहास है। काफ्का ने अपनी डायरी में कहीं लिखा है–'एक बिन्दु हो, प्यार हो, आदमी लड़ जायेगा।' बाणभट्ट, भट्टिनी निपुणिका, महामाया, सुचरिता की शक्ति प्यार की शक्ति है। भट्ट की जड़िमा भट्टिनी तोड़ती है, उससे वह क्रियाशील हो उठता है। भट्टिनी के सौन्दर्य से बाणभट्ट अभिभूत है। बाणभट्ट की दृष्टि में उसकी स्मिति से सौ–सौ आरात्रिक प्रदीप जल उठते है।। उसकी चारुता सम्पत्ति भट्ट का काव्य है, उसका

पराक्रम है, उसकी जीवन्तमयता है। बाण अकुण्ठभाव से भट्टिनी को देता है और अकुण्ठ भाव से पाता भी है लेकिन इसके आधार पर यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि जो जितना देता है उतना ही पाता भी है।

भट्ट–भट्टिनी का प्रेम गेमैण्टिक है–आत्यन्तिक रूप के योटोपीय गेमैण्टिक। कुछ लोग इसे यथार्थ के मेल में न देखकर भट्ट पर कापुरुषता का आरोप भी करते हैं। किन्तु यह प्रश्न इतना सरल नहीं है कि झट से इस पर राय जाहिर कर दी जाये। गेमांस के सम्बन्ध में एक बार मैंने द्विवेदी जी से पूछा था। उन्होंने विनोदपूर्वक कहा था कि वह स्वास्थ्यवर्धक है लेकिन सहज सुपाच्य नहीं है। अर्थात् वह पच जाने पर ही लाभप्रद होता है। भट्ट पशु नहीं था, इसे अघोरभैरव ने कहा था। प्रेम शरीर से सम्बद्ध होकर भी मानस जगत् में ही जीवित हो सकता है। इसके अनगिनत आयाम हैं, अगणित स्थितियाँ हैं। नागी को, उसके सौन्दर्य को, केवल गोलाइयों में देखना आयातित चिन्तन का फल है, उस स्वतन्त्रता की माँग का फल है जो कहीं प्रतिबद्ध नहीं है। भट्ट ने निउनिया से कहा है–'यह बन्धन ही चारुता है, संयम है, सुरुचि है।' भट्ट भारतीय संस्कृति का व्याख्याता ही नहीं उसे अपने आचार–व्यवहार में उतारने वाला भी है। आज बन्धन, संयम सुरुचि का मजाक किया जाता है। वह मजाक इस हद तक बढ़ गया है कि गेमैण्टिक हो गया है भट्ट माधुर्य और लावण्य को देखता है विव्वोक और हेला को नहीं, जबकि आज का समाजशास्त्रीय शब्दावली को गोली मारकर भी उन्हीं को पसन्द करता है।

भट्ट के प्रेम को उसका अन्तर्द्वन्द्व मानवीय स्तर पर ला खड़ा करता है। प्रेम का बन्धन कभी–कभी इतना कस जाता है कि मनुष्य उससे मुक्त होने के लिए विकल हो उठता है। 'मैं कहने को तो उनकी रक्षा के लिए साथ हूँ। पर हो गया हूँ परम आश्रित। इस अवस्था से मुक्ति मिलनी चाहिए। आज से अधिक पराधीन कभी नहीं था।' कभी इस पराधीनता का वह स्वागत करता है और उसका हृदय नवनीत के समान ढरक जाना चाहता है। वह भट्टिनी के अधरोष्ठों की लीला, कपोलपाली की विभ्रम–वीचियाँ, बड़ी–बड़ी आँखों की ललाई देखकर अपने जीवन को अर्थ देता है। क्या आदमी को जीने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है? लेकिन भट्ट अपने जीवन को अधिक फलवान बनाना चाहता है। वह अपने सौभाग्य को अपने ही हाथों डुबो देना चाहता है–'मैं उनको उनके पिता के पास पहुँचा कर छुट्टी लूँगा। मैं अधिक मोहग्रस्त होना पसन्द नहीं करता।' पर क्या वह मोहमुक्त हो पाया?

प्रेम दो प्रेमियों को अनेक प्रकार से समृद्ध बनाता है। केवल प्रेम में ही अपने को निःशेष भाव से दिया जा सकता है। बंगाल के वैष्णवों ने इसे अच्छी तरह समझा था। प्रेम और सौन्दर्य की सार्थकता उसके रचनात्मक होने में है। भट्टिनी का सौन्दर्य और प्रेम पूर्णतः रचनात्मक था। प्रेम के प्रभाव से भट्ट उस समय के राजनीतिक चक्रों में उलझता है और उत्तरापथ के उद्धार में निमित्त बनता है। किन्तु इस प्रकार के प्रेम में एक खतरा लगा रहता है। व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र विचार कोई मूल्य नहीं रखता। भट्ट भट्टिनी का इतना अनुगत है कि उसका अपना व्यक्तित्व पराश्रित होता गया है, इसकी अनुभूति भट्ट को भी थी। जो भी हो पर भट्ट की अनुगतता सत्य है। लेखक ने उनकी वैयक्तिक सार्थकता पर बल देते हुए लोक की सार्थकता के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध कर दिया है।

निउनिया साधारण नारी है, भट्टिनी असाधारण। भट्टिनी को एक विशेष परिस्थिति में एहसास हुआ था कि वह लाख–लाख कन्याओं की भाँति एक कन्या है। उन्हीं की भाँति सुख–दुःख का पात्र वह भी है। उसका अहंकार मरकर भी जिन्दा रहता है क्योंकि वह मर नहीं सकता। उसका आभिजात्य जीवित रहता है। उसे जीवित रखने के लिए उस समय की परिस्थिति मजबूर करती है। बाणभट्ट, कृष्णवर्धन, लौरिकदेव उसे जीवित रखने में अपने–अपने ढंग से मदद करते हैं। उसका अनिन्द्य सौन्दर्य तुविरमिलिन्द के नयनताग होने के गौरव के साथ मिलकर और प्रभावशाली हो उठता है। तुविरमिलिन्द की असाधारणता कन्या की भी असाधारणता हो जाती है। किन्तु निउनिया अभिशप्त वर्ग की नारी है। उसे अभिशाप की आग में निरन्तर सुलगने का वरदान मिला है। वह अपने विकारों को दबा नहीं सकी क्योंकि वे सत्य थे। भट्ट को पाकर (देकर कहना अधिक संगत है) वह अपने विकागें को सिद्धि–सोपान मान लेती है। इस प्रतीति से उसकी जड़िमा तिरोहित हो जाती है। इस जड़िमा की जड़ें दूर तक गयी हैं। इसके लिए बहुत कुछ निर्वीय राजतन्त्र दायी है। इस तन्त्र के विरुद्ध निउनिया के तबके की स्त्री ही आवाज़ बुलन्द कर सकती है–'बड़ा दुःख है आर्य इस विराट् दैन्य के अन्तःस्पन्दनहीन दृह पर यह साम्राज्य की नयनहारी यात्रा चली जा रही है। मैं इस दृह की एक नगण्य कणिका मात्र हूँ। मुझे इस योग्य बना दो कि आप अपनी अग्नि से धधककर समूचे जंगल को भस्म कर दूँ। मैं तुम्हारा करावलम्ब चाहती हूँ। नारी का जन्म पाकर केवल लांछन पाना ही सार नहीं है। तुमने ही मुझे आनन्द की ज्योतिष्कणिका दी थी। तुम्हीं मुझे तेज की चिनगारी दो आर्य।' तेज की चिनगारी उपन्यास के काव्य–वक्तव्य का ऐसा प्रतीक है जो समय–समय पर जन–जीवन को ज्योतिर्मय बना देती है। जब तक स्पन्दनहीनता मौजूद रहेगी

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की नयनहारी यात्रा नहीं रुकेगी। ज्यों ही इस दूह में स्पन्द चेतना आयी साम्राज्यवाद–पूँजीवाद को ढहते देर नहीं लगेगी।

महामाया तो मूर्तिमान स्पन्दचेतना है। उनका सारा जीवन स्पन्दनपूर्ण है। गिरिवर्त्म के पास खड़ी लुटेरों की सेना के विरुद्ध जन–सेना का आयोजन उनकी ऊर्जस्विता का प्रमाण है। और भैरवियों का गान। वह तो ओजपूर्ण काव्य है...'अमृत के पुत्रों, आँधी की भाँति बहो, तिनके की भाँति म्लेच्छवाहिनी को उड़ा ले जाओ। संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है। जवानों, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।' इस भैरवगान में केवल ओज नहीं है, इसके पीछे वह सांस्कृतिक विरासत है जो हमारे वर्तमान के लिए उपादेय है।

फिर भी महामाया और निपुणिका के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनके जीवन को पूर्ण सार्थकता नहीं मिल पायी। सार्थकता की दृष्टि से भट्टिनी और सुचरिता का जीवन ही पूर्ण सार्थक कहा गया है। सार्थकता की बात इस उपन्यास में बार–बार उठायी गयी है। इससे लगता है कि एक स्तर पर सारे उपन्यास का केन्द्रीय वक्तव्य यही है। भट्टिनी और महामाया की बातचीत से सार्थकता के स्वरूप का पता लगता है। भट्ट के सम्पर्क में आने पर भट्टिनी को अनुभूत हुआ कि उसके भीतर एक देवता है जो आराधक के अभाव में मुरझाया हुआ था। नारी के रूप में वह धन्य हो गयी। महामाया पराजित–सी हो गयी। अवधूतपाद की साधना अधूरी रह गयी क्योंकि उसे विशुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला और निपुणिका को किसी पुरुष का सहारा नहीं प्राप्त हुआ। विशुद्ध नारी से द्विवेदी जी का क्या अभिप्राय है, पता नहीं लगता। भट्टिनी के अर्थ में महामाया और निपुणिका की सार्थकता पूर्ण नहीं है। उन्हें उनके देवता का आराधक नहीं मिला। इस आराधक के अभाव में गहरे मनोवैज्ञानिक अर्थ में नारी के जीवन को सार्थक नहीं कहा जा सकता। किन्तु क्या गम्भीर मानवीय स्तर पर निपुणिका की सार्थकता कम है? बाणभट्ट की उपमा उत्प्रेक्षाओं में अभिमण्डित भट्टिनी की निजी सार्थकता चाहे जो रही हो पर मनुष्य की दृष्टि से, गहरे ट्रैजिक जीवन की दृष्टि से अपने विकारों में वह प्रत्यन्त महनीय और अविस्मरणीय हो उठी है। ऐतिहासिक चेतना के लिहाज से महामाया की अपनी सार्थकता है। भट्टिनी और सुचरिता की सार्थकता भागवत धर्म की सार्थकता अधिक है मानवीयता की कम।

पहले ही कहा जा चुका है कि इतिहास की प्रामाणिकता के लिए इसमें बहुविध सन्दर्भों को गूँथा गया है। बाणभट्ट की आत्मकथा के लिए जरूरी था कि बाणभट्ट की शैली का पैटर्न भी अपनाया जाता, इसके अभाव में प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो जाती है, लेकिन यह पैटर्न

अनुकृति के रूप में न होकर लेखक के सहायक के रूप में अपनाया गया है। बहुविध सन्दर्भो और पैटर्न विशेष के माध्यम से जिस विशाल सांस्कृतिक पट का निर्माण किया गया है वह स्वंय ही कथा है। इसकी बनावट और बिनावट में अद्‌भुत सतर्कता दिखाई देती है। इसका फल यह हुआ कि इसकी आन्तरिक परिपक्वता के साथ अभूतपूर्व 'फिनिश' का सौन्दर्य भी आ गया है। इसके बहिर्न्तर की सतर्क संघटना फ्लाब्येर के 'मादाम बावेरी' उपन्यास की याद दिलाती है। इसके शिल्प को कुट्टिम शिल्प कहा जा सकता है। आधुनिक शब्दावली में यह 'मोजेएक' शैली है। इसके लिए जिस रियाज और तराश की आवश्यकता होती है वह भी वहाँ मौजूद है। इस तराश के कारण इसकी गत्यात्मकता में कहीं कमी नहीं आती बल्कि उसकी चमक बढ़ जाती है। शिल्प की पूर्णता लेखक का लक्ष्य नहीं है क्योंकि वह कथ्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वाणभट्ट की भाँति सूक्ष्म–संश्लिष्ट वर्णनों में सन्दर्भित पाण्डित्यपूर्ण संस्कृति के साथ ऊर्ध्वोन्मुख दृष्टिकोण का कहीं लोप नहीं होता। कुमार कृष्णवर्धन द्वारा भट्टिनी को भेंट दी जाने वाली मूर्ति का एक चित्र है...'उनके अर्द्ध स्मित नयन के ऊपर भ्रू–लताएँ धारायन्त्रक ऊर्ध्व विक्षिप्ति पयोरेखाओं की वक्रता लिए हुए नहीं थीं, बल्कि इस प्रकार छायी हुई थीं कि वे नासावंश के छत्र का काम दे रही थीं। हाथ की अँगुलियाँ स्वाभाविक थीं। गुप्तों की मूर्ति कला के साथ उनका दूर का संबंध भी नहीं था। समाधि और निद्रा में एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण मूर्तियाँ उस भेद को स्मरण भी नहीं होने देतीं, पर यह मूर्ति ऐसा ओज लिए हुए थी कि उसके गेम–गेम से जागरूकता प्रकट हो रही थी।' इस मूर्ति में वह मुख्यतः ओज और जागरूकता देखता है। उसकी कुट्टिम शैली में इस मूर्ति का जो प्रतीकात्मक महत्त्व है उसका उल्लेख किया जा चुका है।

चारुस्मिता का नृत्य नागरक अभिरुचि का द्योतक है तो आभीर युवतियों का नृत्य लोक की प्राणचेतना का। चारुस्मिता के मयूर और पद्म–नृत्यों में उसकी रुचि नहीं है क्योंकि वे चित्र प्रवण कला हैं। कान्यकुब्जों के करण–कौशल में रुचि लेने को भी वह ठीक नहीं समझता। उसके मन में उत्कण्ठा थी तो चारुस्मिता के ताललय समन्वित पद संचार देखने की। आभीर युवतियों के नृत्य की आवेगमयता अद्भुत है–'स्त्रियाँ तरंगायित उपान्तवाली लाल शाटिकाएँ पहने हुए थीं और नील कंचुक के ऊपर हारिद्र उत्तरीय धारण किये हुए थीं। वे उन्मुक्त भाव से नाच रही थीं। उनके आधूर्णन–वेग से तरंगायित शाटिकान्त इस प्रकार भ्रमित हो उठता, मानो अनुराग के समुद्र में वात्याचक्र चंचल हो उठा हो। उनकी चारियाँ तालानुग नहीं थीं,

किन्तु इतनी उद्दाम थीं कि उनके हारिद्र उत्तरीय और नीले कंचुकों का एक धूर्णमान चक्रवाल तैयार हो जाता था। दीर्घ वेणियाँ मटकन–झटकन के वेग से धरती और आकाश को काली मसृण रेखाओं से पूर्ण कर देती थीं। बार बार ऊपर नीचे आने वाले लाल करतल आकाश रूपी नील सरोवर में अधोमुखी स्वर्ण कमलों की शोभा भर देते थे और क्षीण कटिप्रान्त झंझा में बार–बार झटका खाती हुई पर्वतीय शतावरी लता की भाँति दर्शकों को चिन्तापरायण बना देते थे। न जाने कब कौन–सा झटका उन्हें मरोड़ दे।'

इस वर्णन में ताल–लय के समन्वय पर नहीं आवेग की उद्दामता पर जोर दिया गया है जो काव्य की संवेदनात्मक सम्पदा से पूर्ण है। इस आवेग और प्राणवत्ता को वह अपने ख़ेटारिक–द्वारा निर्मित करता हैं अथवा यों कहिए कि अपने आवेग स्पन्द–चेतना को अन्वेषित करते हुए वह इस विशिष्ट शैली–शिल्प को अन्वेषित कर लेता है।

मध्यकालीन गजसभा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए वह उस समय के बुद्धिजीवी को विस्मृत नहीं करता। राज–सभाओं की उच्छृखलता, चाटुकारिता, खोखलेपन के बीच बुद्धिजीवी की विचित्र स्थिति थी। हर्षवर्धन द्वारा वह लम्पट कहा जाता है, उसे आसन भी नहीं दिया जाता और न ताम्बूल बीटक–द्वारा सम्मानित किया जाता है। वह आक्रोश से आगबबूला हो उठा पर मन्त्रबद्ध पददलित सर्प की भाँति कुछ कर नहीं सका कर भी क्या सकता था? वह सब होने पर जब वह राजसभा का सभ्य बन जाता है तो गौरव का अनुभव करता है। बाणभट्ट की यह स्थिति आज के बुद्धिजीवियों का नक्शा उभारती है। आज का बड़ा से बड़ा साहित्यकार किसी न किसी सेठ–साहूकार, मन्त्री–सामन्त का आश्रित है। उनके विरोध में उसकी आवाज या तो बन्द रहती है या खुलती है तो अपनी अर्थहीनता को जाहिर कर देती है। बाणभट्ट तक तो गनीमत थी क्योंकि सामन्ती पंजा पूँजीवादी पंजे की तरह आत्मकेन्द्रित और रक्तपिपासु नहीं होता।

यह सब होने पर भी वर्णनों के अन्तराल में वह सोचता है–'मेरा मन कहता था कि जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे, पौरुष दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा। परन्तु क्या कभी यह भी सम्भव है कि मानव समाज में राज्य न हो, सैन्य संगठन न हो, सम्पत्ति मोह न हो?' वह उत्तर खोज नहीं पा रहा था। उसका उत्तर उसका प्रश्न है।

परस्पर विरोधी चित्रणों के आधार पर भी उस युग के साथ आज के युग को समझा जा सकता है। उज्जयिनी के वैभव, प्रशस्त राजमार्ग, उच्चाट्टालिकाओं के आस–पास नीरव, मद्यपों, स्त्री

का शरीर विक्री करने वालों लम्पटों का अड्डा भी था। राजकुल के पुत्र–जन्म के सम्बन्ध में होने वाले उत्सव के विरोध में उसका अपना सूना जीवन भी उभरता है।

इन समस्त वर्णनों का प्रयोजन जीवनानुभूति को सशक्त ढंग से अंकित करना रहा है। सारे उपन्यास में प्राणों का उच्छल वेग देखते ही बनता है। मध्यकाल की जड़िमा को जिस आधुनिक केन्द्र परिदृश्य में रखा गया है वह हमारी वृत्ति को स्पन्दचेता बनाता है, आज की समस्याओं को एक विशेष धर्म–पृत जिम्मेदार संदर्भ में रखता है। मौजूदा हालत में हमारा देश जिस सांस्कृतिक–आध्यात्मिक संकट–बोध का अनुभव कर रहा है उसके सन्दर्भ में इसे देखने पर इस नतीजे पर पहुँचना होगा कि तीन दशक पहले लिखा गया यह काव्य–उपन्यास आज की केन्द्रच्युत दृष्टि और मूल्यहीन विघटित स्थिति में मूल्यवान् योग दे सकता है। जीवन की सार्थकता के साथ–साथ किसी कृति की भी सार्थकता होती है। इस उपन्यास में जिस सार्थकता को अन्वेषित किया गया है वह इस कृति की सार्थकता से अन्वित है क्योंकि कृति की सार्थकता उसमें अन्वेषित जीवनगत सार्थकता से अभिन्न होती है।

15. सातवें दशक की कहानी

किसी भी साहित्यिक विधा के लिए एक दशक की अवधि महत्त्वपूर्ण हो सकती है और ऐसी भी जिसका नोटिस लेना ज़रूरी न हो। कोई दशक अगर रचनात्मक हलचलों से भरा हुआ हो और उसमें उच्चकोटि का कृतित्व रचा गया हो तो उस दशक के कृतित्व को एक अलग इकाई मानकर जांचा–परखा जाना उचित ही है। पर, काल–प्रवाह में हरेक दशक की एक अलग इकाई और वैशिष्ट्य बने ही, यह ज़रूरी नहीं। एक दशक में या 15-20 वर्षों की अवधि में लिखित साहित्य का स्तर ऐसा भी हो सकता है, जिसमें पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों का मात्र पिष्टपेषण हो या जिसमें निहायत सामान्य और औसत स्थितियों का चित्रण हो। दरअसल 'दशक' को समीक्षा के आधार रूप में मानना न मानना एक सापेक्ष प्रश्न है, मात्र सुविधा का प्रश्न नहीं। 'दशक' को आधार मानकर किसी रचना–प्रवृत्ति का विश्लेषण में जुटने का कारण केवल सुविधापरकता नहीं है, किसी दशक–विशेष का विशिष्ट चरित्र (जो उसकी एक अलग इकाई और पहचान बनाता है) इस प्रकार के विश्लेषण–मूल्यांकन को स्वयं उकसाता है। सातवें दशक की कहानी को एक अलग इकाई और आधार के रूप में ग्रहण करने के पीछे हमारा यह विश्वास ही है कि इस दशक का एक विशिष्ट चरित्र है।

सातवें दशक की कहानी अपनी मूल प्रकृति में पूर्व दशक की कहानी से भिन्न है। यह भिन्नता कहानी के ऊपरी रंगरूप तक सीमित न होकर, कहानी के नये धरातलों पर प्रतिफलित होने वाली तात्त्विक भिन्नता है। इस कहानी ने कहानी की पुरानी, परम्परागत धारणा को चुनौती दी है और उसे नये अर्थ, नये विन्यास में ग्रहण किया है। संवेदना, दृष्टिकोण और मानसिकता के धरातलों पर इस कहानी में परिवर्तन को रेखांकित किया जा सकता है। नयी कहानी में मूल्य स्तर पर सम्पूर्ण मोहभंग नहीं हो सका था, हाँ नैतिक आस्थाएं और विश्वास अवश्य कुछ ढीले हुए थे। आदर्शों को सीधे रूप में न सही, गुंफित रूप में रखने की प्रवृत्ति अब भी थी जो अक्सर कहानियों के अन्त में दिख जाती थी। नये कहानीकार स्थितियों के यथार्थ से परिचित तो थे और उसका उन्होंने चित्रण भी किया पर कहानियों के अन्त तक पहुंचते–पहुंचते वे यथार्थ स्थितियों को सम्भाल नहीं पाते थे और उन्हें अपनी मूल्याग्रही, आदर्शपरक दृष्टि से मंडित कर निष्कर्ष देने लग जाते थे। इससे यथार्थ की उभरती हुई संवेदना पराजित होने लग जाती थी। 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'भोगा हुआ यथार्थ' के दावे बेहुत दूर तक इन कहानीकारों की मदद नहीं कर पाते थे। पर सातवें दशक के शुरू होने के साथ इन नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां उभर आईं जिनके कारण

परम्परावादी मूल्य–ढांचा चरमरा गया। इससे कहानी संरचना का पुराना सांचा भी टूट गया। इन कहानीकारों ने कहानी को छद्म मूल्य बोध से (जो अतीत का मूल्य मोह ही था) से निज़ात दिलाई यानी ऐसे अतीत मूल्य जिन्हें हम आदतन कन्धे पर लादे पिछला–पूरा एक दशक भर ढोते रहे थे इस आशा से कि शायद वे हमारी ज़िन्दगी में कहीं काम आ सकें, उनका हमारी ज़िन्दगी से कोई नाता न रहा। इसके उल्ट हुआ यह कि स्थितियां बद से बदतर होती गई और ये अतीत की चीज़ बनते गये। सातवें दशक के कथाकार ने इन अतीत मूल्यों को एकबारगी तिलांजली दे दी और वह जीवन स्थितियों के यथार्थ को समझने में प्रवृत्त हुआ। इस दशक की कहानी में यथार्थ का स्वरूप इतना सरल और एक सूत्रीय नहीं है कि आसानी से कोई व्याख्या या परिभाषा दी जा सके। इस दशक के कथाकार के लिए अपने समय और समाज की स्थितियों का तल्ख यथार्थ सब से बड़ी सच्चाई बना जिसका सामना करना उसके लिए ज़रूरी हो गया। इस तरह का सामना करने के रास्ते में जो भी मूल्य–मुखौटे और कवच आड़े आ सकते थे, उसने उन्हें निर्मम होकर उतार फेंका। यह इन कहानीकारों की परंपरित मूल्यों के प्रति विरक्ति, वितृष्णा या लापरवाही की मुद्रा थी। निश्चय ही यह अतीत से, अतीत मूल्यों से मुक्ति की शुरुआत थी। पर यह 'मूल्य' मात्र से या मूल्यवत्ता से विच्छेद नहीं था। यह वर्तमान की घिनौनी, क्रूर और भयावह स्थितियों के प्रसंग में मूल्यों की नये सिरे से जांच–पड़ताल और परीक्षण की दृष्टि थी।

सातवें दशक के प्रारंभ में (सन् 1961) जब काशीनाथ सिंह की कहानी 'सुख' प्रकाशित हुई तो इसे पढ़कर प्रबुद्ध पाठकों, कहानीकारों और आलोचकों ने विभिन्न प्रतिक्रियाएं व्यक्त की थीं, और इसे एक अलग तरह की कहानी माना था। इससे संवेदना की बनावट में आधे बदलाव को भी तब रेखांकित किया गया था। आज भी जब हम यह कहानी पढ़ते हैं तो 'नयी कहानी' से अलग इसकी पहचान अनेक दृष्टि–बिन्दुओं के धरातल पर हमारे सामने प्रत्यक्ष होने लगती है। सबसे पहले ध्यान जाता है इसके कॉमिक कथात्मक विधान पर। सुरेन्द्र चौधरी के शब्दों में इसे उपहासास्पद और कल्पना विरूप माध्यम का उपयोग भी कह सकते हैं जो इस कहानी में 'एक खास रचनात्मक अनिवार्यता से हुआ है।'[1] इस माध्यम में अपने अनुभव से अलग होकर उसे तटस्थ और निस्संग रूप में देखने और पड़तालने का गुण आ जाता है। सीधे–सीधे कथ्य निरूपण की पद्धति पीछे छूट जाती है। एक दृश्य से अकस्मात् स्फूर्त हो जाने वाली उल्लासपूर्ण मनोदशा के साथ–साथ, इस कहानी में, आत्म–निर्वासन की त्रासदी उभरने लगती है। तारबाबू के रूप में सारी ज़िन्दगी बिताने के बाद भोला बाबू अवकाश ग्रहण करते हैं और एक दिन अचानक सूरज को पहली बार देखते हैं। सूरज की

किरण के स्पर्श से उन्हें सभी कुछ—व्यक्तित्व से परिवेश तक बदला और रूपान्तरित हुआ सा लगता। वे सोचते हैं: 'उनसे कोई गांव नहीं छूटा। शहर नहीं छूटा, लेकिन यह सूरज अब तक कहां था? यह शाम आखिर किधर थी? आज वे क्या देख रहे हैं?' सुख का यह एहसास करुण और त्रासदायी है। उनके जीवन की यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि वे अपनी दफ्तरी ज़िन्दगी के दौरान इन सामान्य दृश्यों को कभी देख न पाए। उनके जीवन की यांत्रिकता, जड़ता और आत्मनिर्वासन कितने बड़े व्यंग्य के रूप में यहां उभर आया है। कहानी के अन्त का यह वाक्य 'रोने वालों में सब से ऊंचा और दु:खी स्वर भोला बाबू का था' स्थिति के विद्रूप और विरोधाभास तथा आत्मनिर्वासन के आत्मगत, भावनात्मक रूप को उभार देता है।

सातवें दशक के कहानीकारों ने सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे परिवर्त्तनों को गहराई से देखना—पड़तालना शुरू किया था। इससे सम्बन्धों के प्रचलित नुस्खे चटखने लगे और इनके बंधे—बंधाए ढांचों में दरारें पड़ गयीं। इससे नयी मानसिकता निर्मित हुई जिससे सम्बन्धों के स्थायित्व और शाश्वतता की 'मिथ' टूटी। नये जीवन यथार्थ और मूल्यगत संकट के परिप्रेक्ष्य में इन कहानीकारों ने बदली हुई जीवन स्थितियों और सम्बन्धों में व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता को देखा और पहचाना और उन्हें कभी आत्मगत, वस्तुगत स्तरों पर तो कभी दोनों के द्वंद्व के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। इन कहानियों को विघटित और तनाव—भरे सम्बन्धों का एक छोर आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व चेतना से जुड़ गया तो दूसरा सामाजिक, आर्थिक चेतना से। ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' में सम्बन्धों के बदलाव और तनाव को, विघटित स्थितियों के संदर्भ में इस ढंग से व्यक्त किया गया है कि मनुष्य की वर्त्तमान स्थिति के प्रति भरपूर संकेत प्राप्त होने लगता है: 'मां गुमसुम रहती है और पिता चिड़चिड़े, पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियां झेल रहे हैं।' बदली हुई स्थितियां पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले जातीय अवशेषों और संस्कारों को चुनौती देती प्रतीत होती हैं और इससे सम्बन्धों का परम्परागत ढांचा अटपटा—सा लगने लगता है। कहानीकार नयी बदली हुई स्थितियों के तर्क के आधार पर ही परम्परा से चले आ रहे सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या या पुनर्परीक्षा करता है और नये अभिप्रायों की ओर संकेत करता है इसे महीपसिंह की कहानी 'कील' में भी देखा जा सकता है। इसमें बदले हुए सम्बन्धों और उन सम्बन्धों में झांक रहे आधुनिक व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार को देखा गया है। मोना के चरित्र की जटिलता का कारण है उसके डैडी जो उससे कहते रहते हैं कि वह असाधारण है। डैडी उसे असाधारणता का खोल इसलिए ओढ़ाते हैं कि वह किसी

लड़के को पसन्द करने की मन:स्थिति में आ ही न सके। उनके ऐसा चाहने के पीछे एक जटिल चरित्र है। लेकिन मोना इस ग्रंथि से मुक्त होकर जीना चाहती है और इसकी गिरफ्त से वह तब छूटती है जब उसे एहसास होता है कि उसके व्यक्तित्व में कोई खास बात नहीं। जटिल और तनावपूर्ण सम्बन्धों को देखने की यह एक सहज दृष्टि है जो इस कहानी की रचनाशीलता में एक अंतरंग तत्त्व के रूप में अवस्थित है। रामदरश मिश्र की कहानी 'अनिर्णयों की बीच एक निर्णय' कथन–स्फीति के बावजूद बाह्य परिवेश से टकराती अन्त:प्रकृति को बखूबी चित्रित कर सकती है। सभी तरह के घटिया लोगों द्वारा घिरा हुआ व्यक्ति अपने संतुलन को कैसे बनाए रखे–अपनी प्रकृति को खो दे या पागल हो जाए? आज के भ्रष्ट परिवेश में क्या विकल्प बच रहा है? कहानी के अन्त में कहानी का 'मैं' अपनी अन्त:प्रकृति को झुठलाता हुआ सहाय से जोर–जोर से बात करने लग जाता है। इस कहानी में केवल सम्बन्धों का नहीं, अन्त:प्रकृति के विघटन का भी निरूपण किया गया है। गिरिराज किशोर की कहानी 'रिश्ता' मानवीय रिश्ते के विघटन की कहानी है। मनकी और गिरधारी में मां–पुत्र का रिश्ता है भी और नहीं भी है। मां और पुत्र के वात्सल्य की पूरी 'मिथ' यहाँ गायब है। सम्बन्धों में न कहीं कृत्रिमता है, न औपचारिकता। एक बेलौस स्थिति है जिसमें सम्बन्ध धारणा के प्रचलित नुस्खे काम नहीं आते। सम्बन्धों की रोगात्मक के बजाय उनकी चीर–फाड़ करने वाली निरावेग और तटस्थ दृष्टि इन कहानियों में देखी जा सकती है। यही बात यौन सम्बन्धों की जटिलता और उनके बदलाव का बोध जगाने वाली कहानियों के बारे में भी कही जा सकती है। कृष्णबलदेव वैद ने नयी कहानी के दौर में यौन स्थितियों का चित्रण–निरूपण करते हुए, कुछ हद तक अरोमानी दृष्टि का परिचय दिया था। यह प्रवृत्ति सातवें दशक में और आगे बढ़ी, महेन्द्र भल्ला जैसे लेखकों के बावजूद जिन्होंने सैक्स एडवेंचर जैसे बचकाने और किशोरपरक लटकों का इस्तेमाल अपनी कहानियों में किया। इस दृष्टि से सान्त्वना निगम और निरुपमा सेवती की कहानियां देखी जा सकती हैं। सान्त्वना निगम की कहानी 'बीतते हुए' में सम्बन्धों की पीड़ा का रोमानी हैंग ओवर नहीं है। इस कहानी में लगावहीन सम्बन्ध या लवलैस सैक्स अथवा भावुकताविहीन होते जाने की प्रक्रिया मौजूद है। निरूपमा सेवती की कहानी 'टूच्चा' में भी सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे आज के आदमी को पकड़ने की कोशिश झलकती है। जीवनगत स्थितियां प्रेम–सम्बन्धों को एक सुविधा से अधिक अहमियत नहीं देती। पर प्रेम–सम्बन्धों में व्याप्त यह सुविधापरकता इस कहानी में किसी गहरी या बुनियादी छटपटाहट द्वारा सन्दर्भित नहीं है।

इस दशक की कहानी की एक प्रवृत्ति यथार्थ के अभ्यन्तरीकरण की है। कहानीकार यथार्थ के प्रति मात्र प्रतिक्रिया नहीं करता बल्कि यथार्थ को वह अपनी भीतरी दुनिया में रूपान्तरित करके सृजित करता है। पर अभ्यन्तरीकरण और प्रक्षेपण एक बात नहीं है। दूधनाथसिंह बाहरी स्थितियों को भीतर प्रक्षेपित करते हैं, अभ्यन्तरीकृत नहीं करते। उनकी कहानियों में कृत्रिमता और कारीगरी छिपाये नहीं छिपी है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में अभ्यन्तरीकरण की पूरी प्रक्रिया मौजूद है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में यथार्थ का यह अभ्यन्तरीकरण मानव–स्थितियों को उजागर करने वाला है। उनकी कहानी 'अपने लोग' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस कहानी में मध्यवर्ग के बाबू की मन:स्थिति का बड़ी बेबाकी से चित्रण किया गया है। वह जानता है कि उसके भीतर की आवाज़ मर चुकी है। वह अपनी अन्तर्रात्मा और स्वाभिमान को जगाना भी चाहता है:

'दासू, मेरे भीतर कोई चीज़ है जो मर गयी है।'

'और तुम क्या चाहते हो।'

'मैं चाहता हूं कि वह ज़िन्दा हो।'

पर, वह चीज़ ज़िन्दा नहीं हो पाती। वह भीतर से इतना पोला और पिलपिला, जड़ और स्पन्दनहीन हो चुका है कि न उसकी अन्तर्रात्मा जगती है और न स्वाभिमान। घिसटते हुए, घिघियाते हुए, अपमानित होते हुए, ज़िन्दगी बिताने की उसकी आदत उसकी स्थिति को निरीह और दयनीय बना देती है। दफ्तरी बाबू की यह स्थिति एक आम स्थिति है, लेकिन लेखक इसे आधुनिक आदमी की अस्तित्व स्थिति के रूप में अभिव्यक्त करने में सफल रहा है। धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी 'अपंग संज्ञा' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने परिवेश की भ्रष्टता के विरुद्ध लड़ता हुआ पाता है कि वह अपनी मान्यताओं के विरुद्ध व्यवहार करने पर मजबूर है। उसे लगता है वह स्वेच्छा से कुछ भी करने में समर्थ नहीं और अपने ही बुने हुए जाल में स्वयं उलझ कर रह गया है। वह दूसरों को न्याय दिलाने की खातिर अपनी निजता या अस्मिता खो बैठता है। एक गहरे खाकी रंग से उसकी चेतना आक्रांत हो जाती है। उसकी यह स्थिति हर व्यक्ति की अपंग स्थिति का बोध कराने में समर्थ रही है। रामनारायण शुक्ल की कहानी 'सहारा' में व्यक्ति और व्यवस्था की टकराहट में इस स्थिति का बोध कराया गया है। व्यवस्था ने हमें इस कदर जकड़ लिया है कि हम वही सब करने के लिए बाध्य हैं जिनके लिए हमारा मन स्वीकृति नहीं देता है।' यह कहानी मूल्यों के विघटन और मोहभंग को,

स्मृतियों के विधान द्वारा दूर तक गुंजा देती है। व्यवस्था से संघर्ष करने की बात सोच के स्तरों पर कहीं हैं जरूर पर जो परिस्थितियां हैं उनमें यह सोच भी असंगत सी लगती है। बदीउज्जमां की कहानी 'चौथा ब्राह्मण' भयावह मानवीय स्थिति को सहज ढंग से उभार सकी है: 'मेरी ट्रेजेडी यह है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूं, लेकिन खुद को इससे मुक्त नहीं कर सकता। शायद यह ट्रेजेडी सिर्फ़ मेरी ही नहीं, आज के हर इंसान की है।...मैं जानता हूं, इस दौड़ का कोई अन्त नहीं है। लेकिन पंचतंत्र की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम तांबा, चांदी और सोने की खानों को छोड़ कर हीरों की खान की तलाश में भागे जा रहे हैं और, हमारे सिरों पर एक–एक चर्खी घूम रही है।' दरअसल चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती चर्खी के साथ आज हम सब की सब से बड़ी वास्तविकता है। अपने स्वत्व की पहचान के लिए इस वास्तविकता की पहचान बहुत ज़रूरी है। इस स्वत्व को पहचानने की छटपटाहट प्रमोद सिन्हा की कहानी 'बैठा आदमी' में भी है। इसमें अकेलेपन और निष्क्रियता की स्थितियों को अस्तित्व के एक बुनियादी प्रश्न के रूप में उठाया गया है। स्थितियां जैसी हैं, उनमें आदमी नि:सहाय और निहत्था होता जाने पर मजबूर है। उसे लगता है अकेलापन उसे टुकड़ों में बांट रहा है और हरेक टुकड़ा सम्पूर्ण आंगिक–रचना का विरोधी हो उठा है और एक स्वतंत्र इकाई के रूप में पनप रहा है:'कारण सोच रहा था कि अकेले रह कर उसने अब तक लगातार आत्महत्या की है। ऐसी आत्महत्या जिसमें मरने की योजना कई टुकड़ों में सम्बद्ध हो और हर बार कम–से–कम अपनी ही किए पर सोच जा सके।' एक चीख उससे कुछ नहीं हो पाता निढाल होने के सिवा।

सातवें दशक में मानव–स्थिति के चित्रण की भरमार रही है। कहीं यह चित्रण मूल्यों का निषेध ा करके किया गया है (अकहानी) तो कहीं मूल्यों के प्रति सचेतनता अर्जित करके (सचेतन कहानी)। कथ्यहीनता और कथ्य सम्पन्नता, मूल्य निषेध और मूल्य स्वीकार के अन्तर के बावजूद ये कहानीकार मानव–स्थिति को अस्तित्ववादी अर्थ और सीमा में ही ग्रहण कर सके, उसे मानसिक चेतना के स्तरों से आगे नहीं ले जा सके। गंगाप्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, महीप सिंह, विजयमोहन सिंह की कहानियों में वस्तु–निरूपण से लेकर स्थिति–संयोजन तक कुछ भी समझ न होने के बावजूद इनकी कहानियों में मानव–स्थिति को मानसिक और आत्मिक स्तरों पर ही ग्रहण किया गया है। इस दशक में आगे चलकर मानवीय सरोकारों को सामाजिक और आर्थिक चेतना के स्तरों पर, संघर्षशीलता तथा वैचारिक सक्रियता से अभिव्यक्त किया गया है। इस दृष्टि से शैलेष मटियानी की कहानियों में संस्कारबद्ध

मानसिकता और आर्थिक दुरावस्था का अन्तरावलम्बित विधान देखा जा सकता है। उनकी कहानी 'महाभोज' में निपट अभावावस्था में संस्कारों द्वारा प्रताड़ित शिवरती की मन:स्थिति का चित्रण हुआ है। मधुकर सिंह की कहानियों में संघर्षशील और विद्रोहात्मक मानसिकता के विविध चित्र मिलते हैं। संघर्ष और विद्रोह के भाव उस वस्तु में ही अन्तर्भुक्त हैं जिसे वे अपनी कहानियों के कथ्य के रूप में उठाते हैं। वे जिस सामाजिक यथार्थ को कथात्मक वस्तु के आधार रूप में ग्रहण करते हैं, उसका नियोजन वे इस ढंग से करते हैं कि विद्रोह की चेतना कहानी के स्तरों पर फैलाने लगती है। इन कहानियों में रचनात्मक सरोकार बहुत साफ झलकता है। 'भाई का ज़ख्म' कहानी की पंक्तियां हैं :'आजादी का बाइस साल क्या इतना बौना है कि आदमी को आदमी न समझने वाले से अब तक लड़ा नहीं जा सका है।' इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि ये कहानियां यथार्थ जीवन–प्रसंगों के संदर्भ में रची गयी हैं और मानवीय सार्थकता की पहचान में जुटी हुई हैं। इनमें कहानीकार स्थिति तक सीमित नहीं रहा है बल्कि स्थिति का अतिक्रमण करने वाली दृष्टि का परिचय भी देता है, स्थिति में अन्तर्निहित व्यंग्य को, विडम्बना को, प्रतिरोध और संघर्ष को भी उभार देता है।

सातवें दशक की कहानी में मानवीय अस्तित्व की यातना का एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ राजनीतिक है या अन्य कोई तंत्र या व्यवस्था। ऐसी कहानियों का स्वर व्यवस्था–विरोधी है। आक्रोश या विद्रोह ऐसी कहानियों में मुखर है। ये कहानियां, अधिकतर, तात्कालिक उत्तेजना में लिखी गई हैं। इनमें प्रजातंत्र या व्यवस्था के प्रति चालू किस्म का आक्रोश उड़ेलने का ढंग ज्यादातर, अपनाया गया है। कहीं–कहीं (दूधनाथ सिंह की कहानियों में) राजनीतिक बोध को इस कदर अमूर्त कर दिया गया है कि कुछ भी अटकल लगाने की सुविधा ली जा सकती है। इन कहानियों के सम्बन्ध में सब से बड़ा खतरा यह है कि ये कहानियां प्रतिक्रिया (प्रतिक्रियावादी नहीं) कहानियां या अखबार का इस्तेमाल करने वाली कहानियां बन कर न रह जाएं जब कि ज़रूरी यह है कि इनमें संवेदनात्मकता के साथ–साथ बेचैन कर देने वाला विचारतंत्र हो। अशोक अग्रवाल की कहानी 'प्रजातंत्र' तात्कालिक उत्तेजना में रचित होने के कारण व्यवस्था या प्रजातंत्र के प्रति आक्रोश उड़ेलने वाली कहानी बन गई है। इसी तरह रमेश उपाध्याय की कहानी 'मदद' भ्रष्ट व्यवस्था में आदमी की निरीह स्थिति को व्यंजित करती है। स्वेच्छा से कुछ भी करना उसके वश में नहीं। सभी कुछ जान लेने के बाद, अन्याय और अत्याचार के कारणों का पता चल जाने पर ही आदमी क्या कर सकता है? 'मैं खून देखता हूं और न मुझ में इन्सानियत भड़कती है, न मर्दानगी। मुझे सिर्फ़ सिगरेट की तलब लगती है।

आखिर मैं पाता हूं कि मेरी माचिस अभी तक गीली है।' बेवजह मरते हुए आम आदमी के लिए सार्थक हो पाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं दिखती। विभुकुमार की कहानी 'सही आदमी की तलाश' भी गलत व्यवथा में पिस रहे आम आदमी की यातना को उभारती है: 'एक आदमी गलत व्यवस्था के, गलत लोगों के लात–घूसों से पीटा जा रहा है और भीड़ देख रही है।' राजनीतिक चक्र उसे भीतर तक काटता चला जाता है। इन कहानियों में निरीहता और लाचारी का एक सांझा संवेदनात्मक बोध है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। पर, इस बोध के पीछे तिलमिला देने वाले विचार या विचार की पैनी धार का अभाव है।

इधर के कथाकार इस अभाव को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं। सतीश जमाली और इसराइल की कहानियों में इसे देखा जा सकता हैं। सतीश जमाली की कहानियों का प्रमुख स्वर व्यवस्था–विरोधी ही है। अमानवीय स्थितियों को झेलते हुए भी, मानवीय सरोकार को खत्म न होने देने का संकल्प, इन कहानियों की विशेषता है, यद्यपि अतिनाटकीयता और चमत्कारी वृत्ति ने इनकी कुछ कहानियों को नुकसान भी पहुँचाया हैं। 'आवाज़' कहानी का प्रारंभिक अंश मैलोड्रामैटिक जरूर हो गया है जिससे कि व्यवस्था की चालों, चालाकियों, पद्धतियों–प्रकारों और साजिशों का यथार्थ चित्रण नहीं हो सका है। यह चित्रण अवास्तविक और काल्पनिक सा लगता है। पर इसके बाद स्थिति में जुड़े भयानक संदर्भ खुलते गये हैं। चेतनकुमार का ड्रामाई संवाद व्यवस्था की नृशंस शक्ति को जतलाता है: 'तो क्या होगा? अरे हमारे पीछे मैंनेजमेंट है। मैनजमेंट के पास करोड़ों रुपया है। और पुलिस, तुम जानते हो, कुत्तों से भी बदतर है।' ऐसी ही व्यवस्था की चुनौती देता है कहानी का 'मैं'–स्टाफ की यूनियन बनाने का प्रयत्न करने पर व्यवस्था के वक्र–दृष्टि डालते ही उसके सभी साथी, शर्मा, रामकुमार, कुन्दनलाल सहनी, अमरनाथ सीकरी उससे अलग हो जाते हैं। उसे व्यवस्था द्वारा प्रलोभन दिये जाते हैं पर वह विद्रोह के रास्ते को चुनता है। उसे काली कोठरी में डाल दिया जाता है। मौत के ठीक आमने–सामने होते हुए भी उसे ख्याल आता है कि वह बोल तो सकता है, आवाज़ तो दे सकता है, उसकी आवाज़ को गूंजने से कौन रोक सकता है। उसे लगा आवाज़ ही ज़िन्दगी की धड़कन है। 'मैं' की यह आवाज़ मानव–विरोधी व्यक्तियों के विरुद्ध मानवीयता की पक्षधर है। वह जानता है कि मध्यवर्गीय समझौतापरस्त संस्कार इस आवाज़ के कारगर बनने में बाधक हो सकते हैं। कहानी की अन्तिम पंक्तियां हैं: 'मुझे हैरानी हुई कि मेरा खून इतना मीठा कैसे हो गया? मेरा खून अगर इतना ही मीठा होता तो क्या मैं सिन्हा की बात न मान गया होता? नहीं, नहीं, यह मेरा खून नहीं था। अच्छा हुआ यह

मेरे शरीर से निकल गया। इस विचार से मुझे बेहद खुशी हुई। वास्तविक खुशी। और मैंने दूने जोश से बोलना शुरू कर दिया।' 'मैं' की संकल्प चेतना और आदमीयत की पहचान में जुटने वाली उसकी योग्यता को यह कहानी, निस्संदेह खोलती है।

इसरायल की कहानियों में आज के मज़दूर–जीवन की स्थितियों, संघर्षों, प्रतिरोधों और निर्णयों का जितना प्रामाणिक बोध जगता है, उतना जनवादी कहे जाने वाले अन्य किसी कहानीकार में नहीं। इस बात को उनकी कहानियों का कथ्य ही प्रमाणित नहीं करता, भाषा, प्रस्तुतीकरण और ब्यौरों का संयोजन भी इसकी गवाही देता है। यहां न सतीश जमाली जैसी नाटकीय मुद्राएं हैं औ न रमेश उपाध्याय जैसी स्फीति और कथामोह। उनकी 'फर्क' कहानी इस दृष्टि से देखी जा सकती है। कहानी के प्रारंभिक ब्यौरों से ही स्थिति उभरनी शुरू हो जाती है और संघर्ष की दिशा का बोध जगने लगता है। वास्तविक स्थितियों में लिपटी हुई हिंसा–अहिंसा की अन्तर्विरोधपूर्ण और पाखंडपूर्ण हरकतों और दुष्चक्रों के संकेत इन ब्यौरों के माध्यम से मिलने शुरू हो जाते हैं। जमींदारों की हिंसक हरकतों के सामने चुप्पी साध लेने वाले और हिंसा पर उतारू किसानों को अहिंसा का संदेश देने वाले भूदानी नेता बेनी बाबू के चरित्र को गांव के बड़े बूढ़े भले न जाने, गांव के लड़के उन्हें अच्छी तरह जानते–पहचानते हैं। भगलू बंटाईदार का लड़का विशु और उसके साथी यह जान चुके हैं कि ग्रामदान और अहिंसा की ये सारी नीतियां और चालाकियां भूदानियों, जमींदारों और नेताओं की ओर से उन्हें फांसने, प्रताड़ित और शोषित करने के लिए हैं। वे महसूस करते हैं कि एक विराट् दानवीय षड्यन्त्र उनके खिलाफ चल रहा है। इस षड्यन्त्र के विरुद्ध संघर्ष के लिए वे तत्पर हो जाते हैं। वे बजरु चरवाहे को अपना नेता चुनते हैं जो साफ–साफ कहता है:'हम किसी को मारने नहीं जा रहे हैं, लेकिन हमें कोई मारने आयेगा तो हम उसे छोड़ेंगे भी नहीं।' यह सक्रिय और संशस्त्र संघर्ष की शुरुआत है जो दिनोंदिन तीव्रतर होता जाता है। संघर्ष के तीव्र होने के साथ बेनिया बाबू का गठिया का दर्द भी तेज होता जा रहा है। उन्हें लगता है कि 'विशु के आन्दोलन के घटाव–बढ़ाव के साथ उनके गठिया के दर्द का सम्बन्ध हो गया है।' इस दर्द के मारे वे जिस अस्पताल में पड़े हैं, उसी में संघर्ष में जख्मी पड़े दर्द से कराहते किसान भी पड़े हैं। और यहीं पर कहानी के अन्त में यह टिप्पणी है : 'एक दर्द अहिंसक है, और दूसरा हिंसक।' सामाजिक स्थितियों की निर्मम परख और पड़ताल द्वारा ही इस ढंग का निर्मम वैचारिक रचना–विधान अर्जित किया जा सका है जो विचार को अमल और सक्रिय कार्यवाही का हिस्सा बना देता है।

16. दलित साहित्य : प्रामाणिक चेतना की प्रतीति

आजकल दलित साहित्य बहुचर्चित विषय हो चुका है। अलग-अलग दृष्टिकोणों से इस आंदोलन पर विचार किया गया है। कलात्मक संभावनाओं की दृष्टि से इस आंदोलन की ओर देखने का यह एक प्रयत्न है।

दलित साहित्य का आंदोलन उचित है या अनुचित, यह निश्चित करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि वह अचानक क्यों उत्पन्न हुआ? इस प्रश्न को लेकर दलित लेखक आज बड़ी आत्मीयता से लेखन कर रहे हैं। पहले 'दलित' संबोधन से इन लेखकों को गुस्सा आ गया होता, लेकिन आज यह स्थिति नहीं रही। आज आग्रहपूर्वक वे अपने को दलित संबोधित कर अपनी पृथकता स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस आंदोलन के समर्थक स्वयं लेखक, उपन्यासकार एवं कवि हैं, प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हैं। ये सारे कलाकार अपनी पृथकता आज आग्रहपूर्वक क्यों बता रहे हैं? अपने दलितत्व का उच्चारण अभिमान से क्यों कर रहे हैं? पहले इस घटना का अर्थ खोजना आवश्यक है।

'कानून से अस्पृश्यता दूर हो गई। छात्रवृत्तियाँ एवं नौकरियाँ मिलने लगीं। आर्थिक दृष्टि से उन्नति हो गयी और हो रही है, फिर भी अस्पृश्यता के नाम से शोर मचाया जाता है, इसका मतलब क्या है?' कई लोग इस तरह का प्रश्न करते हैं। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि इस प्रकार शोर मचाने के पीछे कुछ धूर्त दांव होगा।

इस प्रश्न पर सम्पूर्ण विचार करना यहाँ असंभव है, फिर भी सारांश में कुछ ठोस बातें बताई जा सकती हैं। हम समझते हैं कि, अस्पृश्यता खत्म हो गयी है किंतु यदि हम गत पाँच वर्षों के समाचार-पत्रों के पन्ने केवल उलट ही दें तो पता चलेगा कि अस्पृश्यता का प्रश्न समाप्त नहीं हुआ है। अस्पृश्यों पर होने वाले अत्याचारों की संख्या देहातों में कई गुना बढ़ गई है। देहातों में होने वाले अत्याचार मुख्यतः भूमि-प्रश्नों से संबंधित हैं। उच्चवर्णीय जमीन-मालिकों तथा निम्न-वर्णीय भूमिहीन किसानों के बीच संघर्ष अत्यन्त क्रूर स्वरूप ग्रहण करता है। आर्थिक हित-संबधों के साथ-साथ वर्ण श्रेष्ठत्व के अभिमान से बदले की भावना अधिक ही प्रज्वलित हो उठती है और भयानक अत्याचार होते हैं। बार-बार अग्निकांड और हिंसा की खबरें सुनाई देती हैं,

इसके पीछे भी यही कारण है। अंधश्रद्धा तथा केवल वर्णश्रेष्ठत्व के अभिमान से भी अत्याचार होते रहते हैं। महाराष्ट्र के शहरों में अब दलित वर्ग कुछ अंशों में सुशिक्षित हो गया है। बड़े पैमाने पर वह मध्यवर्ग में शामिल हो रहा है। इसी कारण पुराने सफेदपोश वर्ग से मानसिक स्तर पर उसका संघर्ष अनिवार्य हो रहा है। छात्रवृत्तियों एवं आरक्षित स्थानों के कारण उसे सुस्थिति नसीब हुई है, यह सच है। किंतु कोई यह मत समझे कि ये सुविधाएं उसे पुराने सफेदपोश वर्ग की उदारता से मिली है। ये सुविधाएं राष्ट्रीय आंदोलन ओर विशेषतः इस वर्ग के कार्यदक्ष नेता ने ही उन्हें प्राप्त करा दी है, अर्थात् उन्होंने खुद ही उन्हें हासिल किया है। इसका परिणाम जो होना था, वही हो रहा है। इस वर्ग की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षमता के विकास एवं भौतिक उत्कर्ष के कारण मनुष्य के नाते उनकी अपेक्षाएं स्वाभाविक रूप में बढ़ गयी हैं। यह सच है कि कानून उनके पक्ष में है। और समाज है कि इस बात में उनका दलितत्व भूलने के लिए तैयार नहीं है। संघर्ष के मूल कारण वैसे आर्थिक होते हैं किंतु उनकी अभिव्यक्ति जातीय स्तर पर होती है। इसका मतलब यह नहीं कि सभी लोग जातीयता की दृष्टि से विचार करने वाले होते हैं। ऐसे भी कई लोग होते हैं जिनके मन को यह विचार छूता तक नहीं किंतु केवल इसी से सर्वसाधारण वस्तुस्थिति में परिवर्तन नहीं होता। विकसित एवं सजग संवेदनशीलता के कारण इस वर्ग को समाज में अपनी अस्पृश्यता का हीन स्वरूप साफ-साफ दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। स्वतंत्रता प्राप्ति को को आज तीन दशक व्यतीत हो गए। इस दौरान स्वतंत्र भारत के नये माहौल में पनपी केवल एक ही पीढ़ी आगे आई है। इसमें आश्चर्य क्या है कि इसी पीढ़ी को उसकी विकास-प्रक्रिया में ही दलित-जीवन का अर्थ स्पष्ट एवं समग्र सामाजिक अर्थों सहित प्रतीत हो जाए?

थोड़ा अधिक सोचने पर एक और बात ध्यान में आती है। उन्नीसवीं सदी में जो सामाजिक जागरण का, सामाजिक क्रांति का कार्य भारत में प्रारंभ हुआ था, वह स्थगित हो चुका था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के मूल्य ने ही समाज जीवन में प्रमुख स्थान हासिल कर लिया था। स्वातंत्र्योत्तर काल में यही प्रक्रिया फिर अलग-अलग स्तरों पर शुरू हो गयी हो तो उसमें आश्चर्य नहीं। आर्थिक शक्ति के प्राप्त होने पर इन वर्गों ने अपने-आप अब तक का स्थगित कार्य हाथ में लिया। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया अटल है। सामाजिक-आर्थिक आंदोलन पहले और बाद में राजनैतिक आंदोलन यह क्रम योरोप में रहा। मगर भारत में पराधीनता के कारण राजनैतिक स्वातंत्र्य के पश्चात् जागरण का कार्य गतिमान हो रहा है। भारतीय मार्क्सवाद ने आरंभ से ही

आमूल सामाजिक परिवर्तन का चित्र उभारा अवश्य परंतु पूंजीवादी अर्थरचना से निर्मित वर्गविषमता की लड़ाइयाँ ही लड़ी गयीं। इस क्षेत्र में उन्होंने निश्चय ही बहुत बड़ा कार्य किया। परंतु जिस समाज में क्रांति लानी है उसके संपूर्ण स्वरूप को बिना जाने क्रांति का विचार व्यर्थ हो जाता है। असल में मार्क्सवादियों ने भारत के चातुर्वर्ण्य-विशिष्ट स्वरूप की ओर ध्यान ही नहीं दिया। अगर ऐसा होता तो यहाँ भारतीय परिस्थिति के अनुरूप मार्क्सवाद का सर्जनशील एवं अनोखा विकास होता। इस सर्जनात्मक कार्य को जाने-अनजाने टाल दिए जाने से ही मार्क्सवाद केवल आर्थिक मोर्चे पर ही काम कर सका। मार्क्सवाद को भारत में तीन कार्य करने थे :

1. किसानों एवं मजदूरों की लड़ाइयाँ लड़ना।
2. स्वतंत्रता आंदोलन में अन्य वर्गों के साथ सम्मिलित होना।
3. दुलमुल स्तर पर चल रहे सामाजिक जागरण की प्रक्रिया को अधिक व्यापक, गहन एवं तेज करना।

इन तीन कार्यों को एक ही सुव्यवस्थित नीति में पिरोकर तदनुसार क्रांति के साधनों को सिद्ध करने का कार्य भारतीय मार्क्सवादियों के सामने था। इनमें से पहले कार्य को मार्क्सवादियों ने महत्त्वपूर्ण समझा। स्वतंत्रता-आंदोलन में सम्मिलित होकर भी दूसरे कार्य के बारे में वे उचित निर्णय नहीं कर सके। तीसरे कार्य की ओर वैचारिक स्तर पर वे ध्यान नहीं दे सके। यह काम भी कुछ मामूली नहीं था। मार्क्सवादियों में अतुल त्याग, महान बुद्धिमत्ता आदि गुणों के होते हुए भी वे यह काम नहीं कर सके। इसके लिए असामान्य, सर्वगामी प्रतिभा की ही आवश्यकता थी। कलाक्षेत्र में तो मार्क्सीय विचार अत्यंत सतही रहा। मार्क्सवादियों ने लेखकों को एक विषय देकर मानो आर्थिक संघर्षों पर ही उनका सारा ध्यान केंद्रीभूत किया, जिससे भारतीय निम्नवर्ग के जीवन का यथार्थ एवं स्वयंस्फूर्त उद्‌गार शब्दरूप नही ले सका। न ही उच्च स्तर का प्रगतिशील साहित्य निर्मित हो सका। मार्क्सवाद इतिहास को गतिमान नहीं बना सका, बल्कि इतिहास ने ही मार्क्सवाद को ठेलकर आगे बढ़ाया।

सारांश, केवल महाराष्ट्र के विषय में ही बात कहनी हो तो वह यह है कि यह प्रभावशाली लेखकों तथा कवियों द्वारा स्वयंप्रेरणा से चलाया हुआ आंदोलन है, यह सर्जनशीलों का आंदोलन है।

यह भी दिखता है कि अन्य वर्गीय लेखकों की प्रतीतियों से दलित लेखकों की प्रतीतियों का स्वरूप कुछ भिन्न है। दलित लेखकों का स्थान अन्य लेखकों की अपेक्षा अलग दृष्टिगोचर होता है। उनका परिप्रेक्ष्य अलग है। वर्तमान तथा अतीत से उनका संबंध भिन्न है। पुरातन धर्मग्रंथों, पुराणों, काव्यों से अर्थात् संस्कृति से ही उनका संबंध भिन्न है। उन्हें उनका अपना दुःख अन्यों से अलग प्रतीत होना निरसंदेह स्वाभाविक है। जीवन के साथ अपने संबंधों का इतनी स्पष्टता से अनुभव के सार पर बोध होना सर्जनशीलों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। उसके कलात्मक रूप का भान बाद की मंजिल है।

क्या दलित कलाकारों की यह भावना संकुचित नहीं है? क्या समाजवादी युग में यह प्रतिगामी रुख नहीं है? इस तरह के प्रश्न उठाये जा सकते हैं। वर्णाश्रम जिस सामंतशाही के आधार से स्थित था वह नष्ट हो चुकी है। ऐसा सोचा जा सकता है कि जातीयता का मूलाधार नष्ट होने के बाद उसका उच्चारण अब आगामी विकास के लिए घातक सिद्ध होगा। इस संदर्भ में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों की गति एक-सी नहीं होती। यह सही है कि भौतिक परिस्थिति के नष्ट होने के बाद उस पर आधारित मानसिकता भी नष्ट होती है। किंतु यह ध्यान में रखना होगा कि वह अत्यंत धीमी गति से अलग-अलग रूप धारण कर जोरदार आंदोलन करते हुए ही नष्ट होती है। सामंतशाही के नष्ट होने पर उस पर आधारित सामंती मानसिकता भी तुरंत नष्ट हो जाएगी, यह नहीं कह सकते। शुद्ध मानवता की भूमिका पर भी उसके विरुद्ध संघर्ष करना आवश्यक है और इसीलिए यह आंदोलन जागरण का आंदोलन है, यह मैंने पहले ही कह दिया है। इस संदर्भ में इस आंदोलन का एक वैशिष्ट्य दर्ज करना आवश्यक है। वह यह कि दलित आंदोलन की यह चेतना मूल्यगर्भ चेतना है। दलित आंदोलन के समर्थकों ने बार-बार यह बताया है कि उनके लेखन की प्रेरणा जाति-द्वेष नहीं है और इस बात पर जरूर विश्वास रखना चाहिए। इसीलिए इस आंदोलन को प्रेरणा देने वाले मूल्यों का उल्लेख प्रतिभाशाली दलित लेखक के ही शब्दों में करना उचित होगा- "दलित साहित्य मनुष्य को केंद्र बनाता है, मनुष्य को महानता प्रदान करता है। मानवी स्वातंत्र्य का जी जान से उद्घोष करता है।" (बाबूराव बागूल - अध्यक्षीय भाषण, दूसरा महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य-सम्मेलन, महाड़) इसी भाषण में श्री बाबूराव बागूल आगे कहते हैं - "मनुष्य प्रकृति का एक नन्हा-सा रूप है। प्रकृति निरंतर गतिशील और सर्जनशील होनी चाहिए।"

इस प्रकार दलित साहित्य की चेतना मूल्यगर्भ चेतना है। 'स्वातंत्र्य' दलित-साहित्य की चेतना का मूल है। इसीलिए दलित-साहित्य चेतना और प्रगतिशील लेखकों की चेतना भिन्न मूल्याधिष्टित नहीं विरोधी नहीं; इसको ध्यान में रखना चाहिए।

इस तरह हमने देखा कि दलित लेखकों की चेतना- (1) अन्य लेखकों की अपेक्षा भिन्न और इसीलिए वैशिष्ट्यपूर्ण है। (2) और, यह संकुचित न होकर मूल्यगर्भ चेतना है।

इस चेतना के संदर्भ में अतिव्यक्तिवादी कला की चेतना का विचार किया जाए तो क्या दिखाई देता है ? वास्तव में अतिव्यक्तिवाद व्यक्ति के विविध गुण वैशिष्ट्यों के परे जाता है। विशिष्ट मानसिकता के रूप में ही वह शेष रहता है। यह अकेलापन तथा असहायता की मानसिकता होती है। मूल प्रेरणा तथा विश्व के यांत्रिक नियमों के कारण यह असहायता अनुभव होती है। विश्व की निरर्थकता, भयाकुल अस्तित्वानुभव, इस मानसिकता के महत्त्वपूर्ण अंग है। विश्व अर्थपूर्ण हो या निरर्थक किंतु जीवन की निरर्थकता के अहसास से ही यह साहित्य जन्मा है, इसमें कुछ संदेह नहीं। मराठी जीवन में मध्यवर्ग की विशिष्ट स्थिति में ही इस प्रकार का साहित्य सामने आया है। मगर इस स्थान पर सार्त्र के एक कथन का आग्रहपूर्वक उल्लेख करने की इच्छा होती है। What is literature में सार्त्र कहते हैं कि अतिव्यक्तिवादी की चेतना प्रयत्नशील वर्ग की विनाशकारी चेतना है, यह सच है परंतु उसी के माध्यम से एक शाश्वत मानवी स्थिति (Human Condition) का दर्शन भी संभव है। जब ऐसा होता है तब निःसंदेह वह श्रेष्ठ कला हो सकती है, इस बात से मैं सहमत हूँ। परंतु इस स्थिति में लेखक को परिस्थिति का गर्भितार्थ पहचानने वाला तटस्थ निरीक्षक भी होना पड़ता है, अर्थात् लेखक उस माहौल से बाहर जाता है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। साहित्य धारा की दृष्टि से देखें, तो आमतौर पर सामाजिकता का विरोध इस प्रकार के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। दलित साहित्य की चेतना इस धारा के खिलाफ दिखाई देती है। एक असहायता की चेतना है तो दूसरी स्वातंत्र्य की चेतना। एक वर्गतः विकास की संपूर्ण संभावनाएं गंवाकर बैठे व्यक्तियों की चेतना है, तो दूसरी वर्गतः विकास की सभी संभावनाओं से युक्त लोगों की। निस्संदेह दलित साहित्य का आंदोलन इस संदर्भ में विशेष अर्थपूर्ण है। दलित लेखकों की चेतना, वास्तविक मानवी स्वातंत्र्य को अभिव्यक्त कर सकी तो इस प्रतीति के माध्यम से महान साहित्य निर्मित होने की संभावना निस्संदिग्ध है।

दलित साहित्य की प्रतीति सर्जनशीलों की प्रतीति है, इस बात को ध्यान में न लेने के कारण यह आपत्ति उठाई जाती है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाकर दलित साहित्य क्या हासिल कर सकता है ? कलात्मकता की कसौटी पर जो खरा उतरे, वही सही साहित्य है। वह दलित न हो तो भी श्रेष्ठ है। इस कसौटी पर जो खरा न उतरे, वह साहित्य, फिर वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो, घटिया ही है। अतः कला की दृष्टि से देखें तो दलित साहित्य का आंदोलन अर्थहीन है।

सरसरी निगाह से देखें तो यह आपत्ति अकारण नहीं लगती है। किंतु विशिष्ट संदर्भ में ऐसा नहीं है। उपर्युक्त आपत्ति के समय कुछ बातें गृहीत मान ली गई हैं - (1) कला की कसौटियाँ स्थायी होती हैं। (2) सर्जनशीलों की भाषा तथा कला का मूल्यांकन करने वालों की भाषा एक ही होती है। ये दोनों धारणाएं उचित नहीं लगती।

'कला की कसौटियाँ स्थायी होती हैं और निश्चित कसौटियों पर साहित्य को परख लें, तो प्रश्न खत्म होता है' असल में यह इतनी सरल बात नहीं है। कला की बात करने पर भी प्रश्न उठता है कि ये कसौटियाँ कौन-सी हैं? 'कला' संज्ञा द्वारा दर्शायी जाने वाली बातें इतनी विविध स्वरूपी एवं विविध अंगों से रूपायित होने वाली होती हैं कि 'कला' की संज्ञा को निश्चित रूप में परिभाषित करना लगभग असंभव मालूम होता है। 'कला' की संकल्पना ही अस्थिर एवं परिवर्तनशील है। कला का स्वरूप असीम होता है। अतः उसकी निश्चित कसौटी बनाना कठिन हो जाता है।

कला का इतिहास देखें तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न कसौटियाँ लागू की जाती रहीं। साहित्य शास्त्र की कसौटियाँ आधुनिक साहित्य पर लागू नहीं हो सकी। इनमें त्रुटि महसूस हो रही है। स्वच्छन्दतावादी कला अपनी ही कुछ कसौटियाँ ले आयी, अब स्वच्छन्दतावाद के अस्त होते ही फिर से ये कसौटियाँ बदल गयी दिखती हैं। जब-जब नयी चेतना से नया साहित्य सामने आया तब-तब रूढ़ कला के समर्थकों ने उसे कला कहने से इन्कार कर दिया। चित्रकारी का इतिहास इस दृष्टि से अत्यंत उद्‌बोधक है। सारांश, 'कला की कसौटियों पर खरा उतरना चाहिए।' यह कहना संगत नहीं। तात्विक-सौंदर्य शास्त्र तत्वज्ञान के बदलते स्वरूप के साथ बदलता रहता है। मर्ढेकरजी का 'लय' तत्व कला की कसौटी है या अवश्योपाधि है, यह अभी निश्चित नहीं हो सका है।

सोचने की बात यह है कि, असल में इस तरह की आपत्ति करना ही गलत है। यहाँ कुछ आकलन की गड़बड़ी हो गई है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि दलित साहित्य का आंदोलन दलित लेखकों, साहित्य निर्माताओं तथा सर्जनशील कलाकारों का आंदोलन है। कला की कसौटियों को सामने रखकर कलाकार नहीं बोलते। कलाकार की, विशेषतः साहित्यकार की, दृष्टि यह नहीं होती कि हम एक 'सुंदर' आकृति निर्मित करने वाले हैं। लयबद्ध लेखन करने का निश्चय कर मर्ढेकरजी ने कविता-लेखन हर्गिज नहीं किया होगा। निश्चित ही अपनी चेतना और उससे निर्मित अनुभवों को मूर्तिमान करने के लिए ही उन्होंने कविता लेखन किया होगा। अपने अनुभवों को कलात्मक स्तर पर उन्होंने जान लिया, अर्थात् व्यक्तिगत रूप में प्रतीत हुए विशिष्ट अनुभवों का संकुचित स्वरूप नष्ट कर उन्हें व्यापक गर्भितार्थों सहित प्रतीत करा लिया। मतलब यह है कि व्यक्तिनिरपेक्ष, अत्यंत विशुद्ध जीवनानुभाव जब रूपायित होने लगता है, तब वही कलात्मक अनुभव बन जाता है। कला की कसौटियाँ कुछ भी हों, सर्जनशील रचयिताओं को अपनी प्रतीतियों के प्रति विशेष लगाव रहता है। दलित लेखकों की भूमिका सर्जनशीलों की भूमिका है। उनमें अपनी चेतना के प्रति आस्था है। ये प्रतीतियाँ सुगठित एवं मूल्यगर्भा हैं। इसीलिए अपने अनुभवों को विशुद्ध जीवनानुभव के स्तर पर अर्थात् कलात्मक स्तर पर ले आना उनके लिए अधिक संभव बन जाता है। कलाकारों के संदर्भ में कलात्मक स्तर पर प्रतीत हुआ अनुभव, काव्य मर्मज्ञों के संदर्भ में मूर्तिमान जीवनानुभव अर्थात् मानवी अनुभव बन जाता है। सामाजिक स्तर पर उसे वह अनुभव आस्वाद्य लगता है, वैयक्तिक स्तर पर नहीं। असल बात यह है कि यह आंदोलन सर्जनशीलों का है। इस बात की ओर ध्यान दें कि अपनी जीवनानुभूति के प्रति आस्था होना सर्जनशीलों का धर्म ही है। इसी से उसको अभिव्यक्त करते-करते कितने ही कलाकारों की पूरी जिन्दगी धूल में मिल चुकी है। प्रतीतियों के अंतर्गत संघर्ष उत्पन्न होते हैं और जी जान से मुकाबले होते हैं। अगर सर्जनशीलों का ध्येय केवल 'सौंदर्य-निर्मिति' ही होता तो ये कवि सौ-सौ सालों से, अत्यन्त शांति से एक कतार में कुर्सियों पर बैठकर मिलजुलकर कविता लेखन में लगे दिखाई देते और चित्रकार एक-दूसरे की ओर देखकर मंद हास्य करते हुए चित्रकारी करने में लगे दिखाई देते। किंतु ऐसा कुछ नहीं होता। नयी-पुरानी प्रतीतियों के अंतर्गत संघर्ष चलता है और कलाक्षेत्र में भी उसे लड़ाया जाता है। इसीलिए अपनी बात तीव्रता से प्रकट करना कलाकार की भूमिका के रूप में उचित ही है।

बाह्य तथा अंतरंग जीवन की असंगति की प्रतीति दलित लेखकों की चेतना जगा देती है। यह चेतना मूल्यगर्भ एवं प्रामाणिक है। यह भी हो सकता है कि असली भारतीय जीवन का समर्थ चित्र शायद उससे कुरेदा जा सके। वह भारतीय मानवता का एक स्तर पर व्यक्त होने वाला उद्‌गार है। यह चेतना प्रगतिशीलता का विरोध नहीं करती बल्कि उसका ही एक स्वतंत्र उन्मेष बन जाती है।

- अनुवाद : श्रीमती सुनीता नाडगीर

उनके (हरिजनों) लिए मंदिरों के द्वार खोलने के लिए प्रचार करने में हमें समय नहीं खोना चाहिए। यह काम केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि खुद हरिजनों के लिए भी खतरनाक है। इन पुरोहितों की चालाकी और धर्मान्धता ही है जो कि उनकी वर्तमान अधोगति का कारण है। अगर आपके सामने अपने देश और अपने लिए कोई उच्च आदर्श है, तो उनकी आर्थिक विषमताओं का अध्ययन कीजिए और उनको दूर करने की चेष्टा कीजिए।

(राहुल सांकृत्यायन, दिमागी गुलामी, पृ. 86-87)

17. मराठी दलित कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना

मराठी में दलित साहित्य आंदोलन का उद्‌भव एवं विकास

साहित्य के क्षेत्र में नई चेतना का जन्म सामाजिक, सांस्कृतिक अभिसरण के फलस्वरूप होता है। हर बार यही देखा गया है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों का सही रूप साहित्य में प्रकट होता है। 'दलित साहित्य' मराठी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की माँग को लेकर प्रस्तुत हुआ है। मनुष्य की एक नई पहचान कराने वाले साहित्य के रूप में दलित साहित्य उभरा है। दलित साहित्य के बारे में कमलेश्वर ने कहा था - "जिस देश की आधी मानवता अपमान से पीड़ित हो, उस देश में स्वाभिमान से यह कह सकने वाला साहित्य कि हम अपमान पीड़ित मानवता के लिए अपने को समर्पित करते हैं, मराठी के दलित साहित्य के अलावा दूसरा नहीं है।"[1] भारतीय समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को समाज ने हमेशा दुत्कारकर अपमानित किया और मनुष्य होकर भी उसके साथ पशु से भी बद्‌तर व्यवहार किया है। यह अहसास वेदनामय है और यह वेदना एक व्यक्ति की नहीं पूरे दलित वर्ग की है। इस वेदना की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य में हुई है। इस दृष्टि से इसे एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटना मानना चाहिए। 'दलित साहित्य की निर्मिति सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है, और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में चेतनाशील संवेदनात्मक मन की अभिव्यक्ति भी है।'

'दलित साहित्य' का उद्‌भव मराठी साहित्य में एक साहित्यिक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ है जिसके माध्यम से दलित-शोषित समाज का विद्रोही रूप मुखरित हुआ है। जिसे अछूत कहकर सदियों तक मनुष्य जीवन की सभी आवश्यकताओं और सुविधाओं से वंचित रखा गया और जिसे केवल दुःख, वेदना, गुलामी, अपमान, आंसुओं से भरी जिंदगी बिताने के लिए विवश किया गया है। हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था ने जातियों के कटघरों से निर्मित इस समाज-व्यवस्था में उसे वह स्थान दिया जो गांवों, नगरों के अहातों से दूर था और जहाँ केवल मुख्य धारा से अलगाव ही नहीं बल्कि सदियों से थोपी गयी परंपराओं को वहन करने की सख्ती भी थी। उस अंधकारमय जीवन से निकाल कर उनके जीवन में रोशनी लाने का कार्य डॉ. आंबेडकर ने किया। डॉ. आंबेडकर ने ' दलितों की सोयी हुई आत्मा को जगाया। और वह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ और साहित्य के साथ इस आंदोलन में शामिल हुआ।'[3]

दलित साहित्य में व्यक्त होने वाला अनुभव मौलिक अनुभव है। इस अनुभव की मुख्य प्रेरणा है स्वतंत्रता। स्वतंत्रता के महत्त्व को दलितों ने तब जाना जब उन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग कर बुद्ध धर्म को स्वीकार किया। डॉ. आम्बेडकर के धर्मान्तर के बाद के इन उद्‌गारों से यह पता चलता है कि दलित उस समय कैसा अनुभव कर रहे थे।

'विषमता और जुल्मों पर आधारित सनातन धर्म का त्याग करने से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैंने नरक तुल्य जीवन से छुटकारा पाकर मेरा पुनर्जन्म हुआ है।'[4]

इसी स्वतंत्रता के अहसास की अभिव्यक्ति दलित साहित्य के अंतर्गत होती है। आज हम देखते हैं कि दलित साहित्य आंदोलन द्वारा विद्रोह की भावना एवं स्वतंत्र चेतना का विस्फोट साहित्यिक, राजनीतिक और वैचारिक स्तर पर हो रहा है। यही कारण है कि महाराष्ट्र की दलित युवा पीढ़ी द्वारा प्रचारित विचारधारा, राजनीतिक आंदोलन और साहित्यिक लेखन की ओर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ है। 'दलित साहित्य' उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परंपराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है। डॉ. ताराचंद्र खांडेकर के अनुसार 'दलित साहित्य केवल विद्रोह, प्रतिकार या प्रतिशोध नहीं है, या केवल नकार या निषेध नहीं है। बल्कि जो कुछ मंगल और शुभ है उन सबकी निर्मिति के लिए यह पूर्व परंपराओं से विद्रोह है।'[5] यह विद्रोह हिन्दू धर्म पर आधारित परंपराओं, रूढ़ियों और विचारों से है और उस समाज के विरुद्ध जिसने उन्हें पद्‌दलित, शुद्र और अस्पृश्य नाम देकर अन्याय, अत्याचारों के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता का पूरा-पूरा परिचय दिया। यह कहना उचित होगा कि 'विद्रोह ही दलित साहित्य का मूलधर्म और उसकी विशिष्टता है।'

डा. म.ना.वानखडे ने दलित साहित्य के बारे में कहा है - 'दलित साहित्य का अर्थ है दलित लेखकों द्वारा दलितों के बारे में लिखा हुआ प्रक्षोभक विद्रोही साहित्य। इसका अर्थ यह नहीं कि उसे समाज से विभक्त होना है बल्कि समाज में रहकर ही उस विद्रोह को प्रकट करना है। वह समाज से दया की भीख नहीं माँग रहा है, वह उन पर अग्निवर्षा करना चाहता है। यह फूट डालने वाली नीति नहीं है, यह असल में, ढोंग, अन्याय के खिलाफ आवाज उठाकर समाज को एक दूसरे से जोड़ने वाली प्रवृत्ति है।'

दलित साहित्य का 'केन्द्र स्थान' 'मनुष्य' है। धर्म की साजिश के द्वारा छीनी हुई प्रतिष्ठा और सम्मान को प्राप्त करने के लिए यह साहित्य प्रतिबद्ध है। यह उसे सम्यक् क्रांति की तरफ ले जाना चाहता है। साहित्य ऐसा माध्यम है जो समाज की वास्तविकता को रचना के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। 'ज्याँ-पाल-सार्त्र' ने इस विषय में कहा है - ''लेखन केवल लेखन नहीं है वह कृति है, दुष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य का जो सतत संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष में लेखन को एक हथियार के समान उपयोग में लाने की जरूरत को लेखक वर्ग को समझना चाहिए।''[8] लेखन के महत्त्व को दलित लेखक अच्छी तरह जान चुके हैं और इस विषम समाजव्यवस्था के खिलाफ वे इस हथियार का सही अर्थों में उपयोग भी कर रहे हैं।

मध्यकाल में दलित चेतना का विकास

दलित साहित्य का उद्‌भव कुछ लोग बुद्ध काल में खोजते हैं, कुछ संतवाङ्मय में (मध्यकालीन भक्ति साहित्य में) तो कुछ क्रांति वीर महात्मा फुले के विचार और साहित्य में। इस बात को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता कि इन सभी ने विषम समाज व्यवस्था का विरोध किया है, दलितों पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों को अपनी लेखनी से वाणी दी है, 'बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय' का संदेश भगवान बुद्ध और महात्मा फुले के विचारों में हम पाते हैं। परंतु दलित साहित्य का प्रेरणास्रोत डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर के विचार और उनकी जीवन दृष्टि में है और दलित मुक्ति के उद्देश्य से शुरू किए गए मुक्ति आंदोलन में है। दलित साहित्य का उद्‌गम जानने के लिए मराठी साहित्य की सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है।

महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन की शुरूआत 13वीं सदी में होती है। इस काल में दो भिन्न संप्रदायों का प्रारंभ होता है, जिसमें एक है - 'महानुभाव संप्रदाय' और दूसरा - 'वारकरी संप्रदाय'। इन दोनों में काफी अंतर्विरोध है। एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की कमजोरियों को लेकर व्यंग्य करते रहते थे। महानुभाव सम्प्रदाय द्वारा निर्मित साहित्य परंपरा अल्पायु रही। इस सम्प्रदाय ने हिंदु धमाश्रित चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था का विरोध किया। हिंदू धर्म की रूढ़ियों, रीतियों, ढोंग और अंधविश्वास, विधि निषेध आदि पर प्रहार किया। समता का पुरस्कार और विषमता का विरोध महानुभाव पंथ के आद्याचार्य चक्रधर स्वामी और उनके गुरू गोविन्द प्रभु दोनों ने ही किया। चक्रधर स्वामी 'लीला चरित्र' में अस्पृश्यता का विरोध करते हुए कहते

हैं - 'हे काई ब्राह्मणः की वैश्य हे नेणिजे की'[9] और आगे कहते हैं

उत्तम म्हणजे ब्राह्मण। आन अधम म्हणजे मातंग ऐसे म्हणे।
परि तोही मनुष्य देही आन निष्पत्तिकारकची असे।
परिवृथा कल्पना करी।[10]

परंतु कर्मकांड और वृथा ढोंग पर आधारित हिंदू धर्म का विरोध करने वाला 'महानुभाव पंथ' महाराष्ट्र में लोकप्रिय नहीं बन सका। इसी काल में वारकरी पंथ का उदय हुआ जिसका बल शुद्ध आचरण, निर्मल अंतःकरण और निष्ठायुक्त भक्ति इन तीन तत्त्वों पर था। इस पंथ के संतों में सभी जातियों के संत हैं जिनमें पद्दलित समाज के संत भी भक्ति रचनाओं के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान पा चुके हैं। संत गोराकुम्हार, सेनानाई, सावतामाली, जनाबाई (दासी) संत चोखामेळा (महार-अछूत) आदि प्रमुख हैं। चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था के कारण इन संतों को भक्ति का आनंद मंदिर के बाहर बैठकर और मंदिर के कलश का दर्शन करके ही लेना पड़ा। अस्पृश्य होने के कारण जो यातनाएं और अवहेलना इन्हें मंदिर में भी सहनी पड़ती उसके खिलाफ 'संत चोखामेळा' विदीर्ण हृदय से अपनी वेदना व्यक्त करता है -

हीन याती माझी देवा। कैसी घडेल तुझी सेवा।
मज दूर दूर हो म्हणती। तुज भेटु कवण्या रीति।
माझा लागताची कर। सिंतोडा घेताती करार।
माइ-या गोविंदा गोपाला। करूणा भाकी चोखामेळा।।[11]

इसमें अपने अस्पृश्य होने की वेदना के साथ जन व्यवहार का निर्देश भी है और साथ-साथ ईश्वर के दर्शन की लालसा भी। इन अंत्यज संतों ने अस्पृश्यता का विरोध अपने भक्ति काव्यों द्वारा किया है परन्तु यह विरोध एक सीमित दायरे के अंतर्गत ही रहा। हीन जाति में जन्म लेने का कारण वे पूर्वजन्म का कर्म समझते थे इसलिये चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को दोष न देकर वे अपने आपको दोष देते हैं -

शुद्ध चोखामेळा। करी नामाचा सोहळा।
याती हीन भी महार। पूर्वी निळाचा अवतार।

कृष्ण निंदा घडली होती। म्हणोनी महार जन्मप्राप्ति।
चोखा म्हणे विटाळा आम्हा पूर्वीचे हे फळा।[12]

लेकिन साथ ही चोखामेळा ने अस्पृश्य होने की वेदना भी व्यक्त करने वाले बहुत से अभंग रचे हैं। चोखामेळा का पुत्र 'कर्ममेळा' भी यही प्रश्न भगवान से पूछता है -

आमुची केली हीन जाती। तुज का न कळे श्रीपती।
जन्म गेला उष्टे खाता। लाज न ये तुझ्या चित्ता।
आमचे घरी भात दही। खावोनी कैसा म्हणसी नाही।
म्हणे चोखियाचा कर्ममेळा। कास या जन्म दिला मला।[13]

'कर्ममेळा' के स्वर में विद्रोह दृष्टिगत होता है, जबकि 'चोखामेळा' के स्वर में केवल 'वेदना' ही प्रमुख थी। इन अभंगों में दलितों की वेदना का आदि रूप प्रकट होता है। इस पर भालचन्द्र फड़के ने जो टिप्पणी की है उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

''दलितों के सहित्य में युग-युग की चिर वेदना व्यक्त होती है जिसका आदि रूप संत चोखोबा के 'अभंगों' में हमें देखने को मिलता है। चोखोबा की यह वेदना व्यक्तिगत नहीं थी, वह उसके समाज की वेदना थी जिसे अधिक तीव्र और उत्कृष्ट रूप में उन्होंने व्यक्त किया है। उनके शब्द-शब्द में प्रकट होने वाला दुःख अंतःकरण को विदीर्ण कर देता है।''[14]

भक्ति साहित्य द्वारा 13वीं सदी में संतों (अस्पृश्य समाज में) के अस्पृश्यता के विरोध में आवाज उठाने का प्रयास किया था। परंतु यह विद्रोही स्वर आध्यात्मिक और पारमार्थिक भक्ति काव्य के रूप में ही विलीन हो जाता है। संत तुकाराम भी अभंगवाणी में छोटी जाति में जन्म लेने के कारण वेदों शास्त्रों के अध्ययन से वंचित रहने का दुख व्यक्त करते हैं -

शुद्रवंशी जन्मलो। म्हणुनि दंभे मुकलो।
घोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार।
सर्व भावे दीन। तुका म्हणे यातिहीन।[15]

अर्थ : (शुद्र वंश में जन्म लेने के कारण मैं वेद शास्त्रों का अध्ययन करने से वंचित रहा। मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं है। इस दीनता का कारण हीन जाति ही है।) इस तरह से अस्पृश्य होने का दुःख और वर्णव्यवस्था के प्रति आक्रोश भी कुछ संतों की वाणी में अभिव्यक्त हुआ है।

मध्यकाल के बाद दलितों के प्रश्नों पर और अस्पृश्यता जैसी निर्घृण प्रथा के विरोध में साहित्य के अंतर्गत चर्चा 19वीं सदी में प्रारंभ होती है। अंग्रेजों के शासन काल में

प्राप्त हुई अंग्रेजी शिक्षा के कारण नई चेतना का निर्माण हुआ। चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था पर आधारित हिन्दू धर्म पर पुनर्विचार होने लगा। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज में स्थित बुराइयों के मूल की खोज करने का प्रयास बाल शास्त्री जांभेकर से लेकर म. ज्योतिबाफुले के समय तक अनेक विचारकों ने किया है। 1818 से 1860 तक के काल में इसप्रकार का प्रयास हुआ है। हिन्दु धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज में अस्पृश्यता के इस महाभयंकर प्रथा के बीज कहाँ हैं, इसकी खोज का प्रयत्न कुछ समाज-सुधारकों और प्रगतिशील विचारकों द्वारा हुआ है। 'दर्पण' नाम से प्रसिद्ध होने वाली बालशास्त्री जांभेकर द्वारा संपादित पत्रिका के प्रथम अंक में (सन् 16 मार्च 1832) यह चर्चा शुरू हुई कि 'संपूर्ण मानवजाति एक होते हुए उनमें जाति के नाम पर भेद क्यों है।' 'प्रभाकर' नाम की पत्रिका में एक नेटिव्ह ने यह प्रश्न उठाया था कि अगर अंग्रेज अस्पृश्यों को अपने घर में नौकर रख सकते हैं और छुआछूत न मानकर वे उन्हें स्पर्श करते हैं तो सवर्ण हिन्दुओं को ही अस्पृश्यों से नफरत क्यों है, जबकि वे अंग्रेजों तक का आदर सम्मान करते हैं।[16] इस तरह की चर्चाओं से यह प्रतीत होता है कि समाज प्रबोधन का कार्य तब शुरू हो गया था। कुछ लोग अस्पृश्यता निवारण के कार्य में संलग्न थे। तुकाराम तात्या पडवल लिखित 'जातिभेद विवेक सार' नामक पुस्तक में 'विषमतापूर्ण समाज व्यवस्था का कारण दुष्ट जाति भेद ही बताया गया है।' लोकहितवादी, महात्मा फुले आदि समाज सुधारकों ने ऊँच नीच की भावना को मिटाने का प्रयास किया। अस्पृश्यों के मन में आत्म विश्वास जगाने का कार्य किया और पारंपरिक रूढ़िवादिता की आलोचना की। 'सत्यधर्म' की स्थापना के लिए उन्होंने सत्यशोधक आंदोलन का प्रारंभ 23.9.1873 में किया था। इस आंदोलन की प्रेरणा से प्रेरित होकर गोपाल बुवा कृष्णा वलंगकर ने सन् 1896 में सेना से अवकाश प्राप्त होने के बाद 'अनार्यदोष परिहार' नामक संस्था की स्थापना की और 'विटालविध्वंसक' (अस्पृश्यता विध्वंसन) नाम की पत्रिका का संपादन किया। शिवराम जानबा कांबले द्वारा 'सोमवंशीय मित्र' पत्रिका का प्रकाशन किया गया। इन सभी पत्रिकाओं के माध्यम से अस्पृश्य समाज को जागृत करने और खोये हुए स्वाभिमान और अस्मिता को प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई।

सामाजिक स्तर पर भी कुछ सुधारकों की तरफ से प्रयत्न जारी थे जिनमें प्रमुख रूप से प्रयत्न करने वालों में महर्षि विठ्ठल रामजी शिंदे थे। उन्होंने 'अखिल भारतीय डिप्रेस्ड क्लास मिशन' की स्थापना कर इस मिशन द्वारा अस्पृश्यों के प्रश्नों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उधर राजर्षि शाहूमहाराज ने कोल्हापुर संस्थान में

अपनी राजसत्ता के काले में अस्पृश्यता निवारण कार्य को धर्म कार्य जैसा महत्त्व देकर अनेक कानून जारी किए। अखिल भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद् (नागपुर में 30 मई, 1920 को हुए) सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा था - "तुम अस्पृश्य नहीं हो, तुम्हें अस्पृश्य मानने वाले लोगों से तुम अधिक बुद्धिमान, पराक्रमी स्वाभिमानी हो और हिन्दी राष्ट्र की इकाई हो।"[17]

सन् 1920 तक समाज में इस तरह की चेतना जगाने के प्रयत्न निरंतर हो रहे थे कि दलित भी मानव है, मानव होने के नाते मानव अधिकारों को प्राप्त करने का उसे अधिकार है। जाति पाति और ऊँच नीच के भेदभाव को नष्ट करने पर जोर दिया जा रहा था। इन विचारों का प्रभाव तत्कालीन मराठी के कुछ लेखकों की कृतियों में यदा-कदा देखने को मिलता है।

दलित आंदोलन और दलित साहित्य का अन्योन्य सम्बन्ध

अस्पृश्यता निवारण और बहुजनसमाज के हित के लिए संपूर्ण जीवन भर कार्य करने वाले महात्मा ज्योतिबा फुले इस सामाजिक आंदोलन के नेता थे। उन्होंने सामाजिक विषमता के खिलाफ संघर्ष करने हेतु 'सत्यशोधक आंदोलन' का नेतृत्व किया। जातिभेद और धर्मभेद की आलोचना करते हुए उन्होंने मानव समानता का प्रचार किया। उपलब्ध सभी साधनों द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवाद को नष्ट करने की नीति को अपनाया। उनके सत्यशोधक आंदोलन का मुख्य कार्य था - सामाजिक विषमता को नष्ट करना, ईश्वर और भक्त के बीच के दलालों को नष्ट करना, शिक्षा के द्वारा सभी के लिए खोलना चतुःसूत्री कार्यक्रम को लेकर उनका आंदोलन आगे बढ़ रहा था। केवल विचारों को बदलकर क्रांति लाने का कार्य वे नहीं करते रहे वरन् अपने विचारों को उन्होंने कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। सन् 1851 में लड़कियों के लिए और सन् 1852 में अछूतों के लिए इन्होंने अपनी पत्नी सावित्री बाई की सहायता से स्कूल खोले। 1864 में बालहत्या प्रतिबंधक गृह की स्थापना की जिससे विधवा मांओं के बच्चों को आश्रय मिला। उन्होंने अछूतों के लिए अपने घर के पानी का कुंड खोल दिया जिसके कारण उन्हें समाज और जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन अनेक कष्ट झेलकर जीवन के अंत तक अपने कार्य को पूरा करने हेतु ज्योतिबा और सावित्री बाई फुले संघर्ष करते रहे।[18] उनके यही कार्य और विचार डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर के प्रेरणास्रोत बने। उन्होंने महात्मा फुले को अपना गुरू माना है। महात्मा फुले एक संघर्षशील नेता और चातुर्वर्ण्य तथा जातिभेद पर कठोर प्रहार

करके मानवीय समानता की घोषणा करने वाले प्रथम लोक नेता थे[19] डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के दलित मुक्ति संग्राम को महात्मा ज्योतिबा फुले के क्रांतिकारी विचारों से प्रेरणा मिली है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में इस आंदोलन को जो खास दलित व्यक्तित्व प्राप्त हुआ है उसका मूल स्रोत डॉ. आंबेडकर के विचार, दर्शन और संघर्षशील नेतृत्व में है। दलित आंदोलन ने डॉ. आंबेडकर की विचारधारा को पूर्णतः आत्मसात किया है।

डॉ. आंबेडकर का दलित मुक्ति आंदोलन बुद्ध धर्म के मूल तीन तत्व स्वतंत्रता, समता भाइचारे को जो की मानव जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण बुनियादी अधिकार है। इन्हें प्राप्त करने के लिए छेड़े गए संघर्ष को अधिक सक्रिय बनाया।

उसी की साहित्यिक अभिव्यक्ति दलित साहित्य आंदोलन है दलितों को मानव अधिकार दिलवाकर जिस संघर्ष की शुरूआत डॉ. आंबेडकर ने की थी, उसे पूर्णता की ओर ले जाने के लिए दलित साहित्य का आंदोलन सक्रीय है। सदियों से दासता और गुलामी के कारण दलित हीनता बोध से ग्रसित थे। इस हीन भावना को दूर करके उसकी अस्मिता और स्वाभिमान को जगाना दलित आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य है। डॉ. आंबेडकर के विचारों की प्रखरशक्ति पाकर दलित साहित्य आंदोलन रचनात्मक क्रांति की दिशा में कदम दर कदम आगे बढ रहा है।

तेरहवीं सदी में भक्ति साहित्य के रूप में उभरा हुआ आक्रोश और वेदना का स्वर ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था के दबाव में दब गया था। परंतु दलित साहित्य आंदोलन द्वारा उभरने वाला विद्रोही स्वर किसी भी शोषक शक्ति के सामने झुकनेवाला और दबनेवाला स्वर नहीं था। उसमें संपूर्ण समाज रचना को बदलकर नए समाज की रचना करने की ऊर्जा और अदम्य इच्छा है। दलितों ने जिस वेदना, अपमान और यातना को भोगा है, उसके विरोध में आक्रोश भरा स्वर दलित साहित्य में उभरता है। दलित साहित्य ऐसे अनुभव-विश्व की अभिव्यक्ति है, जिसे सदियों से उन पर थोपा गया।

दलित मुक्ति आंदोलन की शुरूआत को हम डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा 24 दिसंबर, 1927 को मनुस्मृति दहन और दलित मुक्ति संग्राम से जोड़कर देख सकते हैं। मनुस्मृति दहन मनु द्वारा निर्मित हिन्दू धर्मीय विषम समाज रचना तथा ब्राह्मणवादी

विचारधारा को नष्ट करने और विरोध प्रकट करने का प्रयत्न था। उन्होंने 'महाड़' के चवदार तालाब का पानी छूकर छुआछूत और अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष करने और मानव अधिकारों को प्राप्त करने के लिए दलित समाज का मनोबल बढ़ाया। इस क्रांतिकारी संघर्ष का सवर्णों द्वारा जोरदार विरोध किया गया। उनकी परंपराग्रस्त मानसिकता को इससे धक्का लगा। नासिक का प्रसिद्ध 'कालाराम मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह' इसी संघर्ष की अगली कड़ी थी। जाति प्रथा और ब्राहमणवाद द्वारा छीने गए अधिकारों को हासिल करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह का रास्ता अपनाया और दलितों की राजनीतिक भागीदारी और राजनीतिक अधिकारों के लिए ब्रिटिश शासन से टक्कर ली। सन् 1930 में लंदन में हुई पहली भारतीय गोलमेज परिषद् में डॉ. बाबासाहेब भारतीय दलितों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। इस सम्मेलन में उन्होंने दलितों के अधिकारों की और साथ ही पृथक निर्वाचन की भी माँग की थी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने मान्यता दी परंतु महात्मा गांधी ने दलितों के स्वतंत्र पृथक निर्वाचन की माँग के विरुद्ध आमरण अंनशन किया। गांधी-आंबेडकर विवाद ने उग्र रूप धारण किया।

दरअसल गांधीजी दलितों को मिले पृथक निर्वाचन के अधिकार से भयभीत हो चुके थे। वे चाहते थे कि इस देश के दलित, हिन्दुओं की ही एक इकाई के रूप में बने रहे, अन्यथा हिंदू बहुसंख्यक से घटकर अल्पसंख्यक होने की संभावना थी। संपूर्ण देश में डॉ. आंबेडकर के खिलाफ रोष व्यक्त होने लगा। अंत में गांधी की जिद्द और उनकी बिगड़गी दशा को देखकर डॉ. आंबेडकर को इस राजनीतिक अधिकारों को छोड़ना पड़ा था। केवल विधानसभा, संसद में और सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति व जनजातियों को आरक्षण की सुविधाएँ मिली। 'गांधी जी का अस्पृश्यता निवारण का अभियान भूतदया और सहानुभूति की भावना से जन्मा था। इसलिए गांधी जी अस्पृश्यता-निवारण के लिए क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभा सके।

पूना पैक्ट के तहत गांधीजी ने दलितों आदिवासियों के बुनियादी अधिकारों को जिस छल से छीन लिया गया कि इस अनुभव से डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर का हृदय आक्रोश से भर उठा था।'[20] हिन्दू धर्मावलंबियों की मानसिकता को वे अच्छी तरह जान चुके थे। अतः दलित समाज को तथा-कथित उच्चवर्णियों की गुलामी से मुक्त करके स्वतंत्र व्यक्तित्व देने के लिए अक्तूबर सन् 1935 में 'येवले' गाँव में उन्होंने दलितों द्वारा धर्मान्तर करने की घोषण की। उन्होंने कहा था 'मैंने हिन्दू धर्म में जन्म लिया है, परन्तु मैं हिन्दू बने रहकर मरना नहीं चाहूँगा।'[21]

श्री मधु लिमये ने डॉ. आंबेडकर की धर्म परिवर्तन की घोषणा के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा है ''डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि अनुसूचित जातियों के साथ इसीलिए भयानक दुर्व्यवहार किया जाता है क्योंकि वे अपने को हिन्दू कहती हैं। अगर वे किसी और धर्म की सदस्य होती तो किसी में भी उन्हें अस्पृश्य का दर्जा देने का साहस न होता। अतः उन्होंने अनुसूचित जातियों के लोगों से कहा कि वे किसी भी ऐसे धर्म को चुन लें जो उन्हें 'समान व्यवहार और प्रतिष्ठा' दे सके।''

दलित साहित्य आंदोलन का प्रारंभ

डॉ. आंबेडकर ने शिक्षा के महत्व को समझा था इसलिए सन् 1945 में बंबई में 'पीपुल्स एज्युकेशन सोसाइटी' की स्थापना की, जिसके अंतर्गत बंबई में सिद्धार्थ कालेज और औरंगाबाद में मिलिंद कालेज की स्थापना हुई। ये दोनों ही शिक्षा संस्थान डॉ. आंबेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले दो महत्वपूर्ण केंद्र बन गए। डॉ. आंबेडकर की मृत्यु के बाद दलित मुक्ति आंदोलन की बागडोर इन शिक्षा केंद्रों से शिक्षित दलित युवकों ने संभाली।

सन् 1966 में सिद्धार्थ साहित्य संघ नामक साहित्य संस्था की स्थापना हुई जो बाद में महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ कहलाया। इस संघ की स्थापना के बाद दलित साहित्य के सृजन और उसके प्रकाशन में तेज़ी आई। ये रचनाएँ रिपब्लिकन पार्टी द्वारा प्रकाशित 'जनता', 'प्रबुद्ध भारत', 'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक' आदि समाचार पत्रों तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी। इस साहित्य में दलितों के प्रश्नों पर प्रकाश तो डाला गया लेकिन परंपरागत मराठी साहित्य के ढांचे में शामिल करने के प्रयास ही अधिक हुए। दलित साहित्य भी खांडेकर और फड़के युग से अलिप्त न रह सका। परंतु साथ-साथ यह भावना भी कुछ रचनाकारों के मन में थी कि दलित जीवन का वास्तविक चित्रण करने वाली रचनाएँ लिखी जाए। मराठी के ललित साहित्य से कुछ लेखकों का मोहभंग हुआ। जो साहित्य उनके जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्त नहीं कर सका उस साहित्य को वे अपना साहित्य कैसे माने? इस पृष्ठभूमि में 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' ने दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन 2 मार्च 1958 को मोरबाग, दादर बंबई में बंगाली हाई स्कूल के हॉल में आयोजित किया जिसके अंतर्गत 'दलित वर्गातील वांड्मयाचा दृष्टिकोण काय असावा।'[22] (दलित साहित्य की दृष्टि क्या होनी चाहिए) विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता भी आयोजित की गई थी।

दलित साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता के बारे में बन्धुमाधव ने प्रबुद्ध भारत में लिखा - जिस प्रकार लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का रूसी लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचार करके रशियन क्रांति की मदद की थी, उसी प्रकार डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर के विचारों को गाँव-गाँव तक पहुँचाने का कार्य दलित साहित्यकारों का है।[23]

इस सम्मेलन के अवसर पर 'प्रबुद्ध भारत' का विशेषांक निकला जिसके संपादकीय लेख में दलित साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई 'इस विषम समाजव्यवस्था के विरुद्ध दलित समाज का संघर्ष निरंतर चलता रहेगा और इस संघर्ष का इतिहास ही दलित साहित्य होगा।'[23] इस सम्मेलन में यह माँग की गई थी कि 'दलित साहित्य को मराठी भाषा तथा साहित्य में, साहित्य के एक प्रभाग के रूप में सम्मिलित किया जाए। इस साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझकर साहित्य संघ ओर विश्वविद्यालयों द्वारा उचित सम्मान दिया जाए।'[24]

दलित लेखकों के इस प्रथम सम्मेलन से दलित साहित्य आंदोलन को एक ठोस आधार मिला। इस सम्मेलन की खबर 'दैनिक मराठा' समाचारपत्र के अतिरिक्त और किसी भी समाचार पत्र ने नहीं छापी। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले महत्वपूर्ण लेखक थे - घनश्याम तलवटकर, कॉ. आर.बी.मोरे, दिनेश लखमापूरकर, टी.पी. अडसूल, राम उपशाम, जनार्दन वाघमारे, अण्णा रणपिसे, दादा रूपवते, मन्धुमाधव, भाई नरेन्द्र मोरे, चोखा कांबळे, म. दु. ताम्हणेकर, यादवराव गांगुर्डे तथा डी.वाय. कांबळे। ये सभी लेखक रिपब्लिकन पार्टी से संबंधित थे या उसके कार्यकर्ता थे। डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन पार्टी में फूट पड़ गई और वह दो हिस्सों में विभाजित हो गई। इस विभाजन से महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ भी दो धड़ों में बँट गया जिसमें एक थी 'महाराष्ट्र बौद्ध परिषद' और दूसरी ' महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा'। इन दोनों साहित्यिक संस्थाओं का दलित साहित्य आंदोलन को आगे ले जाने में बड़ा योगदान रहा है। इस समय जो दलित लेखक दलित जीवन की व्यथा को अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे उनमें प्रमुख थे अण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात और बाबूराव बागुल। 'बाबूराव बागुल की कहानियाँ दलितों के दुःख को अभिव्यक्त कर रही थी और उन समस्याओं को लेकर इस विषम समाजव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोही के रूप में जूझ रही थी।'[25] 'विद्रोहाच्या कविता शीर्षक से कविताओं का एक संकलन इसी समय प्रकाशित हुआ था जो सायक्लोस्टाईल कापी के रूप में छापा था।'

अस्पृश्यता के दाहक अनुभवों से झुलसे दलित जीवन की अभिव्यक्ति इसमें हुई है। उनकी एक कविता यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत है - 'यहाँ (इस देश में) जन्म लेने की भूल जिन्होंने की है वे ही इसे सुधारेंगे देश त्याग करके या भीषण युद्ध करके।'

'बाबूराव बागुल' लिखित 'जेंव्हा मी जात चोरली' (जब मैंने जाति छुपाई) नामक कहानी संग्रह ने मराठी साहित्य की परंपरावादी मानसिकता को झकझोर दिया था। मराठी ललित साहित्य के इतिहास में इससे पहले किसी भी लेखक ने दलितों के जीवन की विवशता तथा अपमान भरे जीवन को कहानी या कविता में इतने प्रभावी रूप में अभिव्यक्त नहीं किया था। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने तथा मराठी के समीक्षकों ने इस कहानी संग्रह की कहानियों काफी सराहना की थी। बाबूराव द्वारा प्रयुक्त इस कथा शैली की प्रस्तुती के लिए मराठी ललित साहित्य के समीक्षा मानदंडों से निर्मित चित्र फलक छोटा पड़ रहा था। उन समीक्षा मानदण्डों से केवल मराठी के परंपरागत ललित साहित्य का ही मूल्यांकन हो सकता था। दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए वे सक्षम नहीं थे। अतः दलित साहित्य की समीक्षा के लिए मराठी समीक्षा को अपने मानदंड बदलने पड़े।

इस समय तक मराठवाडा क्षेत्र का औरंगाबाद शहर दलित साहित्य आंदोलन का केंद्र बन गया। उसके बारे में डॉ. म.ना.वानखड़े ने जो कहा था ''महाराष्ट्र के हृदय औरंगाबाद में डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर ने मिलिंद महाविद्यालय की स्थापना की। यहाँ महाराष्ट्र के कोने-कोने से दलित विद्यार्थी शिक्षाग्रहण करने आने लगे। यही 'नागसेनवन' में स्थित मिलिंद महाविद्यालय और औरंगाबाद, दलित साहित्य आंदोलन का केन्द्र बन गए। यहीं से दलित साहित्य का आंदोलन अपना रूप गढ़ रहा था। शिक्षित सुसंस्कृत दलित युवकों के मन में अपने जीवन के अनुभवों को शब्दांकित करने की इच्छा जाग उठी थी। कहानी, कविताएँ लिखी जा रही थी। परंतु प्रश्न था उनके प्रकाशन का। क्योंकि रचनाकार और उनके विषय तथा आशय दलित जीवन से संबंधित थे। लेखक की रचना को प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त न हुआ तो उसे मर्मान्तक यातनाएँ होती है। परंतु लेखन शक्ति को इस तरह दबाकर नहीं रखा जा सकता। पत्थर को तोड़कर पानी का स्रोत मैदान की ओर बहने के लिए जिस प्रकार व्याकुल रहता है उसी प्रकार की व्याकुलता रचनाकार में भी होती है। 'इस व्यग्रता को देखकर हमने इस आह्वाहन को स्वीकार किया। मैंने अपने सहयोगियों की सहायता से 'दलित साहित्य मंच' की स्थापना का निश्चय किया। मराठी साहित्य क्षेत्र

में विशिष्ट वर्ग का वर्चस्व होने एवं फार्म संबंधी गलत दृष्टिकोण के कारण दलित जीवन इससे पहले कभी भी साहित्यिक विषय नहीं बन सका। हमने सन् 1967 में 'मिलिन्द साहित्य सभा' की स्थापना की। जिसके अंतर्गत अस्मिता पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। मिलिन्द साहित्य सभा, अस्मिता, अस्मितादर्श और दलित साहित्य आंदोलन का जन्म आंबेडकर दर्शन से प्राप्त प्रेरणा से लेखकों में जगे आत्मबोध सामाजिक दायित्व के अहसास के कारण हुआ है।'[27]

हर देश की क्रांति में साहित्य की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। साहित्य जनता को क्रांति के लिए जगाने और उनका मनोबल बढ़ाने की भूमिका निर्वाह कर सकता है। रूस की क्रांति, बंगला देश का मुक्तिसंग्राम इसके उदाहरण है। क्यूबा, चिली जैसे छोटे देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों में भी साहित्य ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में भी भारतीय साहित्य ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई। साहित्य के महत्व को जानकर जवाहरलाल नेहरू ने प्रगतिशील लेखक संघ के इलाहाबाद अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में भावी क्रांति हेतु देश को तैयार करने के लिए लेखकों का आह्वान किया था। समस्याओं को हल करने और लोगों का मार्गदर्शन करने के लिए लेखकों को आगे बढ़ने को कहा था। यह काम साहित्य द्वारा ही हो सकता है। साहित्य लोगों के दिल में उतर कर उन्हें प्रभावित करता है।

मराठी दलित साहित्य इस विषमतापूर्ण समाजव्यवस्था में दलितों को समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय दिलाने के क्रांतिकारी उद्देश्य के साथ रचनात्मकता के नए आयाम खोल रहा है। दलित साहित्य की आवश्यकता और उसकी भूमिका के बारे में दलित लेखकों को संबोधित करते हुए डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर ने कहा था - 'हमारे जीवन, कर्तव्य और संस्कृति की ओर हमे ध्यान देना होगा। अंतमुर्ख होकर विचार करने से हमारे सामने वह भयवह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी कि हमारे जीवन मूल्य और सांस्कृतिक मूल्य नष्ट हो रहे हैं। अतः नष्ट हो रहे जीवनमूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों को बचाने के लिए दलित साहित्यकारों को जागरूकता के साथ ही प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। तुम्हारे उपन्यासों-कथाओं की सीता अब लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी है। दुर्योधन के दरबार में द्रोपदी का वस्त्र हरण हो रहा है। दुष्यन्त शकुंतला को अपना सही परिचय नहीं दे रहा है, इसलिए शकुंतला को बनवास प्राप्त हो रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का मैं आह्वाहन करता हूँ कि वे विभिन्न साहित्यिक विधाओं के द्वारा उदात्त जीवनमूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करें। अपने लक्ष्य को मर्यादा में मत बांधों उसे और अधिक विशाल बनने दो।

वाणी का विस्तार करो, अपनी लेखनी को केवल अपने प्रश्नों तक सीमित मत रखो। उसे तेजस्वी बनाओ जिससे गांवों में फैला अंधकार दूर हो सके। यह मत भूलो कि इस भारत देश में उपेक्षित दलितों का बहुत बड़ा विश्व है। अपनी रचनाओं के द्वारा उनकी वेदना को समझकर उनके जीवन को उज्ज्वल बनाने की कोशिश करो। यही मानवता की सच्चाई है।'[29] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि डॉ. आंबेडकर को साहित्य के क्रांतिकारीता की सही पहचान थी और इसके लिए लेखक वर्ग को क्रांति लाने का संदेश दिया। परिणामस्वरूप 27 नवम्बर सन् 1967 को मिलिन्द साहित्य परिषद की स्थापना की गई जिसके तहत 'अस्मिता' का प्रकाशन हुआ। आगे यही पत्रिका 'अस्मितादर्श' के नाम से प्रकाशित होने लगी। इस पत्रिका के प्रकाशन से दलित लेखकों में नया उत्साह पैदा हुआ। उन्हें अपनी रचनाओं को प्रकाशित कराने के लिए अपना साहत्यिक मंच मिला था।

दलित साहित्य आंदोलन को निश्चित दिशा देने और उसका विकास करने में त्रैमासिक पत्रिका 'अस्मितादर्श' का बहुत बड़ा योगदान रहा है। बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगळे, वामन निंबाळकर, नामदेव ढसाळ, केशव मेश्राम, वामन इंगळे, ज.वि. पवार यशवंत मनोहर, शंकरराव खरात आदि दलित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करके 'अस्मितादर्श' पत्रिका साहित्यिक दायित्व के साथ-साथ सामाजिक दायित्व को आजतक निभा रही है।

दलित साहित्य के विकास में मार्क्सवादी लेखक और समीक्षकों का भी योगदान रहा है। इनमें मुख्य हैं शरच्चंद्र मुक्तिबोध, श्री नेरूरकर, डॉ. सदा करहाडे, नारायण सुर्वे, वामन इंगळे। दलित साहित्य आंदोलन के प्रमुख केन्द्र नागपुर, बम्बई, औरंगाबाद और नासिक थे। इन सभी दलित लेखकों एवं कवियों को बम्बई में सन् 67 में एकत्रित करने का काम महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा ने किया। इसके द्वारा आयोजित सम्मेलन में दलित साहित्य लेखन से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार विनिमय किया गया। इसी सम्मेलन में दलित कविताओं के प्रथम संकलन 'आकार' का प्रकाशन हुआ जिसमें बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगळे, यादवराव गांगुर्डे, हरीश बुकाणे, चोखा कांबळे, बंधुमाधव, श्रीमती हीरा बनसोड की कविताएं थी। सन् 1967 में बाबूराव बागुल का कहानी संकलन 'मरण स्वस्त होत आहे' (मृत्यु सस्ती हो रही है) प्रकाशित हुआ। यह दलित साहित्य का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसके बारे में अर्जुन डांगळे ने कहा है: 'बाबूराव की कहानियों के संबंध में भाष्य करना बड़ा कठिन है। उनकी भाषा की दाहकता और दिल हिला देने वाला अनुभव-विश्व आज तक की

कहानी परंपरा को तोड़ कर आगे निकल जाता है। पारंपरागत कला मूल्यों के कैनवास पर उसे उतारना कठिन है। इससे दलित साहित्य की समीक्षा के लिए नये समीक्षा मूल्यों की आवश्यकता है यह बात स्पष्ट हो जाती है।'[30]

मराठी दलित साहित्य के अंतर्गत जिस अनुभव संसार का निर्माण हुआ, उसका प्रगतिशील मराठी समीक्षकों ने स्वागत किया। परंतु मराठी समीक्षकों में एक ऐसा वर्ग भी था जिसने इस साहित्य का विरोध किया। कलावादी समीक्षकों के लिए इस अनोखे अनुभवविश्व और उसकी अभिव्यंजना को समझना कठिन था। दलित साहित्य उन्हें मूल्यहीन और प्रचारात्मक लगने लगा क्योंकि उनकी दृष्टि पूर्वाग्रह दूषित थी। किंतु रा.ग.जाधव, दि.के.बेडेकर, वा.ल.कुलकर्णी, शरच्चंद मुक्तिबोध आदि प्रगतिशील समीक्षकों ने दलित साहित्य का खुले दिल से स्वागत किया। सन् 1968 के बाद दलित लेखकों में से ही कुछ लेखकों ने साहित्य की सही और प्रामाणिक आलोचना करने का प्रयास किया। इन समीक्षकों की आलोचना से दलित साहित्य आंदोलन को नई दिशाओं का ज्ञान हुआ और उसने अपने दायरे को और विस्तारित किया।

इसी समय बंबई में दलित लेखक, कवियों के संयुक्त प्रयत्नों द्वारा 'विद्रोह' नामक अनियतकालीन पत्रिका का जन्म हुआ, जिसमें दया पवार, केशव मेश्राम, अर्जुन डांगळे, नामदेव ढसाळ, उमाकांत रणधीर, ज.वि.पवार, योगेन्द्र मेश्राम, योगीराज वाघमारे, अविनाश डोळस आदि कवि लेखकों ने अपनी विद्रोहात्मक कविताओं और कहानियों के द्वारा दलित जीवन के यथार्थ को वाणी दी। औरंगाबाद के दैनिक समाचार पत्र 'मराठवाडा' ने सन् 1969 में दिपावली विशेषांक के लिए दलित साहित्य पर परिचर्चा आयोजित की थी, जिसमें डॉ. म.ना.वानखडे, दया पवार, बाबूराव बागुल, प्रा.म.मि.चिटणीस आदि दलित रचनाकारों और समीक्षकों ने हिस्सा लिया था। इन सभी लेखकों ने एक स्वर में - मराठी साहित्य परंपराओं को अस्वीकारा। इस चर्चा का परिणाम यह हुआ कि मराठी साहित्य क्षेत्र में दलित साहित्य की तीखी और प्रभावी भूमिका के बारे में चर्चा प्रारंभ हुई। 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा' के तत्वावधान में दलित साहित्य का दूसरा सम्मेलन फरवरी सन् 1969 में 'महाड' जैसे ऐतिहासिक स्थान पर हुआ। इसी जगह से डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने चवदार जलाशय के पानी का स्पर्श करके दलितों के अधिकारों की माँग के लिए दलित मुक्ति आंदोलन का प्रारंभ किया था। इस सम्मेलन के उद्घाटक प्रसिद्ध समीक्षक प्रा. वा.ल.कुलकर्णी थे जिन्होंने अपने भाषण में कहा था - 'परंपरागत मराठी साहित्य के विरुद्ध दलित साहित्यकारों को संघर्ष करना चाहिए।'

दलित साहित्य सम्मेलनों के यशस्वी होने से और नए परिवर्तनशील विचारों के प्रसार से दलित लेखक कवियों का उत्साह बढ़ता गया और उनकी संवेदनापूर्ण और अर्थपूर्ण रचनाए मराठी साहित्य क्षेत्र में अपना अनोखा स्थान बना रही थी। सन् 1970 में बाबूराव बागुल की 'सूड' (बदला) नाम की दीर्घ कहानी प्रसिद्ध हुई। सन् 1972 में नामदेव ढसाळ का गोलपिठा 'कविता संकलन' प्रकाशित हुआ जिसकी भाषा और शैली को लेकर मराठी साहित्यकारों में काफी चर्चा रही।

'वामन निंबाळकर कृत 'गांवकुसाबाहेरील कविता' नामक संकलन 'दया पवार' का 'कोंडवाडा (बंदीगृह) नामक कविता संकलन इस दौर के महत्वपूर्ण कविता संकलन थे। केशव मेश्राम की दीर्घ कहानियों का संकलन 'हकीकत आणि जटायु' (हकीगत और जटायु) प्र.ई. सोनकांबळे कृत 'आठवणीचे पक्षी', (यादों के पंछी) आदि महत्वपूर्ण कहानी संकलन और आत्मचरित्र प्रकाशित हुए।

मराठी साहित्य समीक्षकों को दलित साहित्य की मूल प्रकृति को समझने में देर लगी। जिन्हें दलितों के संघर्षमय और अपमानित जीवन की कल्पना भी नहीं थी उनके लिए इस साहित्य का सही मूल्यांकन करना कठिन था। अर्जुन डांगळे के अनुसार 'अगर किसी कलाकृति की मूल प्रवृत्ति को ही कोई न समझ सके, तो उस कलाकृति की लय, उसके अनुभवों की प्रकृति, संरचना और अनुभवों की गहनता आदि को समझना संभव नहीं है।'[31] समीक्षक अगर दलित समाज की जीवनपद्धति से परिचित नहीं है और उनके अनुभवों की गहराई को नाप नहीं सकते तो वे दलित साहित्य की समीक्षा प्रामाणिक रूप से अथवा निष्पक्ष होकर नहीं कर सकते। इसके लिए उन्हें दलित जीवन के अनुभवों से गुजरने की आवश्यकता नहीं है, अपितु भारतीय समाज-व्यवस्था, जातिव्यवस्था, ऊंचनीच का भेदभाव, गांवों की आर्थिक, सामाजिक दशा, भारतीय मानसिकता, संस्कृति आदि की वास्तविकता को समझना और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करने की नितांत आवश्यकता है। दलित साहित्य आंदोलन और दलित मुक्ति आंदोलन एक दूसरे से जुड़े हुए आंदोलन हैं। दलित मुक्ति आंदोलन जो सामाजिक स्तर पर सक्रिय था उससे प्रेरणा लेकर दलित साहित्य आंदोलन साहित्यिक क्षेत्र में नई चेतना का विस्तार कर रहा था। इसी चेतना की अगली कड़ी थी 'दलित पैंथर आंदोलन'।

दलित साहित्य आंदोलन में 'दलित पैंथर की भूमिका'

'दलित पैंथर' सगठन दलित मुक्ति संग्राम का एक जुझारू दस्ता था, जिसकी प्रमुख

भूमिका राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में देखी जा सकती है। इस संगठन से अनेक दलित लेखक भी जुड़े हुए हैं। इसका उदय अत्यंत विषमतापूर्ण सामाजिक-आर्थिक एवं राज़नीतिक परिस्थितियों में हुआ। गाँवों में अमीर किसानों और शासन व्यवस्था ने दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला शुरू कर रखा था। दलित कभी अस्पृश्य होने के नाते तो कभी भूमिहीन किसान के नाते विभिन्न अत्याचारों का शिकार हो.रहे थे। शहरों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बेरोजगार युवावर्ग साधन-हीनता के कारण हीन भावना से ग्रस्त था। दिशाहीन युवक वर्ग भटकाव की स्थिति में पहुँच गया था। गाँवों और शहरों में शिक्षित दलित युवकों की संख्या बढ़ रही थी। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ एक तरफ सक्रिय वामपंथीय आंदोलन से परिचित होने से इन युवकों में तत्कालीन समाज व्यवस्था को समझने और उसे बदलने के प्रति चेतना का विकास हुआ। तो दूसरी ओर बढ़ते हुए सामाजिक अन्याय, अत्याचारों की पृष्ठभूमि में रिपब्लिकन पार्टी की निष्क्रियता युवा मन को क्षुब्ध कर रही थी। दलित युवक यह समझने लगे थे कि इस बढ़ते हुए अन्याय के खिलाफ केवल कविता, लेख कहानियाँ लिखने से कुछ नहीं होगा। उन्हें साहित्यिक आंदोलन के साथ सामाजिक आंदोलन की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इसी समय मुंबई के सिद्धार्थ कालेज के छात्रावासों में रहने वाले दलित और अदलित युवकों के संयुक्त प्रयास से 'युवक आघाड़ी' की स्थापना हुई जिसमें प्रमुख दलित युवा रचनाकार भी शामिल थे। दया पवार, अर्जुन डांगळे, नामदेव ढसाळ, ज.वि.पवार, प्रह्लाद चेंदवणकर, राजा ढाले आदि दलित युवा रचनाकार अमरीका के निग्रो साहित्य और निग्रो क्रांतिकारी (मुक्ति) आंदोलन से भी परिचित हो गए थे। इसी आंदोलन से (जो अमरीका में ब्लैक पैन्थर नाम से जाना जाता था) प्रेरणा लेकर इन युवकों ने 9 जुलाई सन् 1972 को दलित पैंथर की स्थापना की। 'दलित पैंथर' ने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के निषेध में उस वर्ष के स्वतंत्रता दिवस को 'काले दिन' के रूप में मनाया और काले झंडों के साथ दलित पैंथर के कार्यकर्ताओं ने शहर में मोर्चा निकाला। 'दलित पैंथर' और दलित साहित्य का संबंध बहुत गहरा है। प्रो. मोईन शाकीर के अनुसार : "It should be noted here that the connection between the Dalit literature and the movement of the Dalit Panthers runs very deep. As a matter of fact the movement is the political expression of the protest and the spirit of the rebellion is consciously developed through the medium fo literature."[32] मोईन शाकीर के कथनानुसार और अन्य तथ्यों को देखते हुए यह कहना तर्कसंगत होगा कि दलित साहित्य आंदोलन की प्रेरणा से ही 'दलित पैंथर' की उत्पत्ति हुई है।

मराठी साहित्य के इतिहास में यह दूसरा प्रसंग है जब साहित्य ने आंदोलन का रूप लिया। प्रथम प्रसंग भक्ति साहित्य आंदोलन का था और दूसरा प्रसंग दलित साहित्य आंदोलन का है। पर यह किसी राजनीतिक आंदोलन की तरह का आंदोलन नहीं है कि जिसमें तत्कालीन राजनीतिक प्रश्नों पर दृष्टि केंद्रित रहती है। किसी साहित्यिक आंदोलन के पीछे कोई राजनीतिक या सामाजिक आंदोलन हो सकता है, पर उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा सर्जनात्मक कर्म और मूल्य-चिन्तन से मिलती है। दलित साहित्य आंदोलन की पृष्ठभूमि में 'दलित मुक्ति संग्राम' अवश्य है, पर वह किसी राजनीतिक दल का साहित्यिक मोर्चा नहीं है। 'दलित साहित्य' शब्दावली का जो विशेष अर्थ है उसी में इस साहित्य की अर्थवत्ता निहित है। दलित साहित्य के नामकरण पर विचार करने से पहले 'दलित' शब्द पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

विभिन्न विचारकों ने दलित शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। डॉ. आंबेडकर ने दलित शब्द को अस्पृश्य के स्थान पर अपनाया। अस्पृश्य शब्द की जो व्याख्या उन्होंने 'The Untouchable'[33] नामक अपने अंग्रेजी ग्रंथ में दी उससे यही पता चलता है। डॉ. आंबेडकर ने गिरिजन, विमुक्त जातियों, अपराधी घोषित की हुई जातियों ex-criminel tribes (denotifide) और अछूत इन तीनों समुदायों को अस्पृश्य (दलित) कहा है। 'उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार दलित शब्द में शोषित, पीड़ित और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल वर्गों का समावेश हो जाता है। इन सभी जातियों की गुलामी और शोषण का स्वरूप सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक ही है, इसलिए दलित शब्द का प्रयोग उन सभी उपेक्षित जातियों, जन जातियों के लिए किया गया है।'

डॉ. आंबेडकर ने 'What congress and Gandhiji have done to the Untocucables' नामक ग्रंथ में 'अस्पृश्य' शब्द के लिए जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, उससे अस्पृश्यता शब्द का बोध होता है। उन्होंने अस्पृश्य (Untouchables) के लिए 'Depressed classes, Scheduled caste, Servide castes इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसके कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं ''इस पुस्तक में मैने अस्पृश्य वर्ग के लिए डिप्रेस्डक्लासेस, शैड्यूल्ड कास्ट्स, और गुलाम वर्ग शब्दों का प्रयोग किया है जिसके कारण ही अस्पृश्य वर्ग के लिए समय-समय पर अधिकृत और अनधिकृत तौर पर इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया' द्वारा शैड्यूल्ड कास्ट का प्रयोग होता है। सन् 1936 के बाद इस शब्द का प्रयोग होता रहा, इससे पूर्व गांधी जी द्वारा हरिजन और सरकार की ओर से डिप्रेस्ड

क्लासेस कहा जाता था। अतः ये सारे शब्द प्रयोग समानार्थी ही है और अस्पृश्य वर्ग के लिए ही प्रयुक्त भी किए गए हैं।'[35]

डॉ. आंबेडकर की उक्त परिभाषा के अनुसार दलित शब्द अस्पृश्य का पर्यायवाची है और इन सभी दलित जातियों, जनजातियों के प्रति दलित साहित्य प्रतिबद्ध है। सन् 1956 में बाबासाहेब के नेतृत्व में धर्मान्तर आंदोलन में लाखों की संख्या में शामिल होकर दलितों ने हिन्दू धर्म का त्याग कर बुद्ध धर्म स्वीकार किया। डॉ. आंबेडकर द्वारा दी गई व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि 'दलित' और 'दलित साहित्य' सर्व समावेशक शब्द है जिनमें अनेक दलित जातियाँ-जनजातियाँ अन्तर्भूत हैं।'[36]

'दलित' शब्द की परिभाषा कुछ विचारकों ने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को महत्वपूर्ण मानकर की है। इन आधारों पर तीन भिन्न विचारधाराएँ सामने आती हैं। इनमें सामाजिक परिस्थिति के साथ आर्थिक आधार को महत्वपूर्ण मानने वाले विचारकों का एक दल है। जिनमें - डॉ. म.ना.मानखड़े, बाबुराव बागुल, नामदेव ढसाळ, डॉ. सदाकराडे, राव साहेब कसबे, शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, प्र. श्री नेरुरकर आदि प्रमुख हैं। अतः 'दलित' शब्द का अर्थ बुद्ध धर्मीय अथवा पिछड़े वर्ग तक ही सीमित नहीं है। जो पीड़ित, शोषित हैं ऐसे सभी लोग दलित वर्ग में शामिल हैं।

बाबूराव बागुल के अनुसार 'दलित' वह है जो वर्णव्यवस्था और उसकी मानसिकता को ध्वस्त कर देना चाहता है। दलित इस विश्व और जीवन को नए रूप में ढालना चाहता है जिसके हाथों को इस युग ने प्रज्ञावंत प्रलयंकारी बनाने के लिए, शस्त्रों तथा शास्त्रों को उपलब्ध कर दिया है।'[37] इस व्याख्या के अंतर्गत अमरीकन गोरे और ताम्र वर्ण के लोग और अफ्रीकी तथा एशियाई देशों के काले, गोरे और पीले भी समाविष्ट हैं।

नामदेव ढसाळ के शब्दों में: 'अनुसूचित जातियाँ, बौद्ध, श्रमिक, मजदूर, भूमिहीन किसान, गरीब किसान और खानाबदोश जातियाँ, आदिवासी आदि सभी 'दलित' हैं।'[38]

सदा कराड़े के शब्दों में 'आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े हुए वर्ग को मिलाकर एक सर्व समावेशक दलित वर्ग माना जाना चाहिए जिसमें मजदूर, किसान मजदूर, श्रमिक और अस्पृश्य जिनका शोषण होता है वे शामिल हैं।'[39] इन व्याख्याओं के

आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त लेखक दलित शब्द के अंतर्गत सामाजिक और आर्थिक रूप से शोषित सभी का समावेश करके इस शब्द को एक व्यापक रूप देना चाहते हैं। लेकिन इस प्रयास में वे 'दलित' की मूल व्याख्या और उसकी अर्थवत्ता का अतिक्रमण करके अस्पृश्यता के मूलभूत सामाजिक प्रश्न से अलग हट जाते हैं। इन वक्तव्यों पर टिप्पणी करते हुए म.भी.चिटणीस कहते हैं कि 'दलित साहित्य आंदोलन को शोषितों के साहित्यिक आंदोलन से संबोधित करना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक रूप से शोषित ब्राह्मण वर्ग का दलितों में समावेश करना पड़ेगा। मेरे विचार में जाति और वर्ग के रूप में दलित शब्द की व्याख्या करनी चाहिए। केवल आर्थिक शोषण के आधार पर इस शब्द की व्याख्या एकतरफा होगी। दलित वर्ग भारत देश का पुरातन, मूक और अस्पृश्य वर्ग था जिसका अनुभव आज शब्द रूप लेकर साकार हो रहा है। अतः इस ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखते हुए 'दलित' शब्द की व्याख्या करनी चाहिए।'[40] मात्र आर्थिक दृष्टिकोण से दलित साहित्य की व्याख्या करने वाले समीक्षकों पर वर्गवादी (मार्क्सवादी) होने का आरोप लगाया गया है। इस तरह की दृष्टि रखने वाले, दलित वर्ग के मूल सामाजिक प्रश्नों पर विचार नहीं करते। यह भी सवाल उठाया जाता है कि 'भारतीय समाज की जाति व्यवस्था को नष्ट करने के प्रयास किए बिना पाश्चात्य देशों की वर्ग पद्धति यहाँ पर कैसे लागू की जा सकती है। क्योंकि वर्गवादी व्यवस्था के लागू होने पर भी यहाँ की जाति-व्यवस्था नष्ट नहीं हो सकती, सदियों पुरानी इस जातिगत विषमताकी जड़े बहुत गहरी गड़ चुकी है। भारतीय मानसिकता पर इसका प्रभाव आजतक भी वैसा ही है जैसा वह हजार वर्ष पूर्व रहा है। दलित साहित्य आंदोलन दलित मुक्ति आंदोलन के अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन का साहित्यिक रूप है। अतः इसे केवल आर्थिक विषमता मिटाने वाला आंदोलन नहीं कहा जा सकता। वह सामाजिक तथा आर्थिक विषमता मिटाने के लिए भी प्रतिबद्ध है।

दलित साहित्य का स्वरूप :

'सामाजिक समानता की मांग को लेकर दलित मुक्ति आंदोलन और दलित साहित्य आंदोलन साथ-साथ सक्रिय रहे हैं। सामाजिक समता, बंधुत्व और स्वतंत्रता की स्थापना के लिए दलित साहित्य आंदोलन को एक महत्वपूर्ण आधार मानने वाले विचारकों में प्राचार्य चिटणीस राजा ढाले, केशव मेश्राम, गंगाधर पानतावणे, प्रा.रा.भि.जोशी आदि प्रमुख हैं।'

रा.भि.जोशी के अनुसार 'दलित शब्द अधिक व्यापक है, परंतु सभी दलित अस्पृश्य नहीं है। कुछ जातियां आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से दलित हो सकती हैं परंतु उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता है। दलिततत्व से अस्पृश्यता ज्यादा भयंकर और अमानुष है। इस अमानुषिकता के शिकार जो रहे हैं वे आज भी हैं। अस्पृश्य शब्द का प्रयोग मैं परंपरा के अनुसार कथित निम्न जाति में जन्म के कारण अस्पृश्य समझे गए, इस अर्थ में उन्हीं जातियों के संबंध में कर रहा हूँ।'[43]

डॉ. माण्डे के अनुसार 'ऐसे व्यक्तियों के समूह को दलित कहा जाना चाहिए जिनका मनुष्य के रूप में जीने का अधिकार छीन लिया गया है और जिन्हें जन्म से ही विशिष्ट प्रकार से जीवन जीने पर मजबूर किया जाता है। मनुष्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा को नकारा गया है और जिन्हें सम्मान की जिन्दगी जीने से वंचित रखा गया है, वे दलित हैं।'[44] वे आगे कहते हैं : 'दलित साहित्य इन समूहों के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। यह साहित्य इस अर्थ में एक विशिष्ट समूह का साहित्य है।'[45]

डॉ. पानतावणे ने दलित साहित्यकी परिभाषा इस प्रकार की है 'दलित साहित्य आंदोलन दलित मुक्ति संग्राम का एक अंग है। अस्मिता की खोज का एक प्रभावी प्रयत्न है। मराठी वाङमय में दलितों का इसके पहले कोई चित्र नहीं खींचा गया था। इस जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न ही दलित साहित्य है।'[46] तकतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी दलित साहित्य की ओर जीवन के सभी अंगों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने वाले साहित्य के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं 'दलितों द्वारा निर्मित साहित्य में अभिव्यक्त अंतर्मन को पढ़कर उससे निर्मित प्रेरणा की जाँच करनी चाहिए। दलित अस्पृश्यता की वेदना, पीड़ा, शोषण को झेलते हुए, विपन्नावस्था, आत्मवंचना, आत्मक्लेष इसके साथ ही दरिद्री अवस्था में रहने पर भी वीरता सामर्थ्य और इन्सानियत जैसे जीवन के मुलभूत मूल्यों को संजोये रखने की क्षमता को कलात्मक शैली में व्यक्त करने वाला साहित्य दलित साहित्य है।'[47]

प्रा.म.मि.चिटणीस ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'धर्म और सामाजिक रूढ़ियों ने जिन्हें आज तक बहिष्कृत माना है, उन्हीं लेखकों के साहित्य को ही दलित साहित्य मानना चाहिए। क्योंकि उनका अपना स्वतंत्र अनुभव विश्व है।'[48]

समीक्षकों ने दलित साहित्य की परिभाषा सामाजिक अनुभूति से निर्मित दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण मानते हुए की है। सामाजिक पहलू आर्थिक पहलू से अधिक महत्वपूर्ण

है और अस्पृश्यता का प्रश्न सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। भारत की उन्हीं जातियों का समावेश अस्पृश्यों में किया होने के कारण अछूत मानी गई है। जो धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के कारण अछूत मानी गई हैं न कि जो केवल आर्थिक रूप से पीड़ित हैं। अतः दलित का अर्थ अस्पृश्य, अछूत ही हो सकता है। जिन गैरदलित साहित्यकारों, समीक्षकों ने दलित साहित्य के मूल सूत्र को पकड़कर उसे परिभाषित किया है। उनमें शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, वा.ल.कुलकर्णी, गं.बा.सरदार, कमलेश्वर, आ.रा.देशपांडे (कवि अनिल) आदि उल्लेखनीय हैं।

शरच्चंद्र मुक्ति बोध ने दलित साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की-

'दलित संबंधि जीवन दृष्टि से निर्मित साहित्य दलित साहित्य है। इस जीवन दृष्टि की मूल प्रेरणा है मनुष्य की स्वतंत्रता। वर्णव्यवस्था की इस सीमित चौखट में दलित जीवन की अवहेलना होती रही है। इस अपमानजनक स्थिति के विरुद्ध दलित साहित्य एक विद्रोही स्वरूप में आया है।'[49]

हिंदी के प्रतिष्ठित लेखक कमलेश्वर के अनुसार

'जातीय स्वाभिमान के झूठे आडंबर का परदाफाश करते हुए इस साहित्य ने भारत के दलित और वंचित मनुष्य को सम्मान दिया है। भारत की अपमानित और वंचित मनुष्यता की अस्मिता की आवाज ही दलित साहित्य है।'[52]

कुछ विद्वानों का कहना है कि विशिष्ट जाति या समूह को ही दलित साहित्य के लेखन का अधिकार नहीं होना चाहिए। गैरदलित लेखकों द्वारा लिखित दलित जीवन के प्रति संवेदनशील साहित्य को भी दलित साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया जाना चाहिए। मराठी ललित साहित्य के एक लेखक वि.द.घाटे के अनुसार -

'दलित साहित्य के लेखक होने का अधिकार विशिष्ट वर्ग का ही नहीं है, अन्य लेखकों को भी यह अधिकार है। जिनमें दलित जीवन को समझने की दृष्टि है और जिन्होंने अदलित दलितों के दुख और समस्याओं को समझा है, उन सभी को दलित जीवन के बारे में लिखने का अधिकार है।'[53]

इन सभी समीक्षकों से अलग विचार गं. बा. सरदार का है। वे कहते हैं कि -

'गाँव की सीमा से बाहर जो पीढ़ियों से अस्पृश्य के रूप में जन्मते रहे मरते रहे, उनके दुखों की वेदना बहुत तीव्र है। प्राचीन काल से ही उनके मनुष्य होने का अधिकार छीन

लिया गया था। उनका मुंह हमेशा के लिए बंद कर दिया गया था। इसलिए सवर्ण समाज का लेखक कितना ही संवेदनशील और प्रतिभाशाली क्यों न हो, उसकी कल्पना और सहानुभूति प्रत्यक्ष दलितों की संवेदना नहीं बन सकती।'[54]

दलित साहित्य की उक्त परिभाषाओं से प्रकट होता है कि कुछ आलोचक दलित साहित्य को आर्थिक दृष्टि से दलित शोषित समाज का दर्पण मानते हैं और कुछ उसे अस्पृश्य माने गए मानव समूह की दुखद गाथा समझते हैं। परंतु आर्थिक स्थिति और अस्पृश्यता दोनों ही स्थितियों पर विचार करना तर्क संगत होगा। यह सही है कि हिंदू समाज का कलंक अस्पृश्यता एक ऐसी समस्या है जो सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों से जुड़ी हुई हैं। इसलिए इस समस्या को केवल एक तरफा न तो समझा जा सकता है और न उसे विश्लेषित किया जा सकता है। पर इस तथ्य से भी आंखें नहीं चुराई जा सकती कि दलित लेखकों को सबसे अधिक कचोटने वाला अनुभव अस्पृश्यता का अनुभव है, जो अधिक तीव्र है, जिसे कदाचित वे लेखक अनुभव नहीं कर सकते जो स्पृश्य है। दलित जीवन के विविध अंगों को उसके सही रूप में पेश करने का रचनात्मक कार्य दलितों ने अपनी कृतियों के माध्यम से किया है। भारतीय समाज की जाति व्यवस्था 'अस्पृश्यता' के भीषण स्वरूप और यहाँ की शोषण व्यवस्था की पहचान और उसके विरोध की कठोर प्रतिक्रिया दलित साहित्य है। अनुभव की प्रामाणिकता और सच्चाई दलित साहित्य का केंद्र बिंदु है। यह बात अधिक तथ्यात्मक है कि अस्पृश्य माने जाने के कारण मिले अपमानित जीवन के अनुभवों को एक दलित जाति में जन्मा लेखक जिस सच्चाई से पेश कर सकता है और यह जीवन जिस समाज व्यवस्था ने उनपर थोपा है उस व्यवस्था के प्रति उसके मन में जो आक्रोश, और वेदना, घृणा पैदा होगी वह अदलित लेखकों में नहीं पाई जाती है। उनके द्वारा अभिव्यक्त संवेदना का स्तर उतना गहरा नही हो सकता जितना कि दलित लेखकों की अभिव्यक्ति का। अर्थात् अनुभव और संवेदना दोनों ही दलित साहित्य के महत्वपूर्ण आधारभूत सैद्धान्तिक और रचनात्मक मूल्य है।

दलित साहित्य किसी भी नये पुराने धार्मिक संप्रदाय के सांचे में सीमित होने का विरोध करता है। अमेरिका और एशिया के पीड़ित निग्रो से वह अपना नाता जोड़ सकता है। साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय हो सकता है। मराठी साहित्य के कलावाद और सौंदर्यवाद को नकारने वाला दलित साहित्य अपने स्वतंत्र सौंदर्य शास्त्र का निर्माण कर रहा है। 'दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र को गो.पु.देशपाण्डे ने 'विद्रोह का सौंदर्यशास्त्र' कहा है।'[55] अगर देखा जाए तो दलित

साहित्य भारतीय साहित्य की एक नयी और विशिष्ट निधि है। वह साहित्य का नया प्रगतिशील इतिहास निर्मित करने में सक्षम है।

संदर्भ

1. कमलेश्वर-अध्यक्षीय भाषण-तीसरा दलित साहित्य सम्मेलन जनवरी 1969 औरंगाबाद स्मरणिका, पृ.-1
2. डॉ. प्रभाकर मांडे-दलित साहित्याचे निराळेपण, पृ. 64
3. अर्जुन डांगळे : दलित साहित्य एक अभ्यास, पृ. 3
4. डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर- नागपुर में हुए ऐतिहासिक धर्मान्तर के बाद का भाषण (पुस्तिका) 14-10-1946
5. भालचन्द्र फड़के : दलित साहित्य : वेदना व विद्रोह, पृ. 70
6. बाबूराव बागुल लिखित 'सूड' दीर्घ कहानी की प्रस्तावना
7. डॉ म.ना. वानखडे पृ. 7
8. जॉ-पॉल-सार्त्र-ह्वाट इंज लिटरेचर, पृ. 233
9. लीळाचरित्र - प. 248 (पूर्वार्द्ध)
10. लीळाचरित्र - 'विचारबंध' पृ. 181
11. अनुवाद - हे ईश्वर तुने मुझे और मेरी जाति को हीन बनाया है तब तेरी सेवा मैं कैसेकरूं? मुझे सब दूर दूर रहने को कहते हैं। ऐसे में मैं तुझे कैसे मिलूंगा। मेरा स्पर्श होते ही कथित सवर्ण स्नान करते हैं। हे मेरे गोविन्द, मैं दया की भीख मांगता हूँ।
12. अनुवाद - शुद्ध चोखामेळा। करे नाम घोष याती हीन मैं महार, पूर्वजन्म में निल का अवतार कृष्ण निंदा के कारण महार बनकर जनम लिया चोखा कहे बहिष्कार हमें पूर्वजन्म का फल।
13. अनुवाद - हमारी हैं हीन जाति। तूं क्यों न समझता श्रीपती, जनम गवायां जूठन खाते। क्यों लाज तुम्हें आती नहीं, हमारे घर दही भात खाकर कहते हो नहीं, कर्ममेळा कहे चोखा से इस जाति में तुमने किस लिए मुझे जन्म दिया।
    1 : 2 श्री स.भा. कदम द्वारा संपादित 'चोखामेळा महाराज की अभंगगाथा' से उधृत।

14. अनुवाद - भालचन्द्र फडके : दलित साहत्य 'वेदना आणि विद्रोह' (मूल मराठी में) पृ. 34
15. अनुवाद - शुद्र वंश में जन्म लिया। इसलिए दंभ से मुक्त हूँ शब्दोच्चार करने का मुझे नहीं अधिकार सभी तरह से दीन। तुका कहे यातिहीन :- संत तुकाराम - अभंगवाणी
16. बालशास्त्री जांभेकर - द्वारा संपादित पत्रिका - प्रभाकर, सन् 16 मार्च 1862
17. भालचन्द्र फड़के : दलित साहित्य : वेदना व विद्रोह, पृ. 89 से उद्धृत, 1977
18. भालचन्द्र फड़के : दलित साहित्य : वेदना व विद्रोह, पृ. 89 से उद्धृत, 1977
19. लक्ष्मणशास्त्री जोशी - महात्मा फुले, समग्र ग्रंथ प्रस्तवाना - पृ.-1 प्रथम संस्करण
20. भालचन्द्र फड़के : दलित साहित्य : वेदना प्राणि विद्रोह - (मूल मराठी), पृ. 14
21. गांधी जी और उनका वाद ई.एम.एस. नम्बूद्रिपाद, पृ. 54
22. प्रबुद्ध भारत - 15 फरवरी, 1958
23. प्रबुद्ध भारत - संपादकीय लेख - फरवरी 1958
24. प्रबुद्ध भारत - संपादकीय लेख - फरवरी 1958
25. अर्जुन डांगळे - दलित साहित्य एक अभ्यास - प्रस्तावना, पृ. 9 (भूमिका भाग)
26. अर्जुन डांगळे - दलित साहित्य एक अभ्यास - प्रस्तावना, पृ. 11 (मराठी में)
27. भालचंद्र फड़के - दलित साहित्य, वेदना व विद्रोह, पृ. 18
28. अर्जुन डांगळे - दलित साहित्य : एक अध्ययन, पृ. 204
29. दलित साहित्य सम्मेलन पत्रिका : 17 जनवरी सन् 1976
30. अर्जुन डांगळे - दलित साहित्य पुरवणी-महाराष्ट्र टाइम्स-17 अक्तू. 1972
31. अर्जुन डांगळे - प्रस्ता. दलित साहित्य एक अभ्यास, पृ. 21
32. मोईन शाकिर : परिवर्तन, अंक 2, 1974, प्रकाशन, मराठवाडा विद्यापीठ
33. भालचन्द्र फडके 'दलित साहित्य वेदना आणि विद्रोह' पृ. 112
34. What else can be said of a civilization, which has produced a mass of people who are taught to accept crime as on approved means of earning their livelihood, another mass of people who are left to line in full bloom of their primitive barbarian in the midst of civilization and a third mass of people who are treated as an entity beyond human intercourse and whose mere touch is enough to cause pollution? The Hindu civilization ganges in the light of these.

"Untouchable" who have they and how Dr. B.R.Ambedkar they become untouchable - Bhim Patrika Pub. Jallandhar, 1948.
35. Dr. B.R.Ambedkar- what Congress and Gandhiji have done to the Untouchables, page-10, 1945, Ist Edition.
36. डॉ. म.ना.वानखडे - दलित साहित्य सम्मेलन (मूल मराठी में) 1976 नागपुर स्मरणिका, पृ. 27
37. बाबूराव बागुल - 'अस्मितादर्श' मार्च 1969, पृ. 83
38. नामदेव ढसाळ 'आम्ही' दिपावली अंक - 1973, पृ. 77
39. सदा कराड़े-दलित साहित्याच्या निमित्ताने - 'मासिक सत्यकथा', जुलाई 1970
40. प्रा.म.मि.चिटणीस - 'अस्मितादर्श' लेखक मेला औरंगाबाद - पृ. 1974
41. केशव मेश्राम - अस्मितादर्श, 1975
42. राजा ढाले - 'अस्मितादर्श' दिपावली अंक 1976, पृ. 14
43. रा.मी.जोशी - मराठी साहित्य परंपरा और दलित वर्ग के लेखक 'अस्मितादर्श' - दिपावली अंक 1970
44. डॉ. मांडे दलित साहित्याचे - निराळेपण, पृ. 25
45. डॉ. मांडे दलित साहित्याचे - निराळेपण, पृ. 25
46. डॉ. पानतावणे - मागोवा दिवाली अंक - 1973 पृ. 86
47. लक्ष्मण शास्त्री जोशी - अस्मितादर्श दिपावली अंक - 1973, पृ. 74
48. म.मि.चिटणीस - 'अस्मितादर्श' - 2 जनवरी, 1974
49. शरच्चन्द्र मुक्तिबोध - निकाय दिपावली अंक - पृ. 52 - 197
50. पु.ल. देशपांडे - दलित साहित्य सम्मेलन स्मरणिका - 197, नागपुर, पृ. 20
51. गो.पु.देशपाण्डे - सत्यकथा - मार्च 1973, पृ. 9
52. कमलेश्वर - तीसरे दलित सम्मेलन स्मरणिका - जनवरी 1979
53. वि.द.घाटे - मराठी साहित्य परिषद - महाबलेश्वर दलित साहित्य परिसंवाद
54. गं.बा. सरदार - मराठी साहित्य सम्मेलन - अधिवेशन 29वां अध्यक्षीय भाषण 25 अक्तूबर - 1975
55. गो.पु.देशपाण्डे - 'तात्पर्य' - फरवरी 1982, पृ. 111